ध्यान-सम्प्रदाय

लेखक

डॉ० भरतसिंह उपाध्याय

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक :

नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
२६ ए, चन्द्रलोक, जवाहरनगर, दिल्ली
विक्री केन्द्र : नई सडक, दिल्ली

प्रथम संस्करण
मूल्य : [illegible]

मुद्रक :

शोभा प्रिंटर्स
मॉडल बस्ती, नई दिल्ली-५

ध्यान-सम्प्रदाय के संस्थापक



वोधिधर्म

जापानी चित्रकार सेश्शू (१४२०-१५०६)

भूमिका

ध्यान-सम्प्रदाय बौद्ध धर्म की महायान शाखा का एक सम्प्रदाय है। बौद्ध धर्म के अन्य रूपो की भाति इसका भी उदगम भगवान् बुद्ध की बोधि से हुआ। परन्तु एक विशिष्ट सम्प्रदाय के रूप मे इसके सस्थापक योगी बोधिधर्म थे। बोधिधर्म का आविर्भाव पाचवी-छठी शताब्दी ईसवी मे दक्षिण भारत मे हुआ। वहाँ से वे चीन गये, जहा उन्होने ध्यान-सम्प्रदाय की स्थापना की। चीन से यह साधना-विधि कोरिया और जापान गई, जहा अपने जीवन्त रूप मे यह आज तक विद्यमान है।

ध्यान-सम्प्रदाय एशिया की एक महान् आध्यात्मिक उपलब्धि है। यह एक ऐसे वृक्ष का फल है, जिसकी जडे भारतीय भूमि मे है, जो पुष्पित और पल्लवित चीन मे हुआ और जापान मे जिसमे फसल आई। बौद्ध धर्म का यह सम्प्रदाय इतना मौलिक, विलक्षण और कुछ बातो मे इतना औगढ या अनगढ भी है कि धर्म और दर्शन की सभी रूढियो, परम्पराओ, विवेचन-पद्धतियो और तर्क-प्रणालियो से ऊबा और थका मानव-मन इसमे एक विशेष ताजगी, विश्रान्ति और सान्त्वना का अनुभव करता है। ध्यान-सम्प्रदाय एक अनुभवमूलक साधना-पद्धति है। अतः साधको और अध्यात्म-जिज्ञासुओ के लिए उसका विशेष महत्व और उपयोग है। उसकी साहित्यिक और कलात्मक अभिव्यक्तिया भी इतनी महान् और जीवन के लिए सृजनात्मक हैं कि उनके किसी अश का भी किसी भाषा के साहित्य मे आना उसके विचारात्मक पक्ष के सुदृढ होने का सबूत दे सकता है। विशेषत अपने साहित्य और विचार-परम्परा के सन्दर्भ मे तो हम ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य के ज्ञान की उपेक्षा कर ही नही सकते।

ध्यान-सम्प्रदाय का मनोवैज्ञानिक महत्व है। इसका कारण यह है कि उसकी साधना की मुख्य प्रक्रिया अपने स्वभाव के अन्दर देखना या अपने मन के सार को खोजना है। 'मन का प्रेषण' उसके लिए कोई सिद्धान्त नही, बल्कि साक्षात् अनुभूत प्रयोग है। मन की शिक्षा का एक पूरा विधान ध्यान-सम्प्रदाय में मिलता है और अन्त मे तो वह मन को ही बुद्ध कह देता है। इस सबके मनोवैज्ञानिक अभिप्राय हैं। और वे इतने गम्भीर और दूर तक जाने वाले हैं कि प्रसिद्ध मनस्तत्ववेत्ता युग को भी ध्यान-सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे कह देना

पडा है कि "कोई खाली दिमाग का आदमी इसके पास आने का साहस नहीं कर सकता।"

साधना और सत्यानुभूति मे प्रकृति का क्या उपयोग है, इसे हम ध्यान-सम्प्रदाय के अध्ययन से भली प्रकार समझ सकते हैं। प्रकृति ही ध्यानी सन्तो का शास्त्र है। ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया को वे प्रकृति के सहारे ही छोडते हैं और उसी के निगूढ प्रभाव के परिणामस्वरूप चेतना मे सत्य का आकस्मिक अवतरण सम्भव मानते हैं। ज्ञान और गरीबी के सम्बन्ध के लिए भी ध्यानी सन्तो के जीवन उदाहरण-स्वरूप हैं।

ध्यान-सम्प्रदाय का सबसे बडा महत्त्व हमारे लिए इस कारण है कि उसकी अनेक समानताएं भारतीय अद्वैतानुभव और विशेषत सन्त-मत से है। सब प्रकार के द्वैत का, भेद का, निरसन करते-करते ध्यानी सन्त थकते नही। और इसे वे तर्क से नही, बल्कि अन्तर की अनुभूति से प्राप्त करते है, जिसे वे 'प्रज्ञा' या 'महा-प्रज्ञा' कहकर पुकारते हैं। मध्ययुगीन भक्ति-साधना के अनेक पक्षो से ध्यान-सम्प्रदाय की अद्भुत समानताएं है। विशेषत सन्त-मत के समान ही ध्यान-सम्प्रदाय सरल, विलक्षण और अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित है। कबीर और गोरख को कई ऐसे अनुभव हुए थे जिन्हे हम ध्यानी सन्तो के अनुभवो से मिला सकते हैं। इतना ही नही, नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ की वाणियो के, विशेषत. मन के शिक्षण-सम्बन्धी, कई ऐसे प्रसंग है जिनकी व्याख्या हम ध्यानी सन्तो की वाणियो से अच्छी प्रकार कर सकते है। योग और निर्गुण-साधना की कुछ बातें तो ध्यान-सम्प्रदाय की साधना के और भी अधिक समीप हैं। इन सबके ऐतिहासिक और तात्त्विक अभिप्राय है जो अपने आप मन पर अपना प्रभाव छोड जाते है। मुझे तो ऐसा लगता है कि जो साधना-धारा हमारे देश मे क्रमिक रूप से बौद्ध सिद्धो, नाथ-योगियो और निर्गुणपन्थी सन्तो के रूप मे बही, उसी का एक अलग बहता हुआ प्रवाह ध्यान-सम्प्रदाय है। ध्यान-सम्प्रदाय एक विलक्षण प्रकार का योग ही है और उसके अभ्यासी उसके साहित्य मे 'योगी' कहे गये हैं। यह आश्चर्यजनक न लगेगा कि ध्यान-सम्प्रदाय का एक प्राचीन नाम चीनी भाषा मे 'यग्-ची' सम्प्रदाय भी था। 'यंग्-ची' शब्द का अर्थ 'योगी' है, बल्कि यह ('यग्-ची') शब्द सस्कृत 'योगी' की चीनी अनुलिपि ही है। जापानी ध्यानी आचार्य क्वजन् (१२७७-१३६० ई०) ने 'यंग्-ची' सम्प्रदाय के नाम से ध्यान-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है और कहा है कि उनके गुरु दाए-ओ (१२३५-१३०८ ई०) चीन से इस 'योगी'-सम्प्रदाय को जापान मे लाये और इसका उन्होंने वहा प्रचार किया। आजकल 'योगी'-सम्प्रदाय ध्यान-सम्प्रदाय

की रिंज़ई शाखा का सम्प्रदाय माना जाता है। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के प्राचीन इतिहास की खोज से उसका सम्बन्ध भारतीय योग की धारा से, विशेषत. बौद्ध योग की धारा से, स्थापित होता है, जिसकी पुष्टि उसकी साधना के रूप ग्रौर सिद्धान्तो से भी होती है। मध्ययुगीन हिन्दी कविता मे बहने वाली नाथ-योग की धारा से इस प्रकार बौद्ध सिद्धो के माध्यम से ध्यान-सम्प्रदाय ग्रनायास ही सम्बद्ध हो जाता है, जिसकी तात्त्विक ग्रौर ऐतिहासिक रूपरेखा को स्पष्ट करना ग्रावश्यक है।

इसी प्रकार 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' (सातवी ग्राठवीं शताब्दी ईसवी) के ग्रनुशीलन से भी एक नई बात हमारे सामने ग्राती है, जिसका निर्देश या महत्व-विवेचन ग्रब तक ध्यान-सम्प्रदाय पर लिखने वाले किसी विद्वान् ने नही किया है। यह महत्वपूर्ण बात है यह तथ्य कि हुइ-नेंग् ने यहा ध्यान-सम्प्रदाय को 'धर्म-सम्प्रदाय' कहकर पुकारा है। हम जानते हैं कि ठीक इसी नाम वाला, ग्रर्थात् 'धर्म-सम्प्रदाय' या 'धर्म-मत', ही भारत के पूर्वी भाग मे (विशेषत' पश्चिमी वगाल ग्रौर उडीसा के कुछ भागो मे) बौद्ध धर्म की एक ग्रवशिष्ट या भग्न शाखा के रूप मे ग्रब तक विद्यमान है। इस प्रकार यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो उठता है कि क्या हमारे इस 'धर्म-सम्प्रदाय' का ध्यान-सम्प्रदाय के रूप मे 'धर्म-सम्प्रदाय' से (जो साथ मे 'योगी'-सम्प्रदाय भी कहलाता है) क्या कोई वास्तविक ऐतिहासिक ग्रौर तात्त्विक सम्बन्ध भी है या कि यह नाम-साम्य केवल ग्राकस्मिक ग्रौर संयोग-वश ही है? यह समस्या ग्रपने ग्रन्दर गहरे फलितार्थ छिपाये हुए है पूरी मध्ययुगीन रहस्य-साधना के सम्बन्ध मे, उसके स्रोतो ग्रौर नये सन्दर्भों के सम्बन्ध मे ग्रौर मुझे तो लगता है कि इसके समाधान से इस दिशा मे एशियाई ग्रध्ययन का भी एक नया परिच्छेद खुलता है। मैंने इस समस्या का ग्रवतरण इस पुस्तिका मे किया है ग्रौर उसके कुछ फलितार्थों को सुझाया है।

ध्यान-सम्प्रदाय एक ऐसी साधना-धारा है जो बुद्ध रूपी मूल स्रोत से निकल कर करीब एक हजार वर्ष तक तो निगूढ रूप से धरती के ग्रन्दर ही ग्रन्दर भारतीय भूमि मे बहती है ग्रौर फिर छठी शताब्दी ईसवी से लेकर चीन ग्रौर तदनन्तर कोरिया ग्रौर जापान की भूमियो को यह सीचती है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि इसकी फसलो को इन देशो के सास्कृतिक ग्रभ्युत्थान के सर्वश्रेष्ठ युगो ने काटा है। इस साधना-दाय का ग्रध्ययन ग्रौर मनन हमारे सम्पूर्ण साहित्यिक ग्रौर साधनात्मक जीवन के लिए कितना उपयोगी

होगा और कितना विचार का उत्कर्ष वह देगा, यह बताने की आवश्यकता प्रतीत नही होती ।

भारतीय साधना के साथ ध्यान-सम्प्रदाय के तुलनात्मक पक्ष पर, जहा तक मैं जानता हूं, अब तक किसी भी चीनी, जापानी या यूरोपीय विद्वान् ने प्रकाश नही डाला है । सम्भवत: इसका कारण यह है कि इसका सम्बन्ध हिन्दी साहित्य मे उद्घाटित साधना, विशेषत. योग और रहस्य की साधना, से है । कुछ भी हो, यह हमारा अपना काम है कि हम एशियाव्यापी सन्त-धाराओ का अध्ययन करे और यथासम्भव अपनी साधना की पृष्ठभूमि और सन्दर्भ मे उन्हें समझने का प्रयत्न करे । ध्यान-सम्प्रदाय हमे इसके लिए उचित अवकाश और सामग्री प्रदान करता है। मैंने पहली वार इसकी ओर संकेत 'सम्मेलन-पत्रिका' (त्रैमासिक) के भाग ४१, सख्या ३, सम्वत् २०१२ (आषाढ शुक्ल प्रतिपदा) के अंक मे 'ध्यान-वौद्ध धर्म' शीर्षक लेख मे किया था । वाद मे भारतीय महा-वोधि सभा के अंग्रेजी मासिक मुखपत्र 'महावोधि' के सन् १९५८ के मई-अक (वैशाख-अक) मे 'कबीर एण्ड दि मिडिल वे' शीर्षक लेख मे भी मैंने इस पर कुछ विचार किया था । सन् १९६१ ई० मे प्रकाशित 'जेन् वुद्धिज्म एण्ड नाथ कल्ट' शीर्षक लेख मे मैंने ध्यान-सम्प्रदाय और नाथ-पन्थ के सम्बन्ध का विवेचन एक प्रतीक की व्याख्या के माध्यम से किया था । तव से मेरे अन्य कई लेख भी इसी विषय सम्बन्धी इधर प्रकाशित हुए हैं । इस पुस्तक के एक परिच्छेद मे मैंने यह काम कुछ अधिक विस्तार से किया है ।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ध्यान-सम्प्रदाय एक ऐसी साधना-पद्धति है जो भारत से चीन और फिर जापान गई । अत: उसमे ताओ-मत, कनफ्यूशसवाद और शिन्तो-धर्म के साथ समन्वय और सम्मिश्रण है, जो महायान की उदार भावना के अनुरूप था । इसके साथ ही भारतीय तत्व भी उसमे विद्यमान हैं । अत उसके माध्यम से हम यह अच्छी प्रकार समझ सकते हैं कि मूलत: भारतीय भूमि मे उत्पन्न यह साधना-विधि किस प्रकार पूर्वेशिया मे जाकर वहा के लोगों की आध्यात्मिक शान्ति का कारण वनी, उनकी सस्कृतियो के जो स्वर्ण-युग है उनको इसने जन्म दिया और किस प्रकार उनकी मानसिक वनावट के अनु-सार यह स्वय भी परिवर्तित हो गई । इस सवके सास्कृतिक फलितार्थ तो है ही, मानव-विज्ञान की दृष्टि से भी परिवर्तन या ठीक कहें तो 'परिणामन' की इस प्रक्रिया का अध्ययन आवश्यक है ।

ध्यान-सम्प्रदाय वौद्ध धर्म का परिपक्वतम फल है । इसे तथागत का हृदय भी कहा गया है, बुद्ध का चित्त भी । सम्प्रदाय का नाम तो इसके साथ पहचान

के लिए लगा है, वास्तव मे यदि विश्व की किसी भी साधना-प्रणाली को सच्चे अर्थों मे 'अ-नाम' कहा जा सकता है, तो यह ध्यान-सम्प्रदाय ही है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी मे इस साधना-सम्प्रदाय पर लिखी यह प्रथम पुस्तक मननशील अध्येताओं के प्रसाद का कारण बनेगी और 'ध्यान' का परिचय कराने के साथ-साथ भारतीय मध्ययुगीन गूढवाद—विशेषत: निर्गुण सन्त-मत और योग-मत—के नये सन्दर्भों की खोज करने में भी हमारी सहायता करेगी और उस सम्बन्धी हमारे ज्ञान को बढायेगी।

—भरतसिंह उपाध्याय

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

बोधिधर्म : ध्यान-सम्प्रदाय के संस्थापक

छठी शताब्दी ईसवी मे एक आदमी हिन्दुस्तान से चीन मे गया। वह अपने साथ न कोई शास्त्र ले गया और न सूत्र। न उसने कोई ग्रन्थ लिखा और न कभी किसी को कोई धर्मोपदेश ही किया। पहले लोगो ने उसे विक्षिप्त समझा और उसकी उपेक्षा की। उसने भी कभी किसी से समझने योग्य भाषा मे बातें नही की। नौ वर्ष तक वह एक मठ मे ध्यान करता रहा और एक दिन बिना किसी से कुछ कहे-सुने चल दिया। लोगों ने देखा कि साधु पर्वतो के मार्ग मे नगे पैर चला जा रहा है और अपना एक जूता हाथ मे लिये है! पता नही वह भारत लौटकर आया या चीन मे ही मर गया। परन्तु इतना मालूम है कि यही वह आदमी है जो चीन और जापान के धार्मिक इतिहास मे अपनी अमिट छाप छोड गया है और जिसने अध्यात्म-साधना की एक ऐसी गतिशील शक्ति पैदा की है जिसका प्रभाव न केवल सम्पूर्ण पूर्वेशिया की सस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन और जीवन-विधि पर व्यापक रूप से अकित है, वल्कि जो विचारशील साधको के जगत् मे आज दूर-दूर तक प्रसारगामी हो रहा है।

आर्य बोधिधर्म एक विलक्षण योगी थे। वे एक भारतीय बौद्ध भिक्षु थे जिन्होंने सन् ५२० या ५२६ ई० मे चीन मे प्रवेश किया। दक्षिण भारत के काचीपुरम् के क्षत्रिय (एक अन्य परम्परा के अनुसार ब्राह्मण) राजा सुगन्ध के वे तृतीय पुत्र थे। उनके गुरु का नाम प्रज्ञातर था, जिनसे चालीस वर्ष तक उन्होने बौद्ध धर्म की शिक्षा प्राप्त की। गुरु की मृत्यु के पश्चात् वे उनके आदेश का अनुसरण कर चीन गये। बोधिधर्म ने अपनी यात्रा समुद्र द्वारा की और उसमे कुल तीन वर्ष लगे। वे चीन के दक्षिणी समुद्र-तट पर क्वान्-तन् (केण्टन्) बन्दरगाह मे उतरे। बोधिधर्म बौद्ध भिक्षु थे, परन्तु उनकी आकृति मे सौम्यता न थी और न व्यवहार मे शिष्टता। सभ्य-जगत् के मान-दण्डो से वे ऊपर थे और उन्हें किसी की चिन्ता न थी। उनके रूप मे कुछ विकरालता थी। बढी हुई काली दाढी, भृकुटिया तनी हुई और अन्तर्वेधिनी बडी-बडी आखें! देखने मे बडे कठोर आदमी मालूम पडते थे। लगता था जैसे महाशून्य के गर्भ मे आखें गडाये हुए है। कठोर सकल्प—सत्य-प्राप्ति के प्रयत्न मे अपने समग्र व्यक्तित्व

को छपा देने वाले व्यक्ति का अदम्य सकल्प—उनकी आकृति मे मूर्तिमन्त था । लोगो के पूछने पर उन्होने अपनी आयु १५० वर्ष बताई । भारत से एक वृद्ध भिक्षु आया है, यह सुनकर उत्तरी चीन के तत्कालिक राजा वू-ति ने उनके दर्शन करने की इच्छा प्रकट की । यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म ने इस समय तक चीन मे अपनी जडे जमा ली थी । (दूसरी शताब्दी ईसवी के मध्य-भाग मे ही उसका व्यवस्थित रूप से प्रवेश चीन मे हो गया था) और वू-ति एक श्रद्धावान् बौद्ध उपासक था । उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अनेक कार्य किये थे । अनेक विहार बनवाये थे और सस्कृत बौद्ध ग्रन्थो के अनुवाद करवाये थे । वह अपने पुण्य कार्यों के लिए भिक्षु का अनुमोदन और आशीर्वाद चाहता था । नान्किंग् मे बोधिधर्म की सम्राट् वू-ति से भेंट हुई और दोनो मे इस प्रकार सलाप चला

वू-ति—भन्ते ! मैंने अनेक विहार बनवाये हैं, संस्कृत धर्मग्रन्थो की प्रतिलिपिया करवाई हैं और अनेक लोगो को भिक्षु बनने की अनुमति दी है ।[1] क्या मेरे इन कामो मे कोई पुण्य है ?

बोधिधर्म—बिलकुल कोई नही ।

वू-ति—तब फिर वास्तविक पुण्य क्या है ?

बोधिधर्म—विशुद्ध प्रज्ञा, जो सूक्ष्म, पूर्ण, शून्य और शान्त है । परन्तु इस पुण्य की प्राप्ति इस संसार मे सम्भव नही है ।

वू-ति—पवित्र धर्म के सिद्धान्तो मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण कौन-सा है ?

बोधिधर्म—जहा सब शून्यता है, वहा पवित्र कुछ भी नही कहा जा सकता ।

वू-ति—तब फिर मेरे सामने खडा कौन बात कर रहा है ?

बोधिधर्म—मैं नही जानता !

उपर्युक्त सवाद के आधार पर हम बोधिधर्म को रूक्ष स्वभाव का मनुष्य मान सकते हैं । कुछ-कुछ अशिष्ट भी । सम्राट् के प्रति कुछ आदर दिखाना तो दूर, उन्होने उसके पुण्य कार्यों का भी अनुमोदन नही किया । जिन कार्यों को बौद्ध शास्त्रो मे पुण्यकारी बताया गया है, उनको वैसा न बताकर उन्होंने सम्राट् के मन मे बुद्धि-भेद पैदा किया, उसे विभ्रमित किया । धार्मिक राजा की भावनाओ का भी उन्होने कुछ आदर नही किया । बौद्ध धर्म के प्रचार मे भी कुछ दिलचस्पी नही ली । परन्तु वस्तुत. बात ऐसी नही है । बोधिधर्म के उत्तर ऊपर से रूक्ष और अशिष्ट दिखाई देने पर भी सम्राट् के प्रति करुणा से ओतप्रोत हैं

१. उस समय चीन में भिक्षु बनने के लिए राजाज्ञा का लेना जरूरी था ।

और बौद्ध धर्म के उच्चतर सत्य की ओर उसे ले जाने वाले है। उन्होने अपने विलक्षण कठोर ढग मे उसे यही बताया कि दान देना, विहार बनवाना और अन्य पुण्य कार्य करना अधिक महत्वपूर्ण नही हैं, क्योकि ये अनित्य हैं, छाया के समान असत्य है। इस प्रकार अह भाव से सम्राट् को बचाकर शून्यता के उच्च सत्य का उन्होने उसे उपदेश दिया। उन्होने उससे उस अद्वय सत्य की ओर इशारा किया जो पुण्य और पाप, पवित्र और अपवित्र के द्वन्द्वात्मक विचारो से अतीत है।[1] बोधिधर्म के व्यवहार मे एक असाधारण गौरव का भाव है जिसे कोई इच्छाओ वाला मनुष्य या जिसे अपनी सत्य-प्राप्ति पर गहरा विश्वास न हो, एक विदेशी निरकुश सम्राट् के सामने प्रकट नही कर सकता था।

चीनी सम्राट् के साथ अपनी उपर्युक्त भेट के बाद बोधिधर्म ने समझ लिया कि उसे उनसे अधिक लाभ होने वाला नही है और न वह उन्हे समझ ही सकेगा। अत उसके दरबार को छोडकर वे याङ्-त्सी नदी को पार कर उत्तरी चीन के वेई नामक राज्य मे चले गये। यहा उनका अधिकतर समय इस राज्य की राजधानी लो-याङ् के समीप शुग्-शन् पर्वत पर स्थित 'शाश्वत शान्ति' ('श्वा-लिन्') नामक बौद्ध विहार मे बीता। इस विहार का निर्माण पाचवी शताब्दी ईसवी के प्रथम भाग मे किया गया था। बोधिधर्म इस विहार के प्रथम दर्शन करते ही मन्त्र-मुग्ध जैसे हो गये थे। 'नमो' कहते हुए वे हाथ जोडे चार दिन तक इस विहार के सामने खडे रहे। उनका कहना था कि उन्होने कई देशो मे भ्रमण किया है, परन्तु इस प्रकार का भव्य विहार उन्होने कही नही देखा, बुद्ध के देश (भारत) मे भी नही। यही नौ वर्ष तक बोधिधर्म ने ध्यान

---

१ 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' मे उल्लेख है कि एक बार (चीन के) शियु-चाओ प्रदेश के प्रशासक वई ने छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग् ६३८-७१३ ई०) से पूछा कि क्या वे जो कुछ सिखाते हैं, वह सब बोधिधर्म के द्वारा सिखाये गए मूल सिद्धान्त ही हैं? इनका उत्तर जब धर्मनायक ने बलपूर्वक 'हा' में दिया, तो उक्त प्रशासक ने उनके सामने सम्राट् वू और बोधिधर्म के इस सलाप को ही लेकर यह प्रश्न रखा कि "अब मेरी समझ में यह बिलकुल नहीं आता कि बोधिधर्म ने ऐसा उत्तर क्यों दिया?" (दान देने आदि में कुछ भी पुण्य नहीं है, ऐसा क्यों कहा?) छठे धर्मनायक ने इसे उसके लिए स्पष्ट किया है। उनके कहने का साराश यह है कि वास्तविक पुण्य का अधिवास 'धर्मकाय' या 'मन के सार' मे है और उसे वही खोजा जाना चाहिए। दान देना, विहार बनवाना आदि चित्त के उल्लासकारी कृत्य हैं और वास्तविक पुण्य नहीं हैं। "जो हमारे धर्मनायक ने कहा उसमें कुछ गलत नहीं है। सम्राट् ही स्वय सच्चे मार्ग को नहीं जानता था।" हुइ-नेंग् के पूरे उत्तर के लिए देखिये 'दि सूत्र ऑव वे लेंग् (हुइ-नेंग्),' पृष्ठ ३९-४०।

किया। उनके ध्यान करने की एक बाह्य विशेषता यह थी कि वे दीवार के सामने मुँह करके ध्यान करते थे। इसलिए चीन मे वे 'पि-कुअन् ब्राह्मण' अर्थात् 'दीवार की ओर ताकने वाले ब्राह्मण' के रूप मे प्रसिद्ध हो गये। यह उल्लेखनीय है कि जिस मठ मे वोधिधर्म ने ध्यान किया, वह आज भी, कुछ भग्न अवस्था मे, विद्यमान है और ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षुओ का एक छोटा सा संघ वहा आज भी निवास करता है।

आचार्य वोधिधर्म ने चीन मे वौद्ध धर्म के ध्यान-सम्प्रदाय की स्थापना की। यह काम उन्होने स्थूल व्यवस्थावद्ध सघ के रूप मे नही, वल्कि चेतना के आन्तरिक धरातल पर किया। उन्होने लम्वे काल तक मौन रहकर चीनी मन का अध्ययन किया, वडी कठोर और निर्मम परीक्षा लेकर कुछ अधिकारी व्यक्तियो को चुना, अपने मन से उनके मनो को, विना कुछ वोले हुए शिक्षित किया, सत्य का सन्देश उनकी चेतना मे प्रेषित किया और जव यह काम हो गया तो स्वय अन्तर्हित हो गये। भारतीय ज्ञान अपने देशकालज व्यक्तित्व को खोकर चीनी मानस मे समा गया। वह चीनी शरीर की धमनियो का रक्त वनकर प्रवाहित होने लगा, उसकी अपनी आध्यात्मिक संस्कृति का अग वन गया। यही काम वाद मे कोरिया और जापान मे हुआ। आचार्य वोधिधर्म के जीवन का कार्य यही है।

वोधिधर्म के शिष्य और उनके प्रथम उत्तराधिकारी का नाम शैन्-क्वाग् था, जिसे अपना शिष्य वनाने के वाद वोधिधर्म ने 'हुइ-के' बौद्ध नाम दिया, जिसका अर्थ है 'ज्ञानी-अधिकारवान्'। शैन्-क्वांग् कनफ्यूशसवाद को मानने वाला एक महापण्डित था। योगी के रूप मे वोधिधर्म की ख्याति सुनकर वह उनसे मिलने के लिए उस विहार मे गया, जहां वोधिधर्म ध्यान करते थे। सात दिन और रात तक वह दरवाजे पर खड़ा रहा, परन्तु वोधिधर्म ने उसे मिलने की अनुमति नही दी। उस दिन नौ दिसम्वर की कडी सर्दी की रात थी और वरफ पड रही थी। परन्तु शैन्-क्वाग् भी संकल्पवान् पुरुष था। सारी रात चौडे मे खडा रहा और जव सवेरा हुआ तो वरफ उसके घुटनो तक जमी हुई थी। फिर भी गुरु ने कृपा नही की। तव शैन्-क्वाग् ने अपनी तलवार से अपनी वाई वाँह काटी और उसे लेकर गुरु के सामने उपस्थित हुआ। वोधिधर्म मठ की एक गुफा मे दीवार की ओर मुख कर ध्यान कर रहे थे। पीछे शैन्-क्वाग् जाकर खडा हो गया, अपनी कटी वाई वाँह को उघाडकर उन्हें दिखाते हुए और यह प्रकट करते हुए कि यदि उसे उनका शिष्यत्व नही मिला तो वह अपने शरीर का भी वलिदान कर देगा। अन्त मे गुरु ने उसकी ओर ध्यान दिया। "तुम

बोधिधर्म और शैन्-क्वाग्



..... तब शैन्-क्वाग् ने अपनी तलवार से अपनी बाईं बाँह काटी और गुरु के सामने उपस्थित हुआ। बोधिधर्म मठ की एक गुफा मे दीवार की ओर मुख कर ध्यान कर रहे थे। पीछे शैन्-क्वाग् जाकर खडा हो गया, अपनी बाईं बाँह को उघाडकर उन्हे दिखाते हुए और यह प्रकट करते हुए कि यदि उसे उनका शिष्यत्व नही मिला तो वह अपने शरीर का भी बलिदान कर देगा।

मुझसे क्या चाहते हो कि मैं तुम्हारे लिए करू ?" उन्होंने उससे पूछा। शैन्-क्वाग् ने बिलखते हुए कहा, "भन्ते ! मुझे मन की शान्ति नही है। मेरे मन को आप कृपा कर शान्त करे।" बोधिधर्म ने कठोरतापूर्वक उसे उत्तर दिया, "अपने मन को निकाल कर यहा मुझे दे। मैं उसे शान्त करूगा।" शैन्-क्वाग् ने और भी रोते हुए कहा, "मैं अपने मन को कैसे निकाल कर आपको दे सकता हू ?" इस पर कुछ नरम होते हुए और उस पर कृपा करते हुए बोधिधर्म ने उससे कहा, "तो मैं तेरे मन को शान्त कर चुका हू।" तत्काल शैन्-क्वाग् को शान्ति अनुभव हुई। उसके सारे सन्देह दूर हो गये। बौद्धिक सघर्ष सदा के लिए मिट गये। बोधिधर्म ने उसे अपना शिष्य बनाया और, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उसे 'हुइ-के' नाम दिया। हुइ-के ध्यान-सम्प्रदाय के चीन मे द्वितीय धर्मनायक हुए। बोधिधर्म के पास जो कुछ था, वह सब उन्होने हुइ-के को दे दिया। अब सब काम चीनियो को चीनियो के लिए करना था। चीनी परम्परा मे सुरक्षित लेखो के अनुसार बोधिधर्म ने अपने शिष्य हुइ-के से कहा था, "मै भारत से इस पूर्वी देश मे आया हू और मैंने देखा है कि इस चीन देश मे मनुष्य महायान बौद्ध धर्म की ओर अधिक प्रवण हैं। मैंने दूर तक समुद्री यात्रा की है और मैं रेगिस्तानो मे भटका हू, केवल इस उद्देश्य के लिए कि मुझे कही अधिकारी व्यक्ति मिले जिन्हें मैं अपना अनुभव प्रेषित कर सकू। जब तक मुझे इसके उपयुक्त अवसर न मिले मैं मौन रहा, जैसे कि मैं बोलने मे असमर्थ गूगा होऊ। अब मुझे तुम मिल गये हो। मैं तुम्हें यह दे रहा हू और मेरी इच्छा अन्ततः पूरी हो चुकी है।"

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त हमे बोधिधर्म के जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे अधिक कुछ ज्ञात नही है। कहा जाता है कि चीन से प्रस्थान करने से पूर्व उन्होने अपने शिष्यो को बुलवाया और उनसे कहा, "अब मेरे जाने का समय आ गया है और मैं यह जानना चाहता हू कि तुम्हारी प्राप्तिया क्या हैं ?" सबसे पहले ताओ-फु नामक उनका शिष्य उनके सामने आया और बोला, "मेरी समझ मे सत्य विधि और निषेध दोनो से परे है। सत्य के सचरण का मार्ग यही है।" इस पर बोधिधर्म ने उससे कहा, "तुम्हे मेरी त्वचा प्राप्त है।" इसके बाद भिक्षुणी त्सुग्-चिह् आई और बोली, "जैसा मैं समझती हू, सत्य का केवल एक बार दर्शन होता है, फिर कभी नही।" बोधिधर्म ने उससे कहा, "तुम्हे मेरा मास प्राप्त है।" ताओ-यू नामक एक अन्य शिष्य इसके बाद बोधिधर्म के सामने आया और बोला, "चारो महाभूत शून्य और असत् हैं और इसी प्रकार पंचस्कन्ध (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान) भी। मेरी

दृष्टि मे सत् रूप मे ग्रहण करने योग्य कोई वस्तु नही है ।" बोधिधर्म ने उससे कहा, "तुम्हें मेरी हड्डिया प्राप्त हैं ।" अन्त मे हुइ-के आये । उन्होने विनम्रता-पूर्वक गुरु को प्रणाम किया और अपने स्थान पर चुपचाप खडे रहे । बोले कुछ नही । बोधिधर्म ने अपने इस शिष्य से कहा, "तुम्हे मेरी चर्बी प्राप्त है ।"

इसके बाद ही बोधिधर्म अन्तर्धान हो गये और किसी को पता नही कि वे कहा गये या उनका क्या हुआ ? अन्तिम बार जिन लोगो ने उन्हे देखा उनका यही कहना था कि वे नगे पैर त्सुग्-लिग् पर्वत-श्रेणी (चीन को मध्य-एशिया से विभक्त करने वाली पर्वत-माला) मे होकर पश्चिम (भारत) की ओर जा रहे थे और अपना एक जूता हाथ मे लिये थे । इन लोगो के कहने पर बाद मे लो-याङ् मे बोधिधर्म की मानी जाने वाली समाधि खोली गई, परन्तु उसमे एक जूते के अलावा और कुछ न मिला । ध्यान-सम्प्रदाय के एक प्राचीन इतिहास-ग्रथ मे कहा गया है, "नौ वर्ष तक वह रहा और किसी ने उसे जाना नही । एक जूता हाथ मे लेकर वह चुपचाप, बिना किसी समारोह के, अपने घर चला गया ।" कुछ लोगो का कहना है कि बोधिधर्म चीन से लौटकर भारत वापस आये थे । जापान मे कुछ का यह भी विश्वास है कि वे चीन से जापान गये, जहा नारा के समीप कतयोक-यामा नगर मे उन्हें एक आतुर भिखारी के रूप मे देखा गया । एक किंवदन्ती यह भी है कि चीन मे ही उन्हे किसी ने ईर्ष्यावश विष देकर मार डाला ।

बोधिधर्म अपने पीछे चीन और जापान के धार्मिक इतिहास मे एक अमर जिज्ञासा छोड गये हैं कि पश्चिम (भारत) से उनके चीन आने का उद्देश्य क्या था ? इसे दूसरे शब्दो मे यो भी रक्खा जा सकता है कि उनका आध्यात्मिक सन्देश क्या है ? ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास मे अनेक बार हम ध्यानी शिष्यो को अपने गुरुओ से यह प्रश्न पूछते देखते हैं और इसके जो उत्तर दिये गये हैं, उनका निष्कर्ष केवल यही है कि यह एक अत्यन्त अगम और अगाध मर्म है ।

बोधिधर्म ने कोई ग्रथ नही लिखा । परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय के दो इतिहास-ग्रंथो मे उनके कुछ वचनो और उपदेशो का उल्लेख है । ये दो ग्रन्थ हैं ताओ-हुआन् लिखित 'प्रमुख भिक्षुओ के सस्मरणो के अवशेष' जिसकी रचना सन् ६४५ ई० मे हुई तथा ताओ-यूआन् लिखित 'धर्म-दीप-प्रेषण अभिलेख' या सक्षेप मे 'दीप-प्रेषण', जिसका रचनाकाल सन् १००४ ई० है । इन दोनो ग्रथो मे बोधिधर्म के द्वारा दिये गये कुछ प्रवचन सगृहीत हैं । विशेषत 'आत्मा की शान्ति पर' और 'चार कृत्यो पर ध्यान' शीर्षक प्रवचन प्रामाणिक रूप से बोधिधर्म के द्वारा दिये गये माने गये हैं और कुछ थोडे-बहुत अन्तर से दोनो

उपर्युक्त इतिहास-ग्रन्थो मे पाये जाते हैं। जापान मे एक पुस्तक 'शोशित्सु के छह निबन्ध' ('शोशित्सु रोकुमोन शु'—चीनी भाषा मे जिसका उच्चारण है "शाओ-शिह् ल्यु-मेन्-ची') शीर्षक से प्रचलित है जिसमे शोशित्सु (बोधिधर्म, ध्यान-सम्प्रदाय के प्रथम धर्मनायक) के छह निबन्ध सगृहीत माने जाते है। सुजुकी की राय है कि इस पुस्तक मे असन्दिग्ध रूप से बोधिधर्म के कुछ वचन पाये जाते हैं, परन्तु सब निबन्ध बोधिधर्म के नही है। सुजुकी के मतानुसार इस पुस्तक का प्रणयन तग्-काल (६१६-६०५ ई०) मे हुआ, जबकि ध्यान-सम्प्रदाय का प्रभाव चीन मे बढने लगा। बोधिधर्म के प्रवचनो से सम्बन्धित एक अन्य रचना का भी हमे यहा उल्लेख कर देना चाहिये। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ मे चीन के तुन्-हुआड् नामक नगर के प्रसिद्ध ध्वसावशिष्ट 'सहस्रबुद्ध-गुहा-विहार' मे हस्तलिखित प्रतियो का एक अमूल्य भाण्डार मिला था। उसमे एक प्रति बोधिधर्म के द्वारा दिये गये प्रवचनो से सम्बन्धित भी है, जिसमे बोधिधर्म के शिष्यो के कुछ प्रश्न और बोधिधर्म के द्वारा दिये गये उनके उत्तर खण्डित रूप मे निहित हैं। इसे टिप्पणियो के रूप मे बोधिधर्म के शिष्यो ने लिखा था। इस समय यह प्रति पी-पिग् के राष्ट्रीय पुस्तकालय मे सुरक्षित है।[1]

---

१ इसके कुछ अंशो को न्योजेन सेजाकि ने प्रथम बार चीनी भाषा से अंग्रेजी मे अनुवादित किया है, जिन्हें आर० एस० मेकेण्डलेस के साथ लिखी उनकी पुस्तक 'बुद्धिज्म एड जेन' (पृष्ठ ७३-८४) में देखा जा सकता है।

दूसरा परिच्छेद

ध्यान-सम्प्रदाय का इतिहास

ध्यान बौद्ध धर्म का हृदय है। स्वय भगवान् बुद्ध एक ध्यानी महात्मा थे। उनके महापरिनिर्वाण के बाद लोग उनकी याद अधिकतर एक ध्यानी महात्मा के रूप मे ही करते थे। अनवरत रूप से धर्मोपदेश करते हुए और लोगो के बीच मे विचरण करते हुए भी भगवान् सदा ध्यान मे स्थित रहते थे। ध्यान उनकी दिनचर्या का सबसे प्रमुख अंग था। कभी-कभी महीनो और सप्ताहो भर के लिए वे अपने शिष्यो से भी अलग हो जाते थे और इस समय उनसे कोई नही मिल सकता था। कोसल देश के इच्छानंगल ब्राह्मण-ग्राम मे तथा वैशाली की महावन-कूटागारशाला मे बुद्ध ने इस प्रकार कुछ समय एकान्त ध्यान मे बिताया था। अनेक बार दर्शनार्थी आगन्तुको को हम यह कहकर लौटाये जाते या ठहराये जाते देखते हैं कि "भगवान् इस समय ध्यान मे हैं, यह समय उनसे मिलने का नही है।" बुद्ध के जीवन का विश्लेषण करके देखा जाय तो पता लगता है कि उसका सब कुछ ध्यान ही है। बुद्ध और ध्यान अलग-अलग कर देखे ही नही जा सकते।

त्रिपिटक मे बुद्ध के ध्यानी जीवन के अनेक चित्र विद्यमान है। कभी सूने घरो मे, कभी वृक्ष-मूलो मे, कभी नदी-तट पर, कभी पर्वत-पृष्ठ पर, कभी खुले मैदान मे, कभी दोपहर की कडी गर्मी मे तो कभी अति प्रात. ही, कभी सघन अन्धकार वाली अर्द्ध रात्रि मे जब रिमझिम वर्षा भी हो रही हो, तो कभी चादनी मे, कभी ग्राम या निगम से बाहर वन-प्रस्थ मे, तो कभी कुन्दी लगे विहार के अन्दर, कभी वर्षा के समय किसी बिना छाई कुटिया मे, तो कभी श्मशान मे ही, हम बुद्ध को ध्यानावस्था मे बैठे या चक्रमण करते अनेक बार देखते हैं। दो-एक बार के प्रसग तो भुलाये ही नही जाते। एक बार मगध के अन्धकविन्द नामक गाव के बाहर खुले मैदान मे, काली अधियारी रात मे, हमने बुद्ध को ध्यान मे बैठे देखा है, जबकि रिमझिम वर्षा भी हो रही थी। एक दूसरे अवसर पर हमने बुद्ध भगवान् के दर्शन मही (गण्डक) नदी के किनारे एक कुटिया मे किये हैं, जहा वे एक रात भर के लिए ठहरे थे। कुटिया खुली थी, उस पर छप्पर नही था और वर्षाकालीन बादल आकाश मे छाये हुए थे। वह

ध्यानस्थ बैठे थे। एक अन्य प्रसंग तो और भी रोमहर्षक है। भगवान् एक बार आतुमा के भुसागार (भूसे के घर) मे ठहरे हुए थे। इसी समय भयकर वर्षा हुई और बादलो की गडगडाहट के साथ बिजली कडककर उस भुसागार के द्वार के सामने बुद्ध के पास ही गिरी जिससे दो भाई किसान और उनके चार बैल मर गये। परन्तु बुद्ध ने न बादलो की घोर गडगडाहट सुनी और न बिजली का कडक कर गिरना ही देखा, जबकि वे भुसागार के द्वार के पास ही पूर्ण जाग्रत अवस्था मे ध्यान मे टहल रहे थे। इतनी ध्यान की एकाग्रता और मन को शान्त रखने की उनकी शक्ति थी।

बुद्ध का पूरा जीवन ही एक सतत समाधि था। कहा गया है कि चित्त की जिस अवस्था से उन्होने बोधि-प्राप्ति के समय विहार किया, उसी से वे अपने शेष जीवन मे भी विहार करते रहे।

भगवान् बुद्ध का पहला ध्यान एक जामुन के पेड के नीचे हुआ था, जबकि वे अल्पवयस्क बालक ही थे। बाद मे उन्होने ध्यान के द्वारा ही बोधि प्राप्त की। निर्वाण भी बुद्ध ने ध्यान की विभिन्न अवस्थाओ मे सचरण करते हुए ही प्राप्त किया। कहा गया है कि बुद्ध कभी ध्यान से रिक्त नही रहते थे। उठते, बैठते, सोते, जागते, बात करते, तथागत सदा ध्यान मे रहते हैं, ऐसा त्रिपिटक मे अनेक बार कहा गया है।

जिस धर्म का बुद्ध ने उपदेश दिया, उसका भी अभ्यास बिना ध्यान के कोई नही कर सकता। जिस प्रकार बिना प्रार्थना या नाम-स्मरण के भक्ति की साधना छूछी है, उसी प्रकार बिना ध्यान के बौद्ध धर्म का कोई अर्थ नही है। बिना ध्यान किये कोई बौद्ध नही होता, जिस प्रकार बिना नाम-स्मरण के कोई वैष्णव या भक्त नही है। बुद्ध को जो कुछ कहना है या उपदेश करना है वह सब जब वे कर चुकते हैं, तो अपने शिष्यो से अन्त मे कहते हैं, "शिष्यो के हितैषी शास्ता को अपने शिष्यो पर दया करके जो करना चाहिये, वह मैंने कर दिया। अब भिक्षुओ! यह (सामने) वृक्षो की छाया है, ये एकान्त घर हैं। भिक्षुओ! ध्यान करो। प्रमाद मत करो। देखना, पीछे मत पछताना। यही हमारी अनुशासना है।" यह अन्तिम बात है जिसे बुद्ध कहते हैं। इसके बाद वे चुप हो जाते हैं। इसलिये बौद्ध साधको के लिए ध्यान ही एकमात्र करणीय कार्य है जिसे करने के लिए बुद्ध अन्तिम रूप से आदेश देते है। ध्यान करना ही बुद्ध-कार्य करना है। ध्यान बुद्ध-उपदेशो का उपसहार है।

त्रिपिटक मे ऐसे अनेक प्रसग आते है जिनसे विदित होता है कि ध्यान से परम कर्तव्य भगवान् अपने शिष्यो के लिए और कुछ नही मानते थे। ध्यानी

भिक्षुओं के तो वे प्रशसक थे ही, कुछ न कुछ ध्यान के अभ्यास की अपेक्षा वे उनसे भी रखते थे जो अपनी गोद में बाल-बच्चों को खिलाते हैं। जिस प्रकार पालथी मारकर गर्दन को सीधी रख, उनके गृह-त्यागी, विरक्त शिष्य मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा से अशेष जगत् को आप्लावित करते हुए उच्च ध्यान-समापत्तियों को प्राप्त करते थे, उसी प्रकार उनके अनेक श्रद्धावान् उपासक, गृहस्थ स्त्री-पुरुष, बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में अपने को अर्पित करते हुए अपनी चित्त-विशुद्धि के लिए प्रयत्नशील होते थे। अपने शिष्यों की योग्यताओं और आवश्यकताओं के अनुरूप बुद्ध उन्हें ध्यान के विषय भी दिया करते थे, जिन्हें 'कर्मस्थान' (पालि, कम्मट्ठान) कहकर पुकारा गया है। इस प्रकार के अनेक कर्मस्थानों को पालि त्रिपिटक से सगृहीत किया जा सकता है और वे विश्व के साधनात्मक साहित्य की एक सप्रहर्षक और मन को सहसा ऊपर उठाने वाली वस्तु होगे। ध्यान-सम्प्रदाय को ध्यान में रखते हुए मैं यहां केवल उनमें से दो का नाम-निर्देश भर कर देना चाहता हू—चूल पन्थक को दिया गया बुद्ध-उपदेश, जो थेरगाथा, उसकी अट्ठकथा और 'विसुद्धिमग्ग' के बारहवे परिच्छेद में देखा जा सकता है और बाहिय दारुचीरिय को दिया गया उनका उपदेश जो 'उदान' के बोधि-वर्ग में निहित है। कितनी जल्दी बुद्ध मनुष्यों को ज्ञान-दीप्त कर देते थे, कितने सरल और अल्प शब्दों में वे जीवन-व्यापी परिवर्तन कर डालते थे, मानव की चेतना को कहा से कहा ले जाते थे, इसे देखना हो तो इन दो उपदेशों में देखना चाहिये।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि कितना भारी महत्व बुद्ध ध्यानाभ्यास को देते थे। उनकी शिक्षा में वस्तुत. क्रमिक विधान था, जिसकी तीन उत्तरोत्तर भूमिया थीं, शील, समाधि (ध्यान) और प्रज्ञा। शील (सदाचार) के बाद समाधि (ध्यान) और समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा (अन्तर्ज्ञान का उत्कृष्टतम रूप, परम ज्ञान) की प्राप्ति। इतना ही वस्तुत बौद्ध धर्म है। आचार्य बुद्धघोष ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विसुद्धिमग्ग' में शील, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास के रूप में पूरे बुद्ध-मन्तव्य का विश्लेषण किया है और ध्यान (समाधि) का सविस्तर विवरण दिया है। त्रिपिटक और अनुपिटक साहित्य का वस्तुत कोई ग्रन्थ ही नहीं है जो ध्यान के बारे में कुछ न कुछ न कहता हो, क्योंकि यह बुद्ध-शासन का सार ही है। क्या स्थविरवाद, क्या महायान, सभी एकान्त रूप से ध्यान के महत्व को स्वीकार करते हैं। जिसने जीवन में सदाचार (शील) का विकास नहीं किया है, उसका चित्त समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता और जिसे चित्त की समाधि प्राप्त नहीं है, वह प्रज्ञा की अधिगति से भी दूर है।

विना ध्यान के प्रज्ञा नही है और विना प्रज्ञा के ध्यान नही है। साधना की यह भूमिका बौद्ध धर्म के सभी रूपो को मान्य है। अत सभी ने शास्ता के द्वारा सिखाई गई ध्यान-पद्धति का विकास अपनी-अपनी धातु और प्रकृति के अनुसार किया है। शमथ और विदर्शना की भावना सब वुद्ध-पुत्रो की सामान्य विचरण-भूमि है। सभी बौद्ध साधक, चाहे वे किसी सम्प्रदाय के हो, प्रमुख रूप से ध्यानी हैं, ध्यान के अभ्यासी है। ध्यान उनकी पैतृक सम्पत्ति है, सामान्य विचरण-भूमि है।

इस प्रकार ध्यान की महिमा जवकि वौद्ध धर्म के सभी रूपो मे सुरक्षित है, 'ध्यान' नाम से एक विशिष्ट वौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना और विकास चीन और जापान की धर्म-साधना की एक विशेषता है, जिसका वहा बीजारोपण करने वाले, जैसा हम पहले देख चुके हैं, योगी वोधिधर्म थे। भारतीय वौद्ध धर्म के लिखित इतिहास मे हमे उसके किसी ध्यान-सम्प्रदाय का उल्लेख नही मिलता। न तो अशोक के काल तक उत्पन्न अष्टादश निकायो मे उसका कही उल्लेख है और न उत्तरकालीन वौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायो मे उसके अस्तित्व के कही चिह्न हैं, यद्यपि योगाचार (जिसका अर्थ ही योग का आचार या अभ्यास है) मत उसी की तरह योग (ध्यान) की साधना पर अवलम्बित था। अशोक के काल तक उत्पन्न अष्टादश निकायो मे अवश्य हमे महाशून्यतावादी वेतुल्यको के एक सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है, जिनके मत का खण्डन 'कथावत्थु' मे किया गया है। ये लोग महाशून्यतावादी तो थे ही, सघ को दान आदि देने मे भी ये पुण्य नही मानते थे, ऐसा 'कथावत्थु' से प्रकट होता है।[1] अव हम जानते है कि वोधिधर्म ने चीनी सम्राट् के दानादि कृत्यो को 'पुण्य' नही माना था, वल्कि कहा था कि वास्तविक 'पुण्य' महाशून्यता है जिसकी उपलब्धि इस सापेक्ष जगत् मे सम्भव नही है। वोधिधर्म के उक्त कथन की व्याख्या करते हुए छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्) ने कहा है कि वास्तविक 'पुण्य' की स्थिति 'धर्मकाय' मे है, 'मन के सार' मे है, शून्यता मे है। दान आदि देना 'पुण्य' नही है, वल्कि वे केवल चित्त मे उल्लास पदा करने वाले कृत्य हैं, जिनसे 'पुण्य' को पृथक् समझना चाहिये।[2] जिन्हे हम गलती से पुण्य कह देते हैं, वे वास्तव मे सास्रव है (आस्रव-सहित), मलीन है, दूषित हैं, और सोपाधिक हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त

---

१ देखिये लेखक का 'पालि साहित्य का इतिहास' (द्वितीय सस्करण) के पाचवे अध्याय में अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत 'कथावत्थु' का विवेचन।

२. देखिये 'दि सूत्र ऑव वे-लेंग् (हुइ-नेंग्)', पृष्ठ ३९-४०।

कराने वाले है, यह विचार 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' मे वार-वार आता है। अतः इस लेखक को यह स्पष्ट लगता है कि 'कथावत्थु' मे जिन महा-शून्यतावादी वेतुल्यको के मत का निराकरण किया गया है, उनसे कुछ न कुछ विशेष सम्बन्ध ध्यान-सम्प्रदाय के पूर्वरूप का अवश्य होना चाहिये और यह तो निश्चित ही है कि वेतुल्यक (वैपुल्य) सम्प्रदाय के अनुयायी ही महायान के जन्मदाता हैं, जिसकी ही एक शाखा ध्यान-सम्प्रदाय है।[१] इस प्रकार यद्यपि पृथक् ध्यान-सम्प्रदाय की विद्यमानता के लिखित प्रमाण हमे वौद्ध धर्म के भारतीय इतिहास मे नही मिलते, परन्तु उसकी परम्परा बुद्ध-काल से ही भारत मे अवश्य चली आ रही थी, इसके कुछ क्षीण साक्ष्य हमे पालि साहित्य मे भी मिलते हैं और उसके मूल उपदेष्टा भगवान् बुद्ध ही माने जाते थे, ऐसा हम ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास के आधार पर तो कह ही सकते है, जैसा हम अभी आगे देखेंगे।

ध्यान-सम्प्रदाय की उत्पत्ति की कथा वड़ी मनोरजक है और उन लोगो के लिए विशेष लक्ष्य करने की है जो 'सन्ध्या भाषा' या 'सन्धा भाषा' के मर्म को समझना चाहते हैं। कहा गया है कि एक बार भगवान् बुद्ध मगध के गृध्रकूट पर्वत पर अपने शिष्यो से घिरे हुए बैठे थे और उपदेश आरम्भ करना ही चाहते थे कि इतने मे उनका एक गृहस्थ शिष्य (जिसे ब्रह्मराज कहकर पुकारा गया है) उनके पास आया और प्रणाम करने के वाद उसने एक सुनहरे रङ्ग के फूल को, जिसे कुम्भल या उत्पल बताया गया है, उन्हे अर्पित किया और उनसे उपदेश आरम्भ करने की प्रार्थना की। बुद्ध ने कोई उपदेश नही दिया, वल्कि केवल उस पुष्प को हाथ मे लेकर वे उसकी ओर देखने लगे। बुद्ध की इस चेष्टा का अभिप्राय उनका कोई शिष्य नही समझ सका। केवल महाकाश्यप उसे देखकर मुस्कराये और सम्मतिसूचक उन्होने अपना सिर हिला दिया। इससे उन्होने यह प्रकट कर दिया कि उन्होने तथागत के गूढ अभिप्राय को समझ लिया है। जब सभा विसर्जित हो गई तो भगवान् बुद्ध ने एकान्त मे महाकाश्यप को बुलाया और कहा, "मैं धर्म-चक्षु का स्वामी हू, जो अगोचर सत्य और परम गुह्य ज्ञान है। महाकाश्यप! इस क्षण मैं तुम्हे उसे देता हूं।" इस प्रकार तथागत ने अपने ज्ञान को महाकाश्यप के मन मे सप्रेषित कर दिया। यही बौद्ध धर्म के ध्यान-सम्प्रदाय की उत्पत्ति हो गई।

महाकाश्यप ने इस धर्म-चक्षु को आनन्द को संप्रेषित किया। जिस गूढ अभिप्राययुक्त वाणी से उन्होने यह किया, यह भी देखने योग्य है। आनन्द ने

१ देखिये उपर्युक्त पद-सकेत १ के समान।

एक बार महाकाश्यप से पूछा, "भन्ते ! चीवर और भिक्षापात्र के अलावा और क्या वस्तु है जिसे आपने बुद्ध से पाया ?" महाकाश्यप ने इसके उत्तर मे केवल कहा "हे आनन्द !" इस पर जब आनन्द ने "हा" कहा, तो महाकाश्यप ने फिर उनसे कहा, "आनन्द ! दरवाज़े पर लगे झडे को नीचा कर दो।" इतना सुनना था कि आनन्द के हृदय मे ज्ञान का प्रकाश कौंध गया और उनकी ताली लग गई। इस प्रकार धर्म की मुहर महाकाश्यप से आनन्द को प्रेषित कर दी गई।

महाकाश्यप ने आनन्द को झडे को नीचा करने का आदेश दिया। इसका क्या अभिप्राय है ? विहार के दरवाजे पर झडे का फहराना वहा निरन्तर धर्म-प्रवचन होते रहने का सूचक है। अत उसको नीचा करने का अभिप्राय है शाब्दिक प्रवचन को बन्द कर देना और गहरे रूप से अपने अन्दर के जगत् मे लीन हो जाना। यही गूढ सन्देश था जिसे महाकाश्यप ने आनन्द को प्रेषित किया।

इस प्रकार बुद्ध के उद्गम से निकल कर ध्यान-सम्प्रदाय के ज्ञान की यह धारा क्रमश. महाकाश्यप और आनन्द मे होकर गुरु-शिष्य क्रम से निरन्तर वहती चली गई और भारत मे बोधिधर्म इसके अट्ठाईसवें और अन्तिम गुरु हुए। ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास-ग्रन्थो मे इन अट्ठाईस धर्माचार्यो के नाम सुरक्षित है, जो महाकाश्यप से आरम्भ कर इस प्रकार हैं

१. महाकाश्यप	१३. भिक्षु कपिमाल
२. आनन्द	१४ नागार्जुन
३. शाणवास	१५. काणदेव
४. उपगुप्त	१६. आर्य राहुलत
५ धृतक	१७. संघनन्दी
६. मिच्छक	१८. सघयशस्
७ वसुमित्र	१९. कुमारत
८. वुद्धनन्दी	२०. जयत
९. वुद्धमित्र	२१. वसुवन्धु
१०. भिक्षु पार्श्व	२२. मनुर
११. पुण्ययशस्	२३. हक्लेनयशस् (या केवल हक्लेन)
१२. अश्वघोष	२४. भिक्षु सिंह

२५ वाशमित   २७. प्रज्ञातर
२६ पुण्यमित्र   २८ वोधिधर्म[१]

उपर्युक्त अट्ठाईस गुरुओ या धर्मनायको की कुछ गाथाएं भी चीनी अनुवादो के रूप में मिलती है जिनके द्वारा उन्होंने अपने उत्तराधिकारी शिष्यो को प्रबुद्ध किया। दीक्षा देते समय प्राय प्रत्येक धर्मनायक अपने शिष्य के सामने इन शब्दो का उच्चारण करता था, "अब यह धर्म-चक्षु मैं तुम्हे दे रहा हूं। तुम इसकी पूरी तरह रखवाली करना और इसके बारे मे मानसिक सावधानी वरतना।" इसके बाद वह अपनी कुछ गाथाए कहता था। यहां दो-एक धर्म-नायको की गाथाओ को दे देना आवश्यक होगा। पाचवें धर्मनायक धृतक ने अपने शिष्य मिच्छक को गुह्य ज्ञान की दीक्षा देते हुए यह गाथा कही थी :

"मन के अन्तिम सत्य को वेधो,
फिर न वस्तुए हैं और न अ-वस्तुए ही;
बुद्ध और अ-बुद्ध दोनो समान हैं;
न मन है और न वस्तुएं ही।"

बाईसवे धर्मनायक मनुर ने यह गाथा कही .

"मन दस हजार वस्तुओ के साथ सचरण करता , है
सचरण करते हुए भी यह शान्त है;
जब यह (मन) सचरण करे तो इसके सार को देखो,
फिर न सुख है और न दु.ख।

---

१ ध्यानी गुरुओं की यह परम्परा 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' के अनुसार है। देखिये 'दि सूत्र ऑव वे-लेंग् (हुइ-नेंग्)' (लुजाक एण्ड कम्पनी, १९४४), पृष्ठ १२०-१२१। सुजुकी ने ध्यान-परम्परा के २८ धर्मगुरुओं के नाम देते हुए शाक्यमुनि से आरम्भ किया है, अर्थात् उन्हें प्रथम धर्मगुरु माना है, और अट्ठाईसवे धर्मगुरु को वोधिधर्म के रूप मे ही दिखाया है। वीच में वसुमित्र को छोड दिया है। शेष आचार्यों के नाम और क्रम समान हैं। देखिए 'एसेज इन जेन बुद्धिज़्म, फ़र्स्ट सीरीज, पृष्ठ १७० (राइडर, १९५८)। सुजुकी ने यह निर्दिष्ट नहीं किया है कि उन्हो ने अपनी सूचना किस स्रोत से ली है। वस्तुत· 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' ही इस सम्बन्ध मे सबसे अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है। अत· शाक्यमुनि के अलावा २८ आचार्य ध्यान-सम्प्रदाय के भारत मे हुए, जिनमें वोधिधर्म अन्तिम (अट्ठाईसवें) थे, यही मानना उचित लगता है। योका टेशी (यु ग्-चिआ-त-शिह) के 'वोधि-गीत' में भी महाकाश्यप को प्रथम धर्म नायक बताया गया है। वैसे भी बुद्ध को धर्मगुरुओं से ऊपर रखना ही ठीक है। शाक्यमुनि 'ध्यान' के ही नहीं, अन्य सब वौद्ध सम्प्रदायों के भी मूल स्रोत हैं और उन सबसे ऊपर भी।

जैसा हम पहले देख चुके हैं, ध्यान-सम्प्रदाय के भारत मे अट्ठाईसवें और अन्तिम धर्मनायक बोधिधर्म चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय के प्रथम धर्मनायक हुए। ध्यान-सम्प्रदाय का निश्चित रूप और क्रमिक विकास हमे इसी समय से मिलना शुरू होता है।

सस्कृत 'ध्यान' (पालि, झान) शब्द की चीनी अनुलिपि 'चान्' या 'छान्' है और 'त्सुग्' चीनी भाषा मे 'सम्प्रदाय' को कहते हैं। अत' ध्यान-सम्प्रदाय चीनी भाषा मे 'चान्-त्सुग' या 'छान्-त्सुग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'ध्यान' शब्द की जापानी अनुलिपि 'ज़-ज़ेन्' या सक्षेप मे 'जेन्' है और 'सम्प्रदाय' का पर्यायवाची शब्द जापानी भाषा मे 'शू' है। इसलिए 'ज़ेन्-शू' नाम से ध्यान-सम्प्रदाय जापान मे प्रसिद्ध है।

बोधिधर्म को उनके सक्षिप्त नाम 'धर्म' से भी अक्सर चीन और जापान मे पुकारा जाता है, जिसके चीनी और जापानी रूप हैं क्रमश 'दरम' और 'त-मो'। बोधिधर्म ने चीन मे अपना प्रथम शिष्य और उत्तराधिकारी हुइ-के (४८६-५९३ ई०) को बनाया। अत हुइ-के चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय के द्वितीय धर्मनायक हुए। पूरे ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा मे वे उन्तीसवें धर्म-नायक माने जायेंगे। इनके सम्बन्ध मे हम पहले कह चुके हैं कि बोधिधर्म के शिष्य होने से पूर्व वे कनफ्यूशसवाद को मानने वाले एक महापण्डित थे। स्वभावत वे चीनी साहित्य और सस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् थे। बौद्ध साहित्य का भी अगाध ज्ञान उन्होने प्राप्त कर लिया। परन्तु अपनी विद्वत्ता का उन्हे तनिक भी अभि-मान न था। इतने विनम्र और सकोची थे कि अपनी कुटिया से बाहर ही बहुत कम निकलते थे। पहले तो बहुत समय तक उन्होने कोई धर्मोपदेश ही नही दिया, परन्तु बाद मे अधिकतर निचले वर्ग की जनता मे, कुछ धर्मोपदेश करने लगे। धीरे धीरे उनका प्रभाव बहुत बढ गया। इसे देखकर सामन्त वर्ग को चिन्ता होने लगी और उन पर यह अभियोग लगाया गया कि वे मिथ्या सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं। बौद्ध धर्म, कनफ्यूशसवाद और ताओ-मत का समन्वय चीन मे धीरे-धीरे हुआ, परन्तु प्रारम्भिक अवस्था मे और कभी-कभी बाद मे भी, बौद्ध धर्म को एक विदेशी धर्म बताकर उसकी अवमानना की गई और बौद्ध धर्म को स्वीकार करने वालो को कड़े दण्ड भी सहने पडे। हुइ-के को भी इसका शिकार होना पडा। मिथ्या सिद्धान्तो के प्रचार के अभियोग मे उन्हे मृत्यु-दण्ड सुना दिया गया। हुइ-के ने कचहरी मे अपने को निर्दोष प्रमाणित करने का कोई प्रयत्न नही किया, बल्कि यह कहकर कि कर्म के नियम के

अनुसार उन्हे अपने एक पूर्व ऋण को चुकाना ही है, उन्होने शान्तिपूर्वक मृत्यु का वरण कर लिया। इस समय उनकी अवस्था १०७ वर्ष की थी।

मरने से पूर्व हुइ-के ने अपना चीवर और भिक्षापात्र सेग्-त्सन् नामक भिक्षु को देकर उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया। सेग्-त्सन् इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के चीन मे तृतीय धर्मनायक हुए और पूरे 'ध्यान' की परम्परा मे तीसवें।

सेग्-त्सन् की हुइ-के के साथ हुई प्रथम भेट का उल्लेख कर देना भी यहा आवश्यक होगा। जिस समय प्रथम बार सेंग्-त्सन् हुइ-के से मिलने गये तो उन्होने उनसे पूछा था, "बुद्ध क्या है?" इसका उत्तर हुइ-के ने यह कहकर दिया कि "मन ही बुद्ध है।" यह बात ध्यान-सम्प्रदाय के अन्य अनेक आचार्यों ने भी कही है और उनकी साधना को समझने के लिए इसका आधारभूत महत्व है। सेंग्-त्सन् को जापानी भाषा मे सोसन कहकर पुकारा जाता है। उनकी मृत्यु सन् ६०६ ई० मे हुई।

बोधिधर्म के समान हुइ-के ने भी कोई साहित्यिक रचना नही छोडी है। केवल उनके प्रवचनो का सकलन उनके शिष्यो ने किया था, जो आज अपूर्ण रूप मे प्राप्त है।

तृतीय धर्मनायक सेंग्-त्सन् ने 'ह् सिन्-ह् सिन्-मिग्' ('हृदय मे विश्वास') नामक रचना की है, जो चीनी गाथाओ मे है। 'हृदय' से तात्पर्य यहा मनुष्य के मूलभूत बुद्ध-स्वभाव से है। यहा धर्मनायक ने मनुष्य के वैयक्तिक, सान्त, परिच्छिन्न मन की उस निरपेक्ष, अनन्त, अपरिच्छिन्न मन से अभिन्नता दिखाई है, जिसे बुद्ध-मन, बुद्ध-चित्त या चित्त-मात्र भी कहा गया है। यही पर मन अस्तित्व की दृष्टि से बुद्ध-स्वभाव है, तथता है और नास्तित्व की दृष्टि से शून्यता है। इसी को यहा 'हृदय' कहा गया है। सम्पूर्ण पूर्वेशिया मे 'ह् सिन्-ह् सिन्-मिग्' एक अत्यन्त लोकप्रिय रचना है और ध्यान के विद्यार्थियो द्वारा वह कण्ठस्थ की जाती है। हमारी दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बात जो यहा मिलती है, यह है कि अद्वय सत्य को यहा शून्यता का आधार बताया गया है और कहा गया है कि विना अद्वैत को समझे सत्ता का निषेध करना उसका स्वीकार करना मात्र होगा और शून्य का स्वीकार करना स्वय उसके निषेध मे पर्यवसित हो जायगा। इसलिए शून्यवाद को उसके ठीक रूप मे समझने के लिए पहले अद्वय सत्य को स्वीकार करना जरूरी है, ऐसा यहा स्पष्टत कहा गया है। 'ह् सिन्-ह् सिन्-मिग्' की गाथाओ मे एक अद्भुत ताजगी है और वस्तुओ के द्वन्द्व को पार करने का उपाय बडे आकर्षक ढग मे बताया गया है। कुछ गाथाए उद्धरणीय हैं :

"परिपूर्ण मार्ग मे कोई कठिनाइया नहीं,
बस पक्ष मे पडने से यह इन्कार करता है;
चाहने और न चाहने से विमुक्त होने पर ही
यह अपने रूप को पूरी तरह और विना छिपाये प्रकट कर देता है।

"एक वाल के बराबर भेद से भी
आकाश और धरती अलग हो जाते हैं,
यदि तुम सत्य को अपने आमने-सामने देखना चाहते हो,
तो इसके पक्ष या विपक्ष मे विचार करना छोड़ दो।

"जो तुम्हें इष्ट है,
उसे तुम उसके विरुद्ध खड़ा कर देते हो जो तुम्हें इष्ट नहीं है।
यह मन का सबसे बुरा रोग है।
जब सत्य के मार्ग का ठीक अर्थ नहीं समझा जाता,
तो मन की शान्ति भग हो जाती है और कुछ लाभ नहीं होता।

"बाहरी बन्धनो का पीछा मत करो,
आन्तरिक शून्य मे भी मत रमो,
मन जब वस्तुओ के अद्वैत में शान्त निवास करता है,
तो द्वैत अपने आप छिप जाता है।

"जब तुम गति को बन्द कर शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते हो,
तो जो शान्ति तुम्हें मिलती है, वह सदा गतिमय ही रहती है,
जब तक तुम द्वैत मे ठहरे हुए हो,
अद्वैत का साक्षात्कार तुम किस प्रकार कर सकते हो?

"और जब अद्वैत को ठीक प्रकार नहीं समझा जाता,
तो दो प्रकार की हानि होती है,
सत्ता का निषेध करना उसका स्वीकार करना हो जाता है
और शून्य का स्वीकार करना उसका निषेध बन जाता है।

"शब्दपरता और बौद्धिकता,
जितने ही ये अधिक होंगे, उतने ही हम सत्य से दूर चले जाते हैं;
इसलिए शब्दपरता और बौद्धिकता को दूर करो।
फिर कोई ऐसी जगह नहीं जहा तुम स्वतन्त्रतापूर्वक न जा सको।

"द्वैत के साथ मत रुको,
सावधानीपूर्वक इसका पीछा करना छोड़ दो।
जैसे ही तुम ठीक और गलत को अपना लेते हो,
विभ्रम शुरू हो जाता है, मन खो जाता है।

"एक है, तभी दो की सत्ता है।
पर इस एक को भी तुम मत पकडो,
जब एक मन विक्षुब्ध नहीं होता,
तो दस हजार वस्तुए भी कोई बिगाड नहीं कर सकतीं।

"और जब कोई बिगाड नहीं होता, तो दस हजार वस्तुए भी नहीं रहतीं।
द्रष्टा शान्त हो जाता है, जब दृश्य समाप्त होता है,
दृश्य समाप्त हो जाता है, जब द्रष्टा शान्त होता है।

"दृश्य द्रष्टा की अपेक्षा से ही दृश्य है,
द्रष्टा दृश्य की अपेक्षा से ही द्रष्टा है,
जानो कि इन दोनों की सापेक्षता
अन्त मे शून्य के अद्वैत पर ही अवलम्बित है।

"शून्य के अद्वैत मे दो एक हो जाते हैं,
और प्रत्येक दो के अन्दर दस हजार वस्तुए विद्यमान हैं,
जब 'इस' और 'उस' के बीच भेद नहीं किया जाता,
तो एकपक्षीय और पूर्वग्रहपूर्ण दृष्टिया पैदा ही कैसे हो सकती हैं?

"अज्ञान ही शान्ति और अशान्ति के द्वैत को पैदा करता है,
ज्ञानी न प्रेम करते हैं और न घृणा,
ज्ञानियो को किसी वस्तु की इच्छा या अनिच्छा नहीं होती,
द्वैत के सभी रूपो का मन ही अज्ञानवश निर्माण करता है,

वे स्वप्न और आकाशपुष्प के समान हैं,
उन्हे पकडने का उद्योग कर तुम अपने को व्यर्थ परेशान क्यो करते हो ?
लाभ और हानि, 'हैं' और 'नहीं'
इन्हें एक बार ही सदा के लिये छोड दो।

"जब भूततथता के गहरे रहस्य की थाह ले ली जाती है,
तो बाहरी बन्धनों को हम एकदम भूल जाते है।
जब दस हजार वस्तुए अपने अद्वय रूप मे देख ली जाती है
तो हम अपने मूल उद्गम पर लौट आते हैं,
और वहां निवास करते हैं जहा हम सदा से हैं।

"सच्ची भूततथता के उच्चतर क्षेत्र मे,
न 'पराया' है और न 'अपना',
यदि सीधे रूप मे एकत्व के बारे मे पूछा जाय,
तो हम यही कह सकते हैं कि 'दो नहीं हैं।'

"सब मे एक,
एक मे सब,
यदि केवल इसी का साक्षात्कार कर लिया जाय,
तो फिर तुम्हें अपने पूर्ण न होने की कोई चिन्ता न होनी चाहिये।

"जहां निरपेक्ष मन और वैयक्तिक व्यावहारिक मन
अविभक्त नहीं होते,
बल्कि अविभक्त ही होते हैं जहां निरपेक्ष मन और वैयक्तिक विश्वासी मन,
वहीं पर शब्द असफल हो जाते हैं,
क्योंकि शब्द उन वस्तुओ का क्या वर्णन करेंगे,
जिनका भूत नहीं, भविष्यत् नहीं, वर्तमान नहीं।"

ध्यान-सम्प्रदाय के चीन मे चौथे और पूरे 'ध्यान' की परम्परा मे इकत्तीसवें धर्मगुरु ताओ-ह्सिन् (५८०-६५१ ई०) थे। वे जब पहली बार अपने गुरु से मिलने गये तो उन्होने उनसे प्रार्थना की, "कृपा कर आप मुझे विमुक्ति का मार्ग दिखायें।" इस पर सेंग-त्सन् ने उनसे कहा, "तुम्हें बांध किसने रखा है ?"

तब ताओ-ह् सिन् ने कहा, "किसी ने नही", तो गुरु ने फिर कहा, "तब फिर तुम विमुक्ति को क्यो खोजते हो ?" ताओ-ह् सिन् के समय मे ध्यान-सम्प्रदाय की दो शाखाएं हो गईं। एक तो कुछ समय के बाद ही समाप्त हो गई और दूसरी, जिसके प्रधान हुग्-जेन् थे, प्रकृत ध्यान-सम्प्रदाय की धारा के रूप में आगे प्रवाहित हुई और आज तक चली आ रही है।

हुग्-जेन् (६०१-६७४ ई०) चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय के पाचवें और पूरी ध्यान-सम्प्रदाय-परम्परा मे बत्तीसवें धर्मनायक थे। वे अपने शिष्यो के साथ एक पर्वत पर निवास करते थे। उनके जीवन पर प्रकाश उनके शिष्य और उत्तराधिकारी हुइ-नेंग् (६३८-७१३ ई०) के निम्नलिखित वर्णन से पड़ेगा।

चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय के छठे और अन्तिम (ध्यान-सम्प्रदाय की पूरी परम्परा मे तेतीसवें) धर्मनायक हुइ-नेग् हुए, जिनके नाम का उच्चारण दक्षिणी चीन (जहा के वे निवासी थे) की प्रादेशिक बोली मे 'वे-लेंग्' किया जाता है। जापानी भाषा मे वे 'येनो' के नाम से प्रसिद्ध हैं। हुइ-नेंग् ने ध्यान-सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट चीनी स्वरूप प्रदान किया। उन्होने अपने पीछे एक ग्रन्थ भी छोड़ा है जो उनके प्रवचनो का संग्रह है और जिसे उनके मुख से सुनकर उनके एक शिष्य ने लिखा था। इस ग्रन्थ का पूरा नाम है 'छठे धर्मनायक द्वारा धर्म-रत्न[1] के उच्चासन पर भाषित सूत्र।' इसे 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' भी कहा जाता है, या 'छठे धर्मनायक का सूत्र' या 'वे-लेंग् (हुइ-नेंग्) का सूत्र' भी। चूकि इस ग्रन्थ मे निहित उपदेश भिक्षुओ के उपसम्पदा-सस्कार के लिए निर्मित एक मच पर बैठकर दिये गये थे, इसलिये इसका एक नाम 'धर्मनिधि-मंच-सूत्र' (फ-पओ-तन्-चिग्) या संक्षेप मे 'मच-सूत्र' ('तन्-चिग्') भी है। 'सूत्र' शब्द का प्रयोग साधारणतः बुद्ध या बोधिसत्वो के द्वारा दिये गये उपदेश के लिए होता है, अत हुइ-नेंग् द्वारा भाषित इस प्रवचन को 'सूत्र' नाम देकर चीनी बौद्ध धर्म की परम्परा मे उसे असाधारण सम्मान दिया गया है। हुइ-नेंग् वस्तुतः चीन की भूमि मे उत्पन्न होने वाले एक बुद्ध ही थे। 'मच-सूत्र' सम्पूर्ण एशिया के ही नही, विश्व के महत्वपूर्ण आध्यात्मिक साहित्य का एक अंग है। इस सूत्र के आरम्भ मे हुइ-नेंग् ने अपनी आध्यात्मिक जीवनी दी है और बताया है कि ध्यान-सम्प्रदाय मे उन्हें किस प्रकार श्रद्धा उत्पन्न हुई और किस प्रकार उन्होंने अपने मन के सार को वेधा। उन्होंने हमे बताया है कि वे दक्षिणी चीन के एक अपढ लकडहारे थे। बाल्यावस्था मे ही उनके पिता की मृत्यु हो गई थी और वे लकड़ी बेचकर अपना और अपनी वृद्धा माता का गुजारा करते

१ या एक अन्य अनुवाद के अनुसार 'धर्म-रथ'।

थे। एक दिन जब वे किसी घर में लकड़ी बेचकर लौट रहे थे तो बाहर सड़क पर उन्होंने किसी को वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र से कुछ अंश पाठ करते सुना। अचानक उनकी अन्तर्दृष्टि जाग पड़ी।[1] उन्होने मालूम किया कि जो आदमी सूत्र से कुछ अश पढ रहा था, वह किसी सघाराम से आया था जहा ध्यान-सम्प्रदाय के पाचवें धर्मनायक हुग्-जेन् पाच सौ भिक्षुओ के साथ रहते थे। हुई-नेंग् ने अपनी माता के गुजारे का कुछ प्रबन्ध किया और पैदल चलते-चलते एक महीने मे हुग्-जेन् के आश्रम मे पहुंचे। पहुचते ही गुरु ने परीक्षा-स्वरूप पूछा, "तुम कहां से आये हो और क्या चाहते हो?" हुइ-नेंग् ने उत्तर दिया, "मैं क्वग्तुग प्रान्त का एक किसान हू और बुद्ध होना चाहता हूं।" गुरु ने चुटकी लेते हुए कहा, "अच्छा, तो तुम दाक्षिणात्य (दक्षिणी चीन के निवासी) हो! परन्तु दाक्षिणात्यो (दक्षिणी चीन के लोगो) मे तो बुद्ध-स्वभाव होता ही नही। जगली! तुम किस प्रकार बुद्ध बन सकते हो?" हुइ-नेंग् इस उत्तर से निरुत्साहित नही हुए, बल्कि उन्होंने कहा, "उत्तरी और दक्षिणी (चीन) हैं तो बने रहे, परन्तु बुद्ध-स्वभाव के सम्बन्ध मे आप ऐसा भेद कैसे कर सकते हैं?" इस उत्तर से हुंग्-जेन् प्रभावित हुए और उन्होने नवागत तरुण को अस्तबल मे रहने का आदेश दिया। काम भी बता दिया गया—चावल कूटना और ईंधन के लिए लकड़ी फाडना। आठ महीने तक इसी काम को करते हुए हुइ-नेग् विहार के पिछवाडे मे स्थित अस्तबल मे बने रहे। जिस कक्ष मे धर्म-प्रवचन होता था, उस तक वे एक दिन भी नही गये और न गुरु ने उन्हें कोई उपदेश ही दिया।

हुग्-जेन् ने एक दिन अपने शिष्यो को सूचित किया कि वे अपना उत्तराधिकारी भिक्षु निश्चित करना चाहते हैं। अतः जो भिक्षु ध्यान-सम्प्रदाय के मर्म को प्रकट करने वाली सर्वोत्तम गाथा लिखेगा उसे ही वे अपना चीवर और भिक्षा-पात्र उत्तराधिकार-स्वरूप देंगे। हुंग्-जेन् का एक अत्यन्त पण्डित शिष्य शेन्-सियु नामक भिक्षु था। पूरे आठ फुट लम्बा, चमकीली आँखो और लम्बे कानों वाला यह आकर्षक व्यक्तित्व का भिक्षु त्रिपिटक का पण्डित होने के साथ-साथ ताओ-मत और कनफ्यूशसवाद का भी निष्णात विद्वान् था। उसने एक गाथा विहार की दीवार पर लिखी :

"शरीर बोधि वृक्ष के समान है,
और मन स्वच्छ दर्पण के समान;

---

१. वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र के जिस अश को सुनकर हुइ-नेग् को ज्ञान प्राप्त हुआ, उसके परिचय के लिए देखिये आगे तीसरा परिच्छेद।

हर क्षण हम उन्हें सावधानी से साफ करते रहते हैं,
ताकि उन पर धूल न जम जाय।"

गुरु ने इस गाथा का अनुमोदन किया, शिष्यों के सामने प्रशंसा भी की, परन्तु इससे उनका मन पूरी तरह भरा नही। उन्हें लगा कि लिखने वाले को अभी अपने मन के सार का साक्षात्कार नही हुआ है, उसने अन्दर की तथता को सच्चे रूप मे नही देखा है, अद्वय सत्य की पूरी निष्ठा अभी उसे प्राप्त नही हुई है। अस्तु, विचार-मन्थन चलता रहा। हुइ-नेंग् को भी किसी ने यह बात बतलाई। बात ऐसी हुई कि एक बार जब वे चावल कूट रहे थे, तो एक लड़का उनके पास खड़ा हुआ शेन्-सियु द्वारा रचित उपर्युक्त गाथा को पढ़ रहा था। हुइ-नेग् ने उससे पूछा, "यह गाथा क्या है ?" लडके ने कहा, "अरे जगली ! तुम्हे इतना भी पता नही। गुरु अपना उत्तराधिकारी चुनना चाहते हैं और वे उसे ही चीवर और भिक्षापात्र देंगे जो ध्यान के मर्म को प्रकट करने वाली सर्वोत्तम गाथा लिखेगा और उसी के परिणामस्वरूप शेन्-सियु ने यह गाथा प्रस्तुत की है।" "तो मेरी भी एक गाथा है। क्या तुम उसे मेरे लिए लिख दोगे ?" हुइ-नेंग् ने उस लड़के से कहा। लड़का मजाक करता हुआ बोला, "बहुत खूब ! तुम भी एक गाथा की रचना कर सकते हो ?" और उस लडके ने उनकी ओर कोई ध्यान नही दिया। पास मे एक छोटा सरकारी अधिकारी खडा था। उसने हुइ-नेंग् पर तरस खाया और बोला, "बोलो अपनी गाथा को। मैं तुम्हारे लिए लिखे देता हूं।" हुइ-नेग् लिखना नही जानते थे। उन्होने गाथा बोली और उस अधिकारी ने लिखी, जो इस प्रकार थी :

"नहीं है बोधिवृक्ष के समान शरीर,
और न कहीं चमक रहा है स्वच्छ दर्पण;
तत्वत: सब कुछ शून्य है,
धूल जमेगी कहां ?"

हुंग्-जेन् ने हुइ-नेग् को अपना चीवर और भिक्षापात्र दिया और अपना उत्तराधिकारी बनाया। उन्होने उनसे कहा, "तुम अब से छठे धर्मनायक हो। अपनी खूब सभाल रक्खो और जितने अधिक प्राणियो को मुक्त कर सको, करो। सद्धर्म का प्रचार करो और उसका अन्त मत होने दो।" परन्तु एक अपढ व्यक्ति को इस प्रकार धर्मनायक बनाये जाने पर कुछ लोगो ने असन्तोष भी

व्यक्त किया। अपने गुरु के आदेश पर हुइ-नेंग् विहार छोडकर अज्ञातवास करने चले गये। गुरु उनके सम्मान मे उन्हें मार्ग मे एक नदी के पार तक पहुंचाने गये और स्वयं नाव चलायी। पन्द्रहवी-सोलहवी शताब्दी के एक ध्यानी चित्रकार ने गुरु-शिष्य की विदाई के इस दृश्य को मार्मिकतापूर्ण ढग से अंकित किया है। मार्ग मे जब हुइ-नेंग् एक दर्रे को पार कर रहे थे तो कुछ ईर्ष्यालु लोगो ने, जिनमे मिग् नामक एक भिक्षु भी था (जो पहले सेना मे एक अधिकारी रहा था और बड़े उजड्ड और क्रूर स्वभाव का था), उन्हें पकड लिया और उनसे चीवर और भिक्षापात्र छीनने का प्रयत्न किया। चीवर को पास की एक चट्टान पर फेंकते हुए हुइ-नेंग् ने उससे कहा, "यह वस्त्र हमारे धार्मिक विश्वास का प्रतीक है। इसे बलपूर्वक ले जाने से क्या लाभ ? परन्तु यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो तुम इसे ले जा सकते हो।" मिग् ने उसे उठाने का प्रयत्न किया, परन्तु नहीं उठा सका। वह भय से कांपने लगा और बोला, "मैं धर्म को लेने आया हूँ, कपड़े को नही। मेरे प्रिय साथी ! मेरे अज्ञान को दूर करो।" छठे धर्मनायक ने उससे कहा, "यदि तू धर्म को लेने आया है, तो अपनी हविसो को छोड़। मत अच्छे का चिन्तन कर, मत बुरे का चिन्तन कर। बल्कि तेरे जन्म से पहले जो तेरा चेहरा था, उसे इस क्षण तू देख।" इन मर्म भरे वचनों को सुनकर मिग् स्तम्भित रह गया, उसके शरीर से पसीना निकलने लगा और पश्चात्ताप और कृतज्ञता के कारण वह रोने लगा। गुरु को प्रणाम करते हुए उसने उनसे पूछा, "आपके इन सारवान् शब्दो मे निहित गुह्य अर्थ के अलावा क्या अन्य भी कोई गुह्य वस्तु है ?" हुइ-नेंग् ने उत्तर दिया, "मैंने जो तुझे दिखाया है, उसमे रहस्य कुछ भी नही है। यदि तू अपने ही अन्दर विचार करे और अपने मूल चेहरे को पहचान सके जो तेरे जन्म से पहले तेरा था, तो गुह्यता तेरे अन्दर ही है।" "अपने जन्म से पहले के अपने मूल चेहरे" (अपने सच्चे स्व-भाव, बुद्ध-स्वभाव) को देखने की साधना का मौलिक उपदेश इस प्रकार हुइ-नेंग् ने दिया जो उनके दर्शन और अनुभव का सार है। सब युगो के सत्य-शोधक और आत्म-साक्षात्कार के प्रयत्न मे लगे साधक हुइ-नेंग् के इन शब्दो के अन्दर झांकती हुई गूढ अन्तर्मुखमयी साधना का अभ्यास कर सकते है और आत्म-साक्षात्कार के मार्ग मे आगे बढ सकते हैं।

लगातार सोलह वर्ष तक हुइ-नेंग् ने एकान्तवास किया। इस बीच वे निरन्तर ध्यान करते रहे और किसी ने उन्हे पहचाना तक नही। तदनन्तर उन्होने उपदेश देना आरम्भ किया और उनके शिष्यो की सख्या, जिनमे विरक्त और गृहस्थ दोनो ही थे, काफी हो गई। उनके श्रोतावर्ग मे ताओ-मत और कनफ्यूशस-

वाद को मानने वाले साधारण पुरुषो और विद्वानो की भी संख्या काफी अधिक होती थी। अन्त मे जब उनका मृत्यु-काल समीप आया तो उससे एक मास पूर्व उन्होंने अपने शिष्यो को इकट्ठा किया और उनसे कहा कि उपदिष्ट सत्य के बारे मे यदि उन्हें कोई शकाए या जिज्ञासाए हो तो अन्तिम बार वे उनका समाधान करवा ले, क्योंकि अब उनके जाने का समय आ रहा है। इस पर उनके शिष्य रोने लगे। तब उन्होने उनसे कहा, "तुम सब रो रहे हो, परन्तु तुम क्यो दुःखी होते हो? यदि तुम यह सोचकर दुःखी हो रहे हो कि मुझे नही मालूम कि मैं कहा जा रहा हू तो तुम गलती पर हो, क्योकि मुझे मालूम है कि मैं कहा जा रहा हूं। सचमुच, यदि मुझे यह मालूम न होता तो मैं तुमसे अलग होता ही नही। तुम्हारे रोने का कारण सम्भवत. यह है कि तुम स्वय ही यह नही जानते कि मैं कहां जा रहा हू। यदि तुम इसे जानते होते तो इस प्रकार नही रोते। धर्म के सार का न जन्म होता है, न मृत्यु। न उसका कही आगमन होता है और न निर्गमन। तुम सब बैठो। मैं तुम्हे निर्गुण (निरपेक्ष) पर गाथा सुनाता हूँ।" इतना कहकर उन्होने अपने शिष्यो को कुछ गाथाएं सुनाईं। 'निर्गुण' या 'निरपेक्ष' पर कही हुई ये गाथाए ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य मे अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। इनमे हुइ-नेंग् ने मुख्य रूप से बताया है कि 'सत्य' और 'मिथ्या' तथा 'चल' और 'अचल' परस्पर-विरोधी विचार हैं और जब तक यह आपेक्षिक विरोध विद्यमान है, तब तक सच्चा आत्म-ज्ञान नही हो सकता। 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' के दसवें परिच्छेद मे ये गाथाएं दी गई हैं और इस प्रकार हैं :

"कहीं कुछ सत्य नहीं है,
सत्य कहीं दिखाई नहीं पड़ता;
यदि तुम कहो कि तुम सत्य को देखते हो,
तो यह देखना सत्य नहीं है।[1]

"यदि सत्य को तुम उसके हाल पर ही छोड़ दो,
तो फिर उसमे कुछ मिथ्या नहीं, यह मन ही है।

---

१ क्योंकि निरपेक्ष सत्य अपने को द्रष्टा और दृश्य के द्वैत में विभक्त होने देने से इन्कार करता है।

जब मन ही अपने आप में मिथ्यात्व से विमुक्त नहीं होता,
तो कुछ भी सत्य नहीं, सत्य कहीं देखने को नहीं मिलता।

"चेतन प्राणी ही जानता है कि 'चलना' क्या है,
जिसके चेतना नहीं, उसके लिये चलने की क्रिया का समझना सम्भव नहीं;
यदि तुम अपने मन को समाधि की निश्चलता की अवस्था मे रखने का प्रयत्न करो,
तो जिस अचलता को तुम प्राप्त करते हो वह उसकी है, जिसके चेतना नहीं।

"यदि तुम्हें उसकी तलाश है, जो सचमुच मे अचल है,
तो अचल चल मे ही है,
और यह अचल ही सच्चा अचल है;
जहा चेतना नहीं, वहा बुद्धत्व का बीज भी नहीं है।

"ध्यान से देखो कि अचल के कितने विभिन्न रूप हैं
और जानो कि अचल ही प्रथम सत्यता है।
जब यह अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर ली जाती है,
तो भूततथता की सच्ची प्रक्रिया समझ मे आ सकती है।

"सत्य के विद्यार्थियो! मैं तुम्हें सलाह देता हूं,
ठीक दिशा मे प्रयत्न करो;
महायान की शिक्षाओं में
जन्म और मृत्यु के सापेक्ष ज्ञान मे लिपटने का अपराध मत करो।

"जहा दृष्टियों की सब ओर से सगति मिल जाय,
वहां तुम सब मिलकर बुद्ध के उपदेश के सम्बन्ध मे
बातें कर सकते हो,
परन्तु जहां ऐसी सगति न मिले,
तो वहा अपने हाथ जोड़ो
और अपने आनन्द को अपने अन्दर ही रक्खो।

"इस शिक्षा में ऐसा कुछ नहीं है, जिसके
सम्बन्ध में तर्क किया जाय,
कुछ भी तर्क करना इसके उद्देश्य के विपरीत चला जायगा;
विभ्रम और तर्कवाद से भरे सिद्धान्त
जन्म और मरण की ओर ले जाते है।"

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, हुई-नेग् चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय के छठे और अन्तिम धर्मनायक थे। उन्होने अपना उत्तराधिकारी कोई धर्मनायक नही बनाया और आगे के लिए भी आदेश दिया कि कोई धर्मनायक न बनाया जाय—अपने शिष्यो से उन्होने कहा, "तुम सब सशयों से रहित हो। इसलिए तुम सब इस सम्प्रदाय के उच्च उद्देश्यो को कार्यान्वित करने मे समर्थ हो।" बोधिधर्म के शब्दो को हुइ-नेंग् ने अपने शिष्यो के सामने दुहराते हुए कहा, "चीन मे मेरे आने का उद्देश्य उन सब लोगो को मुक्ति का सन्देश प्रेषित करना था, जो मोह मे पड़े हुए थे। पाच पंखुडियो मे यह फूल पूरा होगा। उसके बाद स्वाभाविक रूप से फल परिपक्व होगा।" बोधिधर्म की वाणी सर्वांश मे सत्य निकली। बौद्ध ध्यानी सन्तो के ज्ञान का चरम विकास तग् (६१६–६०५ ई०), सुंग् (६६०–१२७८ ई०) और यूआन् (१२०६—१३१४ ई०) राजवशो के शासन-काल मे सातवी से तेरहवी-चौदहवी शताब्दियो के बीच हुआ और यही शताब्दियां चीनी संस्कृति का स्वर्ण-युग मानी जाती हैं। इसी काल मे ध्यान-सम्प्रदाय का ताओ-मत और कनफ्यूशसवाद के साथ समन्वय हुआ और ध्यान-सम्प्रदाय के अनेक प्रसिद्ध सन्त और आचार्य भी इसी युग मे हुए, जैसे कि म-त्सु (जापानी उच्चारण 'बसो'), पे-चङ् (जापानी उच्चारण 'ह्यकुजो'), लिन्-चि (जापानी उच्चारण 'रिंजई'), और युन्-मेन् (जापानी भाषा मे 'उम्मन') आदि।

तेरहवी-चौदहवी शताब्दी के बाद महायान बौद्ध धर्म का एक अन्य सम्प्रदाय जो अमिताभ की भक्ति और उनके नाम-जप पर जोर देता है, अधिक प्रभावशाली हो गया। इसका नाम जोदो-शू या सुखावती-सम्प्रदाय है। चीन और जापान मे आज भी सबसे अधिक प्रभावशाली सम्प्रदाय यही है और इसी के अनुयायियो की संख्या सबसे अधिक है। वस्तुत यह सम्प्रदाय चीन और जापान के निवासियो का लोक-धर्म ही बन गया है। अन्य एक दर्जन से अधिक बौद्ध सम्प्रदाय प्रभावशाली रूप मे चीन और जापान मे विद्यमान हैं, जिनके इतिहास मे जाना यहां उचित न होगा।

छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् के समय मे ध्यान की साधना-पद्धति और सत्य-प्राप्ति की प्रक्रिया को लेकर दो विचार-धाराएं प्रचलित हो गईं। उनमे से एक यह मानती है कि सत्य की प्राप्ति क्रमश, धीरे-धीरे, साधना का विकास करते हुए होती है। इसे 'क्रमवृत्य' कहा जाता है। चीन के उत्तरी भाग मे इसका प्रचार हुआ। इसलिए इसे ध्यान की 'उत्तरी शाखा' भी कहते हैं। दूसरी विचार-धारा यह मानती है कि सत्य की प्राप्ति किसी क्रमिक विकास के अनुसार नही होती, बल्कि जब होती है तो अचानक ही, एक बार ही, हो जाती है। इसे 'युगपद्' कहा जाता है। इस विचार-धारा का प्रचार दक्षिणी चीन मे हुआ। इसलिए इसे ध्यान की 'दक्षिणी शाखा' भी कहा जाता है। हुइ-नेंग् 'युगपद्' सत्य-प्राप्ति मे विश्वास करते थे, जबकि उनके गुरु भाई शेन्-सियु (जिनकी गाथा का अनुमोदन करते हुए भी गुरु हुंग्-जेन् ने उसे सर्वश्रेष्ठ नही माना था) क्रमिक या 'क्रमवृत्य' सत्य-प्राप्ति मे। वास्तव मे सत्य-प्राप्ति की प्रक्रिया का यह दो शाखाओ मे विभाजन अधिकारियो की कम या अधिक योग्यता के आधार पर ही किया गया है और पारमार्थिक नही है। स्वय हुइ-नेंग् ने कहा है, "धर्म को हम 'युगपद्' और 'क्रमवृत्य' के रूप मे विभक्त नही कर सकते, बल्कि इसका केवल तात्पर्य यही है कि कुछ लोग अन्य की अपेक्षा अधिक शीघ्र ज्ञान प्राप्त कर सकते है। जो स्मृतिशील या जागरूक हैं वे सहसा, एकदम, सत्य का साक्षात्कार कर लेते हैं, जबकि जो मोह मे पडे हैं, उन्हें धीरे-धीरे, क्रमशः, अपने को शिक्षित करना होता है। परन्तु जब हम अपने मन को जान लेते हैं, अपने स्वभाव का साक्षात्कार कर लेते है, तो यह भेद समाप्त हो जाता है। इसलिए 'युगपद्' और 'क्रमवृत्य' शब्द प्रतीयमान हैं, वास्तविक नही।"[१] ध्यान-सम्प्रदाय मे 'युगपद्' सत्य-प्राप्ति पर ही अधिक बल दिया गया है। जीवन थोडा है, जब तक हम तैयारी करते हैं और वस्तुओ को समझने का प्रयत्न करते हैं, तब तक वह निकल जाता है। इसलिए एकदम ही जल मे कूद पड़ना चाहिए, निर्भयता के साथ और किसी भी विचार को अवकाश न देते हुए। सत्य के जल मे अपने को एकदम गिरा देना चाहिए, इस प्रकार का विचार चीनी जन-मानस के अधिक अनुकूल है, अत आकस्मिक रूप से अन्तर्बोध जगाने वाली 'युगपद्' साधना-विधि का ही ध्यान-सम्प्रदाय मे अधिक ग्रहण हुआ है। आजकल जापान मे भी ध्यान के जितने सम्प्रदाय प्रचलित हैं, सब प्राय 'युगपद्' सत्य-प्राप्ति मे ही विश्वास करते हैं।

---

१. दि सूत्र ऑव वे-लॅंग् (हुइ-नेंग्), पृष्ठ ४८।

हुइ-नेंग् का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी था कि उन्होने ताओ-मत के सन्दर्भ मे बौद्ध धर्म की व्याख्या की। उन्होने 'ताओ' (जिसका मूल अर्थ विराट्, मार्ग या आदि तत्त्व है) और 'धर्म' शव्द का प्रयोग समान अर्थ में किया है और उनके वाद के कई अन्य ध्यानाचार्यों ने भी इस वारे मे उनका अनुसरण किया है। यह आश्चर्यजनक नही है कि ध्यान-सम्प्रदाय ने 'ताओ' को नया जीवन दिया और कनफ्यूशसवाद के व्यावहारिक नीतिवाद ने बौद्ध धर्म मे अपनी समता और परिपूर्णता देखी।

अव हम जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास पर आते हैं। जापान मे वैसे तो बौद्ध धर्म का प्रचार कोरिया की मध्यस्थता से छठी शताव्दी ईसवी मे ही आरम्भ हो गया था जवकि कुदारा (कोरिया का एक प्रदेश) के राजा ने तत्कालीन जापानी सम्राट् के पास सन् ५५२ ई० मे शाक्यमुनि की एक कांस्य प्रतिमा, कुछ सूत्र-ग्रन्थो और अन्य धार्मिक वस्तुओ को भेंट-स्वरूप भेजा, परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय का सर्वप्रथम प्रचार वहा यूआन्-च्वुआङ् के शिष्य दोशो (६२९-७०६ ई०) ने सातवी शताव्दी के अन्तिम और आठवी शताव्दी के आदि भाग मे किया। इसके वाद ताओ-ह्सुआन् नामक चीनी विचारक ने ध्यान-सम्प्रदाय का प्रचार जापान मे किया। ताओ-ह्सुआन् के शिष्य गोद्यो तथा उनके शिष्य सेचो (डेंग्यो डेशी) ने आठवी शताव्दी मे ध्यान का प्रचार किया। इस प्रकार सातवी-आठवी शताव्दी मे जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय का प्रचार आरम्भ हुआ। परन्तु जड़ें उसने जापानी भूमि मे तभी जमाईं जव तेन्दई बौद्ध सम्प्रदाय के येइ-साइ (११४१-१२१५ ई०) नामक जापानी भिक्षु ने चीन मे जाकर ध्यान-सम्प्रदाय का अध्ययन किया और जापान लौटकर क्योतो नगर मे सन् ११९१ ई० मे एक ध्यान-मठ स्थापित किया। तदनन्तर कामाकुरा मे भी ध्यान-सम्प्रदाय का एक सघाराम वना। ध्यान-सम्प्रदाय की जिस शाखा का येइ-साइ ने जापान मे प्रचार किया, उसके मूल प्रवर्तक रिंज़ई (चीनी, लिन्-चि) नामक चीनी महात्मा थे, अत. उनके नाम पर ही इस शाखा का नाम जापान मे 'रिंज़ई' सम्प्रदाय पडा है। रिंज़ई का आविर्भाव नवी शताव्दी मे हुआ। उनकी जन्म-तिथि का पता नही है, परन्तु उनकी मृत्यु सन् ८६७ ई० मे हुई। 'रिंज़ई के प्रवचन' ('लिन्-चि-लु') शीर्षक से एक पुस्तक चीनी भाषा मे मिलती है, जिसका इस सम्प्रदाय के अनुयायी वड़े मनोयोग से अध्ययन करते हैं। रिंज़ई सम्प्रदाय चीन मे तो सवसे अधिक प्रभावशाली ध्यान-सम्प्रदाय था ही, अपने जापान के इतिहास में भी उसने दाए-ओ (१२३५-१३०८ ई०), देतो (१२८२-१३३६ ई०), क्वंज़न् (१२७७-१३६० ई०) और हेकुयिन् (१६८५-१७६८ ई०) जैसे प्रभाव-

शाली विचारक और सन्त दिये हैं। क्वंजन् (कज़न् भी) एक अत्यन्त उच्चकोटि के साधक महात्मा थे। काफी वर्षों तक अज्ञातवास मे ही गरीबी का जीवन बिताते रहे और बाद मे अपने गुरु के अनुरोध का पालन कर समाज मे आये। एक बार एक धनी व्यक्ति उनसे मिलने आया और धर्म-संलाप के बाद उसने प्रस्ताव किया कि गुरुवर का विहार बहुत टूट-फूट गया है, अतः उसे उसकी मरम्मत कराने की आज्ञा दी जाय। कज़न् ने उसे 'मूर्ख' कहते हुए फटकारा और कहा कि वह उनसे धर्म पर संलाप करने आया है और इसे करने के बाद उसे वहा से चले जाना चाहिये। उसे भिक्षु के निवास के बारे मे बात करने से क्या मतलब ? मृत्यु भी उन्होने बडे अनायास रूप से पाई। जब उनका अन्त समय समीप आया तो उन्होने विनोदपूर्वक अपने सेवक-शिष्य से कहा, 'मेरी टोपी लाओ। मैं यात्रा पर जाऊंगा।' सेवक टोपी लेकर आया तो गुरु ने उसे कुछ दूर अपने साथ चलने को कहा। पास के एक गड्ढे के पास पेड के नीचे अपने डडे का सहारा लेकर क्वजन् खडे हो गये और सेवक-शिष्य से बोले, 'तुम्हारे सिवा मेरे जाने का किसी को पता नही है। तुम इस देश मे ध्यानाभ्यास का विकास करना।' इतना कहते-कहते डडे के सहारे खडे हुए ही चिर समाधि मे लीन हो गये।

जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय के प्रचार की एक विशेषता यह रही है कि यहां ध्यानी सन्तो (विशेषतः रिंज़ई सम्प्रदाय के अनुयायियो) ने जापानी सम्राटो के सहयोग से काम किया, अतः उन्हे राज्याश्रय तो मिला ही, जापानी राष्ट्रीय भावना के साथ भी ध्यान-सम्प्रदाय का अधिक सयोग हुआ (चीनी ध्यानी सन्त अक्सर सम्राटो और उनके वंशजो के प्रति अनादर की भावना रखते थे) और यही कारण है कि जापान की परम्परागत युद्धजीवी राजपूत जाति समूराई का वह अपना धर्म हो गया और अब तक है। येइ-साइ ने बारहवी शताब्दी मे जापानी भाषा मे 'कोज़न-गोकोकु-रोन्' शीर्षक एक पुस्तक लिखी, जिसका अर्थ है 'ध्यान के प्रचार के रूप मे राष्ट्र की सुरक्षा'। इसमे उन्होने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि ध्यान-सम्प्रदाय के प्रचार से जापानी राष्ट्र की समृद्धि होगी। येइ-साइ ने सिपाहियो मे भी ध्यान-सम्प्रदाय का प्रचार किया, जिससे उनमे अन्तर्निरीक्षण और उत्तरदायित्व की भावना बढी। आज तक जापानी सैनिको मे ध्यान-सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय है और मनोबल और अनुशासन के लिए उसका अभ्यास आवश्यक माना जाता है। येइ-साइ के बाद उनके शिष्य दो-गेन् (१२००-१२५३ ई०) ने ध्यान-सम्प्रदाय की सोतो (चीनी, त्साओ-तुग्) नामक शाखा की स्थापना सन् १२२७ ई० मे की। यह शाखा अपना सम्बन्ध छठे धर्मनायक हुइ-नेंग्, उनके शिष्य चिग्-युआन् (मृत्यु ७४० ई०) और उनके शिष्य शिह्-ताउ

(जिनका जापानी भाषा मे उच्चारण 'सेकितो' है और जिनका समय ७००-७६० ई० है) से मानती है। इसके दो प्रभावशाली गुरुओ के नाम थे—त्साओ-शन्-पेंची, जिसका जापानी उच्चारण है सोज़न होनजाकू (८३९-६०१ ई०) और उनके गुरु तुग्-शन्-लियाग्-चिह्, जिनके नाम का जापानी उच्चारण है तोज़न र्योकइ (८०७-८६६ ई०)। इन्ही दो गुरु-शिष्यो के नामो के प्रथम अक्षरो को जोड़कर यह शाखा चीन मे 'त्साओ-तुग्' तथा जापान मे 'सोतो' कहलाती है। यह सम्प्रदाय जापान मे आज संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक प्रभावशाली ध्यान-सम्प्रदाय है। जापान मे इसकी स्थापना दो-गेन् नामक महात्मा ने की, यह हम ऊपर देख चुके हैं। दो-गेन् जापानी इतिहास मे एक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के धार्मिक नेता और विचारक हो गये हैं। उन्होंने ज्ञान और उसके अभ्यास के समन्वय पर बल दिया है। दो-गेन् ने एक पहाड़ी पर गरीबी और ध्यान का जीवन बिताया। धनी और ऊँचे पदो पर स्थित लोगो से मिलना उन्हें बिलकुल पसन्द नही था। जापानी सम्राट् की ओर से उन्हें कई बार मूल्यवान् भेंटें और सम्मान अर्पित करने की इच्छा प्रकट की गई, परन्तु उन्होने उन्हें स्वीकार नही किया। एक बार जब सम्राट् ने उनसे एक बहुमूल्य बैगनी रग के वस्त्र की भेंट को स्वीकार करने का बहुत आग्रह किया, तो उन्होंने उसे स्वीकार तो कर लिया, परन्तु पहना कभी नही। इस समय उन्होंने कुछ पक्तियां लिखी, जिनका भाव यह है कि मैं यहा पहाड़ की घाटी मे रहता हूं, जहा बन्दर और सारस मेरे साथी और मित्र है। वे मनुष्य के समान लोभ की भावना से पराक्रान्त नही हैं। जब वे मुझ जैसे वृद्ध, गंवार भिक्षु को सांसारिक वैभव के प्रतीक बैगनी रंग के वस्त्र को पहने देखेंगे, तो क्या वे मुझ पर नही हँसेंगे ? "एही की यह घाटी हल्की है, परन्तु भारी है निश्चयतः राजकीय आज्ञा। जगल के ये बन्दर और सारस एक वृद्ध भिक्षु को नीलारुण वस्त्र पहने देख क्या नही हँसेंगे ?" जापानी संस्कृति के इतिहास मे दो-गेन् का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। जापानी भाषा मे उन्होने ६५ निबन्ध लिखे हैं, जो ध्यान-सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण सम्पत्ति माने जाते हैं। ध्यान-सम्प्रदाय की एक तीसरी शाखा 'ओबाकु' कहलाती है, जिसकी स्थापना इजेन (१५६२-१६७३ ई०) नामक चीनी भिक्षु ने सन् १६४५ ई० में जापान मे की। मूल रूप से इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुआङ्-पो नामक चीनी महात्मा थे, जिनका समय नवी शताब्दी ईसवी है और जो छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् की शिष्य-परम्परा की तीसरी पीढ़ी में थे। चूकि यह महात्मा चीन मे हुआङ्-पो नामक पर्वत पर निवास करते थे, इसलिये उनका नाम भी हुआङ्-पो पड़ गया

था (चीन मे अन्य अनेक ध्यानाचार्यों के भी ऐसे उदाहरण हैं जिन्हे उस नाम से ही पुकारा जाने लगा, जहा वे निवास करते थे)। उनके नाम से सम्बद्ध यह सम्प्रदाय भी चीनी भाषा मे 'हुआड्-पो' कहलाता है। 'हुआड्-पो' का ही जापानी उच्चारण 'ओवाकु' है। अत. 'ओवाकु' नाम से ही यह सम्प्रदाय जापान मे प्रसिद्ध है। हुआड्-पो (ओवाकु) के प्रवचनो, सवादो और जीवन-प्रसगो का सकलन उनके समकालीन एक चीनी विद्वान् (पी-ह्स्यू) ने किया था जो आज मिलता है। इसमे साधारण जीवन की भाषा मे 'एक मन' के सिद्धान्त को समझाया गया है। चीनी ध्यानी-साहित्य की यह एक अमर रचना है और इसका स्थान छठे धर्मनायक द्वारा भाषित 'सूत्र' के वाद ही माना जा सकता है। 'ओवाकु' सम्प्रदाय की एक बडी विशेषता यह है कि यह बुद्ध के नाम-जप मे विश्वास करता है और उसके द्वारा मुक्ति-प्राप्ति सम्भव मानता है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय का जोदो-शू या सुखावती-सम्प्रदाय से गहरा सम्बन्ध है, जिसका मूल-मन्त्र ही अमिताभ वुद्ध के नाम का जप करना है। आजकल 'ओवाकु' सम्प्रदाय 'रिंज़ई' सम्प्रदाय मे ही अन्तर्भुक्त हो गया है। वैसे भी ऐतिहासिक रूप से रिंज़ई ओवाकु (हुआङ्-पो) के शिष्य ही थे। ध्यान-सम्प्रदाय की जितनी भी शाखाएं आज चीन और जापान मे प्रचलित हैं, सब ध्यान की शिक्षा पर ही आधारित हैं और उन सबके मूल स्रोत भगवान् शाक्यमुनि बुद्ध ही हैं। ध्यान की प्रक्रिया-सम्बन्धी कुछ गौण वातो, जैसे 'कोआन्' और 'सटोरी' (देखिये आगे ध्यान-सम्प्रदाय की साधना-विधि का वर्णन) को कम या अधिक महत्व देने के कारण इनमे कुछ अन्य विभिन्नताए पाई जाती हैं। उदाहरणत गुरु-शिष्य के वीच होने वाले प्रश्नोत्तरमय सवाद (कोआन्) को रिंज़ई सम्प्रदाय मे आध्यात्मिक प्रकाश (सटोरी) को प्राप्त करने के लिए एक आवश्यक साधन के रूप मे गृहीत किया गया है, जब कि सोतो सम्प्रदाय चिन्तनात्मक अधिक है और दीवार के सामने मुख कर आसन मार कर ध्यान करने की साधना पर जोर देता है। इन छोटी-मोटी वातो को छोडकर 'ध्यान' के सव सम्प्रदायो मे आधारभूत एकता है। वौद्ध धर्म के करीव एक दर्जन से अधिक प्रभावशाली सम्प्रदाय इस समय जापान मे प्रचलित हैं। ध्यान-सम्प्रदाय उन सब मे सख्या की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली तो नही है (सुखावती-सम्प्रदाय के अनुयायियो की संख्या सबसे अधिक है और कुछ अन्य सम्प्रदायो के अनुयायी भी 'ध्यान' से अधिक हैं), परन्तु फिर भी करीव एक करोड से ऊपर लोग उसके अनुयायी हैं। करीब २२,५०० ध्यान-मन्दिर इस समय इस सम्प्रदाय के जापान मे हैं, जिनमे से १६,००० सोतो सम्प्रदाय के हैं, ६००० रिंज़ई सम्प्रदाय

के और ५०० ओवाकु सम्प्रदाय के। ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षुओ की सख्या भी लगभग ३६,००० है। जापानी जीवन का कोई ऐसा पहलू नही है जिस पर ध्यान-सम्प्रदाय का प्रभाव अकित न हो। क्या साहित्य, क्या कला, क्या व्यक्तिगत वर्ताव और क्या समाज-नीति, सभी मुक्तकण्ठ से ध्यान-सम्प्रदाय के प्रभाव को घोषित करते हैं। काव्य, नाटक, आख्यान-गीति (जिसका जापान मे बहुत प्रचार है), चित्रकला, वास्तुकला, यहां तक कि घर की सजावट, साग-भाजी बनाने की कला और तीर और तलवार चलाने की कला मे भी ध्यान-सम्प्रदाय का विशिष्ट प्रभाव जापानी जन-जीवन पर अकित है। जापानी सैनिको पर उसकी जो अमिट छाप है, उसका तो कुछ कहना ही नही। सैनिक चेतना का इतना आकर्षक सयोग आध्यात्मिक साधना के साथ ध्यान-सम्प्रदाय मे हुआ है कि इस दृष्टि से उसकी तुलना भारतीय सिख-सम्प्रदाय से आसानी से की जा सकती है। और दोनो सन्त-मत तो है ही, जिनमे वीरता के साथ-साथ मानवीय आत्मा की दीनता, निरीहता और पूर्णता के लिए उसकी पूरी छटपटाहट और विकलता भी प्रकट हुई हैं। जापानी योद्धाओ की एक वीरता-नीति है जो 'बुशिदो' कहलाती है। उस पर ध्यान की मानसिक शिक्षा का अमिट प्रभाव पड़ा है। जापान के इतिहास मे उसके निवासियो पर जो सबसे बड़ी विपत्ति आई, वह तेरहवी शताब्दी मे दो बार मगोलो का आक्रमण था। उसे जापानियो ने परास्त किया और जिस व्यक्ति के हाथ मे इसकी बागडोर थी, वह ध्यान-सम्प्रदाय की शिक्षा पाया हुआ था। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय जापान के राष्ट्रीय इतिहास के साथ गहरे रूप से सम्बद्ध हो गया है। जापानी संस्कृति के प्राण-तत्वो का उसने निर्माण किया है और उसकी प्रगति से वह सर्वत्र एकाकार रहा है। शत्रु के प्रति एक विशेष प्रकार का आध्यात्मिक प्रेम जापान के 'बुशिदो' आदर्श की एक विशेषता है। इसे ध्यान-सम्प्रदाय की ही देन माना जाता है। उपर्युक्त मगोल युद्ध के बाद मृत आत्माओ की शान्ति के लिए एक मन्दिर (ऐंगाकु-जी) कामाकुरा मे सन् १२८२ ई० मे बनवाया गया था और यह उल्लेखनीय है कि वह जापानी और मंगोल (विदेशी आक्रान्ता) दोनो ही मृत सिपाहियो की शान्ति के लिए समर्पित था। यह उदार सैनिक भावना विस्तृत रूप से बौद्ध धर्म की ही देन है, इसे बौद्ध धर्म के अन्य देशो मे इतिहास से भी जाना जा सकता है। उदाहरणत. सिंहली राजा दुष्ट ग्रामणी (१०१ ई० पूर्व से ७७ ई० पूर्व तक) ने अपने शत्रु तमिल नेता एलार की मृत्यु के बाद उसके शव का राजकीय सम्मान से दाह-कर्म करवाया था, उसके ऊपर एक स्मारक बनवाया था और आज्ञा दी थी कि उसके समीप गाना

आदि न किया जाय। ध्यान-सम्प्रदाय ने शत्रु के प्रति प्रेम और उदारता की यही भावना जापान को दी। साथ ही उच्च मनोबल का विकास, निर्णय लेने की शक्ति और कठिन श्रम की भावनाए ध्यान-सम्प्रदाय ने जापान के सैनिक और असैनिक जीवन को दी हैं। जापानी सस्कृति की शालीनता का यदि उच्चतम रूप देखना हो तो चाय-संस्कार मे ही देखा जा सकता है, जो ध्यान-सम्प्रदाय का एक अनुष्ठान है, जिसका परिचय हम आगे यथास्थान देंगे। जापानी जीवन पर ध्यान-सम्प्रदाय के व्यापक प्रभाव का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध जापानी विद्वान् तकाकुसु ने कहा है कि सादगी, पवित्रता और ईमानदारी के आदर्श की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति बौद्ध धर्म के ध्यान-अभ्यास मे ही हो सकती है और वर्तमान काल मे जापान की शिक्षा-व्यवस्था मे ध्यान-सम्प्रदाय के विचारो को जापान के राष्ट्रीय जीवन से अलग नही किया जा सकता।[1]

---

१ दि एसेन्शियल्स ऑव बुद्धिस्ट फिलासफी, पृ० १७३ (एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९५६)। जापानी सस्कृति पर ध्यान-सम्प्रदाय के प्रभाव के विस्तृत वर्णन के लिए देखिये सुजुकी जेन एण्ड जापानीज़ बुद्धिज़्म, पृष्ठ १३०–१४२ भी। देखिये उनकी पूरी पुस्तक 'जेन् एण्ड इट्स इन्फ्लुएन्स ऑन जापानीज़ कल्चर' (क्योतो, १९३८) भी।

तीसरा परिच्छेद

साहित्य

ध्यान-सम्प्रदाय 'शास्त्रो से बाहर एक विशेष सप्रेषण' है। अत. उसके स्वय के अन्दर शास्त्र हो, यह सम्भव नही। शास्त्र अर्थात् स्वत. प्रामाण्य लिये हुए पावन धार्मिक ग्रन्थ। ऐसी कोई वस्तु ध्यान-सम्प्रदाय मे नही है। लेख मात्र मे ध्यानी साधको को अधिक आस्था नही है। शब्दो और वर्णों पर वे अधिक निर्भरता नही मानते। फलत जो कुछ लिख दिया गया है, दूसरो के अनुभवो के लेख के रूप मे हमे प्राप्त है, उसका भी गौरण महत्व है। वह सहायक है, परन्तु उससे सावधान रहने को भी कहा गया है। वह स्वानुभव के स्थान को न ले ले, इसके लिए ध्यानी साधक सचेष्ट हैं। सत्य की सीधी अवगति—निरावरण, निर्विकल्प, निरपेक्ष सत्य को अपने आप देखना—ध्यानी साधना का लक्ष्य है। अत लिखित साहित्य को उसमे अधिक महत्व नही मिल सका है। यही कारण है कि महान् से महान् ध्यानी साधको ने भी लिखने की उत्सुकता प्रकट नही की है और न उन्होने कुछ लिखित साहित्य ही छोड़ा है। अनेक के प्रवचनो को उनके शिष्यो ने सकलित किया है। कुछ-एक उदाहरण ऐसे भी हैं जबकि रचनाओ को व्यावहारिक रूप मे उपयोगी न समझ कर तेजस्वी ध्यान-साधको द्वारा उन्हे नष्ट तक कर दिया गया है। तेह्-शन् (७९०-८६५ ई०) ने 'वज्रच्छेदिका' पर लिखी अपनी बहुमूल्य व्याख्याए इसी प्रकार जला डाली थी। प्रारम्भिक साधको को ध्यान-सम्प्रदाय मे सावधान किया जाता है कि वे अपने अनुभवो को लेखबद्ध करने की उतावली न करें। इतना सब कुछ होने पर भी यह एक तथ्य है कि ध्यान-सम्प्रदाय का एक विशाल परिमाण मे साहित्य उपलब्ध है जो अपनी अभिव्यक्ति की मौलिकता मे अद्वितीय है और जिसे आध्यात्मिक अनुभवो का एक महान् भाण्डार कहा जा सकता है। कोई साधना पुस्तकीय ज्ञान का कितना ही निराकरण क्यो न करे, अन्त मे शब्द आध्यात्मिक अनुभवो के महत्वपूर्ण वाहन रह ही जाते हैं और उनका सहारा लेना ही पडता है। यह मनुष्य के स्वभाव की आवश्यकता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते वह अपने अनुभवो को किसी न किसी प्रकार व्यक्त करना ही चाहता है।

ध्यान सम्प्रदाय मे भी इसका प्रतिफलन हुआ है और इसके परिणामस्वरूप हमे विश्व-साधना की कोटि मे आने वाली कई महत्वपूर्ण रचनाए मिली हैं।

लंकावतार-सूत्र

ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य मे मूर्द्धन्य स्थान का अधिकारी ग्रन्थ 'लंकावतार-सूत्र' है जो दस परिच्छेदो (परिवर्तों) मे विभक्त एक गहन सस्कृत दार्शनिक ग्रन्थ है। जापानी विद्वान् बुनयु नजियो द्वारा सम्पादित इसका देवनागरी संस्करण ओतानी यूनीवर्सिटी प्रेस, क्योतो (जापान) से सन् १९२३ मे निकला था। यही से इसका दूसरा सस्करण सन् १९५६ मे निकला है। ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास मे आरम्भ से ही 'लकावतार-सूत्र' का बडा आदर रहा है। वैसे तो सामान्यत यह माना जाता है कि बोधिधर्म अपने साथ कोई ग्रन्थ नही ले गये थे, परन्तु एक मान्यता यह भी है कि वे अपने साथ लंकावतार-सूत्र की प्रति को चार पुलिन्दो मे चीन ले गये थे और उसे अपने शिष्य हुइ-के को देते हुए उन्होने उनसे कहा था, "मैंने अनुभव किया है कि चीन मे कोई सूत्र नही है। अपने मार्ग-दर्शन के लिए तुम इसे ग्रहण करो। इससे तुम सहज ही जगत् का उद्धार करने मे समर्थ होगे।...इसमे तथागत की मानस-भूमिका सम्बन्धी गुह्य शिक्षाए सार रूप मे वर्णित हैं। यह समस्त प्राणियो को आध्यात्मिक प्रवृत्ति और प्रज्ञा की ओर ले जाने वाला है।" बोधिधर्म और हुइ-के के साथ इस प्रकार सम्बन्धित होने के कारण 'लकावतार-सूत्र' ध्यान-सम्प्रदाय का अत्यन्त महत्वपूर्ण और आधारभूत ग्रन्थ बन गया है। चीन और जापान मे इस सूत्र के अनुशीलन का अपना एक अलग इतिहास ही है। हुइ-के ने अपने न और मन नामक शिष्यो को इस सूत्र के गुह्य सन्देश से परिचित कराया और उन्होने भी इस क्रम को आगे अपने शिष्यो के लिए जारी रखा। इस प्रकार यह परम्परा पीढियो तक चलती रही। चूंकि हुइ-के के ये सब शिष्य-प्रशिष्य लकावतार-सूत्र के प्रकाण्ड पण्डित थे और लकावतार-सूत्र को आधार मानकर ही अपने उपदेश देते थे, अत. इतिहास मे वे 'लकावताराचार्य' के नाम से ही प्रसिद्ध हो गये हैं। सातवी शताब्दी ईसवी मे फ-चुग् नामक चीनी भिक्षु ने लकावतार-सूत्र का विशेष अध्ययन किया। उसने इस ग्रन्थ के मर्म को समझाते हुए दो सौ से अधिक प्रवचन दिये और इस पर उसने पाच जिल्दो मे अपनी 'निजी टिप्पणिया' ('सू-चू-ची) लिखी जो आज उपलब्ध हैं। ये टिप्पणिया ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य का महत्वपूर्ण अग मानी जाती हैं। जापान मे नारा-युग (आठवी शताब्दी ईसवी) मे लकावतार-सूत्र की प्रतिलिपि करना एक महान् पुण्य का कार्य समझा जाता

था और सरकार की ओर से इस कार्य के लिए लेखक नियुक्त थे, जिन्हे बहुत अच्छा पारिश्रमिक दिया जाता था। तेरहवी-चौदहवी शताब्दी के होकवन् शिरेन् (१२७८-१३४६ ई०) नामक ध्यानी आचार्य ने लकावतार-सूत्र पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा, जिसका नाम है 'बुत्सुगोशिन्-रोन्' अर्थात् 'बुद्ध-धर्म-हृदय-भाष्य'। यह अठारह खण्डो मे है, जिनमे लकावतार-सूत्र के विषय और दर्शन का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। सन् १६८७ ई० मे तोकुगन योसोन् नामक एक अन्य जापानी विद्वान् ने लकावतार-सूत्र पर अपना भाष्य लिखा। लगातार बीसवी शताब्दी तक लकावतार-सूत्र पर व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक साहित्य की रचना चीन और जापान मे होती आ रही है।

लंकावतार-सूत्र का पूरा नाम है 'आर्यसद्धर्मलकावतार-महायानसूत्र' ('आर्यसद्धर्मलंकावतारो नाम महायानसूत्रम्') जिसका अर्थ है 'लका मे आर्य सद्धर्म के अवतार या अवतरण को वर्णन करने वाला महायान-सूत्र।' सक्षेप मे इसे 'लंकावतार' भी कहते हैं। चीनी भाषा मे इस ग्रन्थ के तीन अनुवाद मिलते हैं। पहला अनुवाद गुणभद्र ने सन् ४४३ ई० मे किया। दूसरा बोधिरुचि ने सन् ५१३ ई० मे। तीसरा अनुवाद शिक्षानन्द के द्वारा सन् ७००-७०४ ई० मे किया गया। पहले अनुवाद मे पहले, नवें और दसवें परिच्छेद (परिवर्त) नही है। शेप सम्पूर्ण परिच्छेद (दूसरे से लेकर आठवे तक) तीनो अनुवादो मे मिलते हैं। इसका अर्थ यह है कि पहले, नवे और दसवें परिच्छेद सन् ४४३ और ५१३ ई० के बीच की रचना है। ग्रन्थ का सम्पूर्ण शेष अश ४४३ ई० से पूर्व का होना ही चाहिये। परन्तु लकावतार-सूत्र मे एक जगह आर्य नागार्जुन के आविर्भाव के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी की गई है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि यह अंश नागार्जुन के समय (१५० ई०) से पूर्व का नही हो सकता। इस प्रकार मोटे रूप मे हम यह मान सकते है कि ईसा की दूसरी और पाचवी-छठी शताब्दियो के बीच इस ग्रन्थ की रचना हुई। लकावतार-सूत्र के दो तिब्बती अनुवाद भी मिलते है।

लंकावतार-सूत्र ध्यान-सम्प्रदाय का ही ग्रन्थ नही, उसमे महायान के प्राय सब आधारभूत सिद्धान्त मिलते है। उनकी गणना उन नौ महान् ग्रन्थो मे है,

---

१. दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षु श्रीमान् महायशा.।
नागाह्वय स नाम्ना तु सदसत्पक्षदारक ॥
प्रकाश्य लोके मद्यान महायानमनुत्तरम्।
आसाद्य भूमिं मुदिता यास्यतेऽसौ सुखावतीम् ॥
पृष्ठ २८६ (सन् १९५६ का सस्करण)

जो महायान-सूत्र, वैपुल्य-सूत्र या 'नव धर्म' कहलाते हैं[1] और जो महायान धर्म और दर्शन की आधार-शिला है। लंकावतार-सूत्र को स्वयं इस ग्रन्थ मे 'सर्वबुद्ध-प्रवचन-हृदय' कहा गया है। इससे सम्पूर्ण महायान मे उसके महत्व को समझा जा सकता है। लंकावतार-सूत्र के दसवें परिच्छेद का नाम 'सगाथकम्' है, जिसमे ८८४ गाथाए है। शेष ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है। लकावतार की शैली अत्यन्त दुरूह है और विषय का सकलन भी कुछ इस प्रकार किया गया है कि उसमे शृखला का खोजना कभी-कभी बहुत कठिन काम हो जाता है। पारिभाषिक शब्दो की भी अधिकता है। इसलिए यह ग्रन्थ सामान्य पाठको के काम का नही रह गया है।

लंकावतार-सूत्र के प्रथम परिवर्त मे, जिसका शीर्षक 'रावणाध्येषणा-परिवर्त' है, यह दिखाया गया है कि एक बार भगवान् बुद्ध लका मे मलय पर्वत पर स्थित राक्षसाधिपति रावण के प्रासाद मे जाते हैं और रावण उनसे उनके गहन आत्म-साक्षात्कार पर और धर्म और अधर्म के द्वैत के प्रहाण पर प्रश्न पूछता है। बुद्ध के उत्तरो के रूप मे इस प्रकार सद्धर्म का लका मे अवतरण या अवतार होता है, जिसके आधार पर ही इस ग्रन्थ का नाम 'सद्धर्मलंकावतार' या सक्षेप मे 'लंकावतार' पडा है।

लकावतार के दूसरे परिवर्त मे, जिसका पहले परिवर्त से विशेष सम्बन्ध नही है, महामति बोधिसत्व बुद्ध से दार्शनिक महत्व के अनेक प्रश्न पूछते हैं, जिनमे निर्वाण, आलय, मनोविज्ञान, भूततथता, शून्यता, चित्त-मात्र आदि की समस्याए आती हैं। सातवें परिच्छेद तक दार्शनिक प्रश्नोत्तरो का यही क्रम चलता है। आठवें परिच्छेद (मासभक्षण-परिवर्त) मे मास-भक्षण का प्रतिषेध है। नवा परिच्छेद (धारणी-परिवर्त) एक धारणी के रूप मे है और दसवें परिच्छेद मे, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, दार्शनिक महत्व की ८८४ गाथाएं है। लकावतार का एक समग्र दर्शन है, जिसे किसी एक 'वाद' मे नही बाधा जा सकता। परम सत्य को यहा शून्यता भी कहा गया है, भूततथता भी, चित्त-मात्र भी। ऐसा लगता है कि शून्यवाद और विज्ञानवाद (योगाचार-मत) के समन्वय का स्थापन इस ग्रन्थ मे किया गया है। द्वैत भाव का आदि से अन्त तक निरसन है और परम सत्य को सम्पूर्ण द्वैतवादी विचारो और विकल्पो से अतीत, अस्तित्व-नास्तित्व से अतीत, हेतु-प्रत्यय से अतीत, बताया गया है।

---

१ शेष आठ ग्रन्थ हैं, अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, सद्धर्म पुण्डरीक, ललित-विस्तर, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज और दशभूमीश्वर।

इस प्रकार निर्विकल्प, अभेद ज्ञान की यहा प्रतिष्ठा है। लकावतार-सूत्र का मूल विचार यह है कि यह जगत् चित्त का ही विकार है, मन का ही विषयभूत रूप है। जितना भी जड़-चेतनात्मक जगत् है, सब मन मे है और मन से बाहर कोई संसार नही है। यह लंकावतार का दर्शन है। बार-बार इस पर जोर दिया गया है। कहा गया है कि "यह सब चित्त ही है।"[1] "ब्रह्मादि स्थान-पर्यन्त सब को मैं चित्त कहता हू।"[2] "चित्त को ही मैं बुद्ध कहता हूं।"[3] ध्यान-सम्प्रदाय के तत्व-ज्ञान का परिचय देते समय हम आगे (पाचवे परिच्छेद मे) लकावतार-सूत्र के दार्शनिक सिद्धान्तो का कुछ उपयोग करेंगे, अत. यहा लंकावतार के सम्बन्ध मे कुछ-एक विशेष महत्वपूर्ण बाते कह देना ही पर्याप्त होगा।

लंकावतार एक आध्यात्मिक महत्व का ग्रन्थ है। गहन दार्शनिक सिद्धान्तो का पारिभाषिक शब्दावली मे विवेचन होने पर भी लकावतार का मूल उद्देश्य ऐसे सत्य का उपदेश देना है जो 'प्रत्यात्मगतिगोचर' है, अर्थात् जिसका साक्षात्कार प्रत्येक शरीर और हृदय मे होना चाहिये और जो तर्क से नही प्राप्त किया जा सकता। "तार्किकाणामविषय.···यं देशयन्ति वै नाथा. प्रत्यात्मगति-गोचरम्"[4]। इस 'प्रत्यात्मगतिगोचर' ज्ञान को ही यहा 'स्वप्रत्यात्मगति', 'प्रत्यात्माधिगम', 'प्रत्यात्मवेद्यगतिधर्म' और 'प्रत्यात्मार्यज्ञानगोचर' भी कहकर पुकारा गया है। इस सबका तात्पर्य यही है कि ज्ञान की अपरोक्ष अनु-भूति प्रत्येक हृदय मे होनी चाहिये। लकावतार-सूत्र की रचना का उद्देश्य इस प्रत्यात्मवेद्य ज्ञान के साक्षात्कार मे सहायता पहुंचाना ही है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, लंकावतार का आठवा परिच्छेद मास-भक्षण-प्रतिषेध पर है। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य मे यह परिच्छेद विलक्षण ही है, क्योकि यहां स्पष्ट शब्दो मे मांस-भक्षण को बुद्ध-शासन के विपरीत बताया गया है और उसकी तीव्र निन्दा की गई है। महामति बोधिसत्त्व भगवान् बुद्ध से पूछते हैं, "भगवन्! वे लोग भी जो मिथ्या सिद्धान्तो को मानते हैं, जो लोकायत हैं, सत् और असत् के द्वैत को मानते हैं, या उच्छेदवादी हैं या शाश्वतवादी हैं, वे भी मांस-भक्षण का प्रतिषेध करते हैं और स्वयं भी मास नही खाते। परन्तु

---

१ 'चित्तमात्रमिद सर्वम्।' पृष्ठ २०९।

२ 'ब्रह्मादिस्थानपर्यन्तं चित्तमात्रं वदाम्यहम्।' पृष्ठ २०९।

३. 'चित्तं बुद्धं वदाम्यहम्।' पृष्ठ २९६।

४. पृष्ठ ५४-५५।

क्या कारण है कि हे लोकनाथ! आपके शासन मे, जो सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा प्रणीत है और जिसका एकमात्र रस ही कृपा है, स्वयं भी मास खाया जाता है और दूसरो के द्वारा खाया जाता हुआ रोका भी नही जाता।" "कृपैकरसे सम्यक्-सम्बुद्धप्रणीते लोकनाथ तव शासने मासं स्वय भक्षन्ते भक्ष्यमाणं च न निवार्यते।" इसके उत्तर मे बुद्ध मास-भक्षण की तीव्र निन्दा करते हुए कहते है, "महामते, भविष्य मे ऐसे दुर्बुद्धि भिक्षु होगे जो शाक्यपुत्रीय श्रमण कहलायगे और जो काषाय वस्त्रो की ध्वजा बना-बना कर इधर-उधर घूमेगे। वे मास के स्वाद के वशीभूत होकर मास-भक्षण के समर्थन मे अनेक प्रकार के हेत्वा-भासो (मिथ्या हेतुओ) को ग्रथित करेंगे और कहेंगे कि भगवान् ने मास-भोजन को विहित बताया है और उसकी अनुज्ञा दी है—'भगवता मासभोजनमनुज्ञात कल्प्यमिति'। वे यह भी कहेंगे कि कदाचित् तथागत ने स्वय भी इसे खाया था ('स्वय च किल तथागतेन परिभुक्तमिति')। इस सबकी तीव्र भर्त्सना करते हुए बुद्ध यहा मास-भक्षण को अपने शासन के सर्वथा विपरीत बताते हैं, उसके विपरीत अनेक तर्क देते हैं और किसी भी अवस्था मे मास-भक्षण की अनुमति नही देते। लकावतार-सूत्र मे मास-भक्षण के विरोध मे वैसे तो अपरि-मित कारण बताये गये हैं। "अपरिमितैर्महामते कारणैर्मांसं सर्वमभक्ष्य कृपात्मनो बोधिसत्त्वस्य"। परन्तु विशेषतः मास-भक्षण के विरुद्ध यहा आठ कारण दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं (१) आवागमन मे घूमते हुए प्राणी उन्ही का मास खा सकते हैं जो असख्य पूर्व जन्मो मे कभी उनके माता, पिता, भाई, पुत्र, पति या पत्नी आदि रहे हो। (२) बौद्ध धर्म का सार हृदय की करुणा मे है। बोधिसत्त्व 'सर्वभूतात्मभूत' होता है। कोई करुणावान् व्यक्ति दूसरो का मास नही खा सकता। (३) मास खाने वाले के शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। उसकी प्रवृत्ति हिंसक हो जाती है। उसकी आकृति मे भी क्रूरता आ जाती है। (४) बौद्ध धर्म का उपदेष्टा, जो मास खाता है, स्वयं अपने लिए और बौद्ध धर्म के लिए भी लोगो मे घृणा के भाव जगाता है। लोग कहने लगते है 'यह कैसा श्रमण है'? 'इसका श्रामण्य नष्ट हो चुका है।' (५) मास खाने वाले को दु स्वप्न आते हैं। वह गहरी नीद नही सो सकता। उसका स्वभाव थोड़े मे ही विक्षुब्ध हो जाने वाला हो जाता है। (६) जानवरो का मास गन्दा भोजन है। मास के पकने की दुर्गन्ध ही किसी मनुष्य के मन को खराब करने के लिए पर्याप्त है। (७) मास खाने वाले का नैतिक और आध्या-त्मिक पतन होता है। लंकावतार-सूत्र मे इसके दो उदाहरण भी दिये गये हैं, जो प्रासगिक रूप से तुलनात्मक पौराणिक तत्व की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं।

कहा गया है कि पूर्व काल मे राजा सिंह सौदास बड़ा मास-भोजन-प्रेमी था। नर-मास का भी उसे चस्का लग गया। उसकी जनता ने इससे खिन्न होकर उसे राजगद्दी से उतार दिया। मास-प्रियता के कारण ही इन्द्र को बाज का रूप धारण कर कबूतर रूप-धारी विश्वकर्मा का पीछा करना पडा, जिस पर कबूतर पर दया कर राजा शिवि को अपना मास तक काट कर देना पड़ा। इस प्रकार मांस-भक्षी अपने और दूसरो पर भी विपत्ति लाता है। (८) मांस-भक्षण से चतुर्दिक् का वातावरण क्षुब्ध बनता है। प्राणी सत्रस्त होते हैं। अत. सत्य के खोजियो का उचित भोजन गेहू, जौ, चावल, घी, तेल आदि ही हैं। लंकावतार के इस (आठवें) परिच्छेद मे कुछ अन्य (महायान-) सूत्रो के भी नाम दिये गये हैं, जिनमे बुद्ध ने मास-भक्षण का सर्वथा प्रतिषेध किया है। वे ये हैं हस्तिकक्ष्य-सूत्र, महामेघ-सूत्र, निर्वाण-सूत्र और अगुलिमालिक-सूत्र। इस प्रसग मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि पालि विनय-पिटक मे कुछ अवस्थाओ मे मास-भक्षण की अनुज्ञा दी गई है। इस पिटक के अनुसार ऐसा मास लिया जा सकता है, जिसके बारे मे न तो ऐसा देखा गया हो (दृष्ट), न ऐसा सुना गया हो (श्रुत) और न ऐसी शका ही हो (परिशकित) कि यह मास हमारे लिए पशु को मार कर तैयार किया गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि लकावतार-सूत्र पालि विनय-पिटक की अपेक्षा एक काफी उत्तरकालीन रचना है। इसलिए ऐसा माना जा सकता है कि जब बौद्ध सघ मे मास-भक्षण काफी प्रचलित हो गया और साधारण जन-समाज मे भी उसकी निन्दा होने लगी, तो लकावतार-सूत्र मे मास-भक्षण-प्रतिषेध पर एक परिच्छेद लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई और उसमे मास-भक्षण को बुद्ध द्वारा पूर्ण निषिद्ध बतलाने का प्रयत्न किया गया। सुज़ुकी ने इसकी इसी प्रकार व्याख्या की है। परन्तु एक अधिक सम्भावना यह भी लगती है कि बुद्ध के काल मे ही भिक्षुओ का एक ऐसा वर्ग था जो मास-भक्षण को बुद्ध के उपदेश के बिलकुल प्रतिकूल मानता था और उसी की दृष्टि लकावतार-सूत्र मे समर्थित है। कुछ भी हो, लकावतार-सूत्र मे प्रभावशाली ढग से मांस-भक्षण को सब किसी के लिए और सब अवसरो पर बुद्ध-शासन के विपरीत बताया गया है और उसका प्रभाव पूर्वेशिया के भिक्षु-जीवन पर पड़ा है। चीन और जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षु मांस नही खाते। छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्) ने शिकारियो के साथ पन्द्रह साल तक जगल मे छिपकर विवश अवस्था मे रहते हुए भी मास नही खाया था। केवल उबली हुई सब्जिया लेते थे। सुज़ुकी ने हमे बताया है कि जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय के विहारो मे मास-

नहीं खाया जाता और भिक्षु पूर्ण शाकाहारी भोजन लेते हैं।[1] जापान जैसे मासाहारी देश मे लंकावतार-सूत्र का यह प्रभाव कुछ कम नही माना जा सकता।

एक अन्य महत्वपूर्ण बात जो हमें लकावतार-सूत्र मे मिलती है, यह है कि इसके तीसरे परिवर्त मे यह कहते हुए कि बुद्ध के असख्य नाम (असख्येय नाम-पर्याया) हैं, बताया गया है कि कोई उन्हे तथागत कहते हैं, कोई नायक, कोई विनायक, कोई स्वयम्भू, कोई विष्णु, कोई ईश्वर, कोई राम। स्वयं बुद्ध भगवान् कहते दिखाये गये हैं, "महामते! कोई मुझे तथागत के रूप मे पहचानते हैं, कोई स्वयम्भू के रूप मे, कोई विष्णु के रूप मे, कोई ईश्वर के रूप मे।" कोई राम के रूप मे"'मुझे जानते हैं।"

"तत्र केचिन् महामते तथागतमिति मा सप्रजानन्ति। केचित् स्वयम्भुवमिति '''विष्णुमीश्वरं'' रामं'''चैके सजानन्ति"।[2]

इस प्रकार इस महा ग्रथ मे हम देखते है कि अन्य अनेक नामो के साथ 'राम' भी बुद्ध का एक नाम है। यदि हम बुद्ध को अपने अन्दर देखें (जैसा कि 'ध्यान' का सन्देश है) तो सब कुछ, जो इस जगती मे है, हमे बुद्ध का विवर्त या निर्माण-काय ही दिखाई पडेगा और वे ही अनेक-अनेक रूपो मे, अनेक-अनेक भूखण्डो में, अपनी करुणा से लोगो के कल्याणार्थ सत्य का उपदेश करते दिखाई पड़ेंगे। लोगो की मुक्ति के लिए बुद्ध ईश्वर भी बन सकते हैं, महेश्वर भी, शक्रेन्द्र भी, वैश्रवण भी, देव भी, नाग भी, यक्ष-गन्धर्व-असुर-गरुड-किन्नर भी, मनुष्य भी, अ-मनुष्य भी, ऐसा एक अन्य महायान-सूत्र मे भी कहा गया है, जो ध्यान-सम्प्रदाय मे गृहीत है।[3] बुद्ध का इतना विराट् रूप महायान को मान्य हुआ, तभी वह विश्व-धर्म बना, जीवन्त धर्म बना। कहने की आवश्यकता नही कि भारत मे आज भी यही विधि चलेगी और इसको न समझना मानव की एक महान् आध्यात्मिक आवश्यकता को ही न समझना होगा।

जैसा हम अभी कह चुके हैं, लंकावतार-सूत्र मे 'राम' को बुद्ध का एक नाम बताया गया है और कहा गया है कि कुछ लोग इस रूप मे भी तथागत को

---

१ देखिये उनकी 'जेन् एण्ड जापानीज बुद्धिज़्म', पृ० १५, मिलाइये ई० स्टेनिलवर-ओबरलिन 'दि बुद्धिस्ट सैक्ट्स् ऑव जापान' पृष्ठ १४१। यहा लेखक ने बताया है कि ध्यान-सम्प्रदाय के विहारों में मास, मछली, अ डे नहीं परोसे जाते। केवल जौ, चावल और सब्जिया ली जाती हैं।

२ लकावतार-सूत्र, पृष्ठ १९२।

३ देखिये आगे 'समन्तमुख-परिवर्त' का परिचय।

जानते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि उपास्य भगवान् के रूप मे राम के स्वरूप की प्रतिष्ठा उस युग मे प्रचलित थी जिसमे लंकावतार-सूत्र लिखा गया। गुण-भद्र ने ४४३ ई० मे लंकावतार-सूत्र का जो चीनी अनुवाद किया, उसमे उक्त प्रकरण है। अत· इस बौद्ध ग्रन्थ के प्रमाण से यह सिद्ध है कि पाचवी शताब्दी ईसवी मे राम की उपास्य भगवान् के रूप मे प्रतिष्ठा थी। भक्ति के, विशेषतः राम-भक्ति के विकास के इतिहास के लिए इस तथ्य का वडा महत्व है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि रामानुज-रामानन्द की परम्परा (वारहवी शताव्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक) तो राम-भक्ति की प्रचारक मात्र थी, अध्यात्म-रामायण भी निश्चयत. लकावतार-सूत्र से काफी वाद की रचना है। अत. राम-भक्ति के विकास के इतिहास के लिए लंकावतार-सूत्र का साक्ष्य वहुत महत्व का है, क्योकि उससे यह स्पष्टत प्रकट हो जाता है कि ईसा की दूसरी और पाचवी शताब्दियो के वीच उपास्य भगवान् के रूप मे राम की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। भक्ति के विकास के इतिहास मे इस तथ्य की ओर अव तक ध्यान नही दिया गया है। राम-भक्ति के गवेषको को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

यह कितना सुखद और गौरवपूर्ण विषय है कि भारत मे 'राम' नाम के भी एक भगवान् हैं, यह सूचना पूर्वेशिया के देशो मे भागवतो या परम वैष्णवो के द्वारा नही, वल्कि बौद्ध श्रमणो के द्वारा ले जाई गई, जिसके कुछ क्षीण सस्कार अव तक भी इन देशो के निवासियो—कम-से-कम श्रमणो और साधको—के हृदयो मे विद्यमान हैं।

लंकावतार-सूत्र का रचना-काल चाहे जितना इधर माना जाय, वह शंकर से तीन शताव्दी पूर्व का तो कम-से-कम है ही। शंकर के आविर्भाव से कुछ पहले, हुइ-नेंग् (६३८-७१३ ई०) के जीवन-काल मे तो हम कई चीनी भिक्षुओ को लंकावतार-सूत्र का एक-एक हजार वार पाठ तक करते देखते हैं। ऐसा ही एक भिक्षु (चि-तोग्) हुई-नेंग् से मिलने आया था। 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' (सातवां परिच्छेद) मे इसका उल्लेख है। शकर से काफी पूर्वकालीन लंकावतार के चीनी अनुवादो का उल्लेख हम पहले कर ही चुके हैं। इन सब तथ्यो को ध्यान मे रखकर जव हम लंकावतार-सूत्र मे यह पढते हैं कि यह जगत् मायोपम है, मृगमरीचिका के समान मिथ्या है, परिकल्पित है, शशशृंग, वन्ध्या-

पुत्र, खपुष्प, स्वप्न, गन्धर्वनगर और अलातचक्र के समान है,[1] तो हमे निश्चयतः गौडपाद और शंकर की भाषा की याद आ जाती है, जिस पर अनिवार्य रूप से लकावतार-सूत्र और अन्य पूर्ववर्ती महायानिक सूत्र-ग्रन्थो का प्रभाव पडा है। अजातिवाद का विशद निरूपण हमे लकावतार-सूत्र मे मिलता है और विद्वानो से यह छिपा नही है कि गौडपाद ने भाव और भाषा दोनो मे उसे वहा से ग्रहण किया है। हम यह मानते हैं कि अद्वैत वेदान्त के मूल स्रोत वेद या उपनिषदो मे ही निहित हैं, परन्तु उसके साथ ही हमे यह स्वीकार करना पडता है कि वेदान्त के मायावाद, अजातिवाद, जगन्मिथ्यात्व और दो सत्यो (व्यवहार और परमार्थ) की विचारणाओ के स्रोतो की खोज के लिए हमे श्रौत ग्रन्थो के साथ-साथ महायान के पूर्ववर्ती साहित्य, जिसमे प्रज्ञापारमिताए और लकावतार सूत्र जैसे ग्रन्थ सम्मिलित हैं, के पास भी अनिवार्य रूप से जाना पडेगा, इसमे बिलकुल भी सन्देह नही है।

वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र

लंकावतार-सूत्र के बाद जिस ग्रन्थ का ध्यानी साधको मे सर्वाधिक महत्व और प्रचार है वह है वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र। एक परम्परा तो यहा तक मानती है कि बोधिधर्म ने हुइ-के को जिस सूत्र को दिया था, वह लका-वतार न होकर वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र ही था। परन्तु यह सही नही है। कुछ भी हो, यह बात सही है कि पाचवें धर्मनायक (हुग्-जेन्) के समय से, अर्थात् बोधिधर्म के करीब १५० वर्ष बाद, वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र ने लकावतार-सूत्र के महत्व को लेना आरम्भ कर दिया। हम पहले देख ही चुके हैं कि छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् को वज्रच्छेदिका के कुछ अश सुनकर ही सत्य मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई थी। वज्रच्छेदिका के जिस वाक्य को (चीनी अनुवाद मे) सुनकर हुइ-नेंग् को एकदम अन्तर्बोध उत्पन्न हुआ, वह था . 'न क्वचित् प्रतिष्ठित चित्तम् उत्पादयितव्यम्।' अर्थात् 'न कही प्रतिष्ठित चित्त को उत्पन्न करना चाहिए।' यहा 'न कही प्रतिष्ठित चित्त' ('न क्वचित् प्रतिष्ठित चित्तम्') से क्या वास्तविक अभिप्राय है, यह हम आगे चतुर्थ परिच्छेद

---

१. देखिये 'आकाशशशशृंग च वन्ध्याया पुत्र एव च। असन्तो ह्यभिलप्यन्ते तथा भावेषु कल्पना।' पृष्ठ १०५। 'गन्धर्वस्वप्नमायाख्या भावा विद्यन्त्यहेतुका।' पृष्ठ २००। 'स्वप्नकेशोण्डुक मायागन्धर्वमृगतृष्णिका।' पृष्ठ २००। 'तद्यथा महामते मृगतृष्णालात-चक्रकेशोण्डुकगन्धर्वनगरमायास्वप्नप्रतिविम्बालपुरुषा लोकेऽविद्वद्भिर्विपर्यस्यन्ते न तु विद्-द्भिर्न च पुनर्नख्यायन्ते।' पृष्ठ १०६।

मे देखेंगे। हुइ-नेंग् अपने शिष्यो को वज्रच्छेदिका के निरन्तर पाठ और मनन करने का उपदेश देते थे। अपने गृहस्थ और भिक्षु शिष्यो को 'प्रज्ञा' पर प्रवचन देते हुए एक बार उन्होने कहा था, "यदि तुम धर्म-धातु और समाधि-प्रज्ञा के गम्भीरतम रहस्य मे अन्तर्प्रवेश करना चाहते हो तो तुम्हे 'वज्रच्छेदिका-सूत्र' के पाठ और मनन के द्वारा प्रज्ञा का अभ्यास करना चाहिये। यह तुम्हें मन के सार (तथता) को साक्षात्कार करने मे सहायता देगा।" वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र की शैली लकावतार के समान दुरूह नही है, अत: वह अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई है और आजकल जापान मे जिस व्यापक रूप से उसका पठन-पाठन किया जाता है, वह आश्चर्यकर है। जापानी भाषा मे यह सूत्र 'कोगोक्यो' के नाम से प्रसिद्ध है। कुमारजीव ने वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र का चीनी अनुवाद 'वज्र-सूत्र' शीर्षक से सन् ४०२-४१२ ई० मे किया था। इसके बाद वोधि-रुचि, परमार्थ, यूआन् चुआङ्, इ-त्सिंग् और धर्मगुप्त ने इस ग्रन्थ के अपने चीनी अनुवाद किये। यह उल्लेखनीय है कि इन सव अनुवादो मे कुमारजीव का अनुवाद श्रेष्ठ माना जाता है और वह चीनी भाषा का एक शास्त्रीय गौरव-ग्रन्थ ही वन गया है।

वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र महायान के प्रज्ञापारमिता साहित्य का एक अश है, जिसका विस्तृत परिचय देना यहा आवश्यक न होगा। केवल इतना कहना पर्याप्त है कि सवा लाख, एक लाख, पच्चीस हजार, आठ हजार, चार हजार, ढाई हजार और सात सौ श्लोको के सस्करण प्रज्ञापारमिताओ के मिलते हैं, जिनमे आठ हजार श्लोक वाला सस्करण (अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा-पारमिता) सवसे प्राचीन माना गया है और शेष उसके वृहत् या लघु सस्करण हैं। अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता का चीनी अनुवाद 'ताओ-ह्सिंग्' शीर्षक से लोकरक्ष के द्वारा सन् १७२ ई० में किया गया था। अत. प्रज्ञापारमिता-साहित्य की प्राचीनता निर्विवाद है।

प्रज्ञापारमिताओ का मूल दर्शन है शून्यता। 'रूपं शून्यता। शून्यतैव रूपम्।' 'रूप शून्यता है। शून्यता ही रूप है।' इसी का विस्तार सम्पूर्ण प्रज्ञा-पारमिता-दर्शन है। मायावाद का निरूपण भी यहां विस्तार से मिलता है। प्रज्ञापारमिताएं सम्पूर्ण प्रपचात्मक सत्ता को नि.शेष करती हुई शून्यता मे समाविष्ट कर देती हैं। विरोधी भाषा का वे वहुल रूप से प्रयोग करती हैं। नागार्जुन ने अपने शून्यता-दर्शन की वुनियाद प्रज्ञापारमिताओ पर ही रक्खी है। ऐतिहासिक और तात्विक, दोनो दृष्टियो से ध्यान-सम्प्रदाय के तत्वज्ञान और साधन-पथ पर प्रज्ञापारमिताओ का प्रभाव पड़ा है। प्रज्ञा की वह पारमिता या

परिपूर्णता जो सब वस्तुओ मे शून्यता को देखती है, प्रज्ञापारमिताओ का दर्शन है और वही ध्यान-सम्प्रदाय मे भी गृहीत है। 'प्रज्ञापारमिता' शब्द का अर्थ छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् ने प्रज्ञा के द्वारा पार जाना, दूसरे किनारे पर जा लगना या सत् और असत् के द्वैत को पार कर जाना, किया है।[1] 'वज्रच्छेदिका' नाम भी साभिप्राय है। 'वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता' से तात्पर्य प्रज्ञा की उस परिपूर्णता से है, जो वज्र (हीरे) की तरह सीधी काट करती है। इस शब्द मे यह अर्थ ध्वनित है कि ज्ञान की मार सीधी और तीक्ष्ण होनी चाहिये। वह ज्ञान ही क्या, जिसकी मार से चेला विलविला न जाय? 'वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता' मे ऐसा ही ज्ञान रक्खा हुआ है। हम जानते हैं कि उसके कुछ शब्दो को सुनकर ही एक अपढ लकड़हारा मर्माहत हो गया था और बाद मे वह 'ध्यान' का छठा धर्मनायक बना। कुछ प्रसंगान्तर होने पर भी हम यहा यह कहना चाहेगे कि हमारे मध्य-कालीन निर्गुनिये सन्त भी ऐसे ज्ञान के पक्षपाती थे जो सीधी मार करे, जिसका शब्द रूपी तीर जाकर सीधा कलेजे को छेद दे और साधक के शरीर से आग-सी फूट निकले :

"सतगुरु साचा सूरिवां सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भै मिलि गया, पड्या कलेजे छेक।।
सतगुरु मार्या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अग उघाड़ें लागिया, गई दवा सूं फूटि।।'

ध्यानी सन्तो के वचन इस कसौटी पर खरे उतरते हैं।

'वज्रच्छेदिका' में शून्यता पर जोर दिया गया है। इस सूत्र का उपदेश बुद्ध ने अनाथपिण्डिक के श्रावस्ती-स्थित जेतवनाराम मे सुभूति नामक वोधिसत्त्व को दिया था। अतः यह ग्रन्थ बुद्ध और सुभूति के सवाद के रूप मे है। आरम्भ मे सुभूति बुद्ध से पूछते हैं कि वोधि की इच्छा करने वाले व्यक्ति को किस प्रकार उसमे प्रतिष्ठित होना चाहिए और किस प्रकार उसे अपने विचारो को समाहित करना चाहिए। इस प्रकार इस सूत्र का उपदेश साधना की भूमि से आरम्भ होता है। तथागत के ऐतिहासिक वैयक्तिक रूप के स्थान पर उनके परम सत्यभूत रूप पर जोर दिया गया है, "सुभूति! क्या तुम समझते हो कि ऐसी कोई वस्तु है जिसका उपदेश तथागत ने दिया हो?" "भन्ते! ऐसी कोई वस्तु नही

१ दि सूत्र ऑव वे-लेंग् (हुइ-नेंग्), पृष्ठ ३०।

है जिसका उपदेश तथागत ने दिया हो।" "सुभूति ! क्या तथागत को बत्तीस महापुरुष-लक्षणो से पहचाना जा सकता है ?" "नही भन्ते ! उन्हें बत्तीस महा-पुरुष-लक्षणो से नही पहचाना जा सकता।" "सुभूति ! यदि कोई यह कहे कि तथागत आते हैं या जाते हैं, या बैठते हैं, या लेटते हैं, तो वह मेरे उपदेश के अर्थ का नही जानता। क्यो ? क्योकि तथागत न कही आते हैं, न कही जाते हैं। इसीलिये वे तथागत कहलाते है।" "यदि कोई मुझे रूप से देखना चाहे या शब्द से मुझे खोजना चाहे, तो वह गलत रास्ते पर है और तथागत को नही देख सकता।" परम सत्य के सम्बन्ध मे आठ बातो का निषेध करते हुए, जिनका बाद मे नागार्जुन ने विकास किया, वज्रच्छेदिका मे कहा गया है, "उत्पाद नही, उच्छेद नही, निरोध नही, शाश्वत नही, एकार्थ नही, नानार्थ नही, आगमन नही, निर्गमन नही।" विरोधी भाषा का प्रयोग भी वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता मे है। "बुद्ध के उपदेश के अनुसार प्रज्ञापारमिता प्रज्ञापारमिता नही है, इसीलिये वह प्रज्ञापारमिता कहलाती है।" "जिसे बुद्ध धर्म कहा जाता है, वह बुद्ध धर्म नही है, इसीलिये वह बुद्ध धर्म कहलाता है।" मायावाद भी है। "सभी कृत वस्तुए (सस्कार) एक स्वप्न के समान है, मरीचिका के समान, बबूले के समान, छाया के समान, ओस की बूंद के समान, बिजली की कौंध के समान। इस प्रकार इन्हे समझो।"

वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र का गम्भीर आध्यात्मिक और दार्शनिक महत्व तो है ही, सास्कृतिक दृष्टि से भी वह भारतीय साहित्य की एक महत्व-पूर्ण रचना है। उसके छह प्राचीन चीनी अनुवादो का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह स्मरण रखने योग्य है कि इस महान् ग्रन्थ के संस्कृत संस्करण के अलावा एक खोतनी संस्करण भी पूर्वी तुर्किस्तान मे मिला है। वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता के सोग्धी और शक भाषाओ मे अनुवाद भी हुए, जिनके कतिपय अश मिले हैं। इस प्रकार मध्य-एशिया मे बौद्ध धर्म के प्रचार मे इसने काफी योग दिया। एक सबसे बड़े महत्व की बात यह है कि चीन मे सन् ८६८ ई० मे सर्वप्रथम मुद्रित होने का गौरव भी इस ग्रन्थ को मिला। इस प्रकार भार-तीय साहित्य का यह सर्वप्रथम ग्रन्थ था जो छापेखाने मे गया, भारत से बाहर के एक देश के छापेखाने मे (भारत मे शताब्दियो बाद पुस्तको की छपाई का कार्य आरम्भ हुआ)।

'हृदय-सूत्र'

वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र के अतिरिक्त अन्य अनेक महायानिक ग्रन्थ है, जिन्हें ध्यान-सम्प्रदाय मे मान्यता प्राप्त है और जिनका पठन-पाठन उसके विहारो मे किया जाता है। इनमे मुख्य हैं प्रज्ञापारमिता-हृदय-सूत्र, शूरगम-समाधि-सूत्र, विमलकीर्ति-निर्देश-सूत्र और समन्तमुख-परिवर्त। प्रज्ञापारमिता हृदय-सूत्र (या सक्षेप मे 'हृदय-सूत्र') एक अत्यन्त लघु रचना है और प्राय सब अवसरो पर ध्यान-सम्प्रदाय के विहारो मे इसका पाठ होता है। जापानी भाषा मे इसका नाम है 'शिग्यो'। 'हृदय-सूत्र' के दो सस्करण मिलते है, एक लघु और दूसरा बडा। प्राय लघु सस्करण का ही प्रयोग चीन और जापान मे पाठ के लिए होता है। यह उल्लेखनीय है कि प्रज्ञापारमिता-हृदय-सूत्र की मूल सस्कृत वर्णमाला मे ताडपत्रो पर लिखी प्रति जापान के नारा नगर के प्रसिद्ध प्राचीन बौद्ध मन्दिर होर्युजी मे अब तक सुरक्षित है, जहा वह सन् ६०९ ई० से रक्खी हुई है। इस प्रकार इसका पुरातात्विक महत्व स्पष्ट है। ऐसा माना जाता है कि 'प्रज्ञापारमिता-हृदय-सूत्र' की उपर्युक्त प्रति को बोधिधर्म अपने साथ भारत से चीन ले गये थे, जहा से वह जापान मे लाई गई। प्रज्ञापारमिता हृदय-सूत्र का मूल विचार यह है कि रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान, सब शून्यता-स्वरूप हैं, अ-जात और अ-निरुद्ध है। प्रज्ञापारमिता-दर्शन का यह हृदय है। यूआन् चुआड् ने 'हृदय-सूत्र' का चीनी भाषा मे अनुवाद सन् ६४९ ई० मे किया और कुमारजीव ने सन् ४०२—४१२ ई० मे।

शूरंगम-समाधि-सूत्र

'शूरगम-समाधि-सूत्र' (या सक्षेप मे केवल शूरगम-सूत्र, सूरगम-सूत्र भी) चीनी त्रिपिटक के अन्तर्गत दो सस्करणो मे मिलता है, जिनके विषय भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम का चीनी अनुवाद कुमारजीव ने सन् ४०२-४१२ ई० के बीच किया और द्वितीय का परमिति ने सन् ७०५ ई० मे। द्वितीय सस्करण ही ध्यान-सम्प्रदाय मे चलता है। शूरगम सूत्र जापानी भाषा मे 'र्‌योगोनूक्यो' के नाम से प्रसिद्ध है।

'शूरगम-समाधि सूत्र' या 'शूरगम-सूत्र' का विषय है एक अत्यन्त शूरता के कार्य का वर्णन करना—अपने मन पर अन्तिम विजय। कथा आनन्द के स्खलन से शुरू होती है। आनन्द मातगा नामक एक जादूगरनी के प्रेम-पाश मे फस जाते हैं और पतित होने वाले हैं। बुद्ध अपने अन्तर्ज्ञान से इसे देखते हैं और मंजुश्री

बोधिसत्त्व को आनन्द को अपने पास बुलाने भेजते है। आनन्द आते है और पश्चात्ताप करते हैं। आनन्द बहुश्रुत हैं, परम विद्वान् हैं, परन्तु मन पर पूरी विजय नही पा सके। इसका क्या कारण है? बुद्ध कहते है कि विद्वत्ता या बौद्धिक ज्ञान का आध्यात्मिक अनुभव की प्राप्ति मे अधिक महत्व नही है। इसके लिए समाधि का अभ्यास आवश्यक है। उसी से मन पर पूरी विजय प्राप्त होती है। बुद्ध आनन्द से कहते है कि तुम अपने मन के सार को खोजो, पता लगाओ कि तुम्हारा मूल मन कहा है? आनन्द कुछ नही समझ पाते और उनसे कोई उत्तर देते नही बनता। तब उन्हे मूल मन या मन के सार का उपदेश दिया जाता है, जो इस सूत्र का मुख्य विषय है और ध्यान की गवेषणा का केन्द्रीय बिन्दु भी। जिसे यहा मन का सार या मूल मन कहा गया है, वह वास्तव मे निर्विशेष, निरपेक्ष, निर्विकल्प और अपरिच्छिन्न मन ही है, जो अह-प्रत्यय मन से भिन्न है। जिसे हम साधारणत. व्यक्तिगत मन या चित्त कहते हैं, और जिसका अध्ययन मनस्तत्त्ववेत्ता करते हैं, उसका सम्बन्ध सापेक्ष अनुभवो से है। उससे यहा अभिप्राय नही है। मन का सार या मूल मन वह निरपेक्ष चेतन सत्ता है जो हमारे सब सापेक्ष अनुभवो का आधार है और वही उन्हे सम्भव बनाती है। मूल मन या मन के सार का अस्तित्व है, तभी यह सम्भव होता है कि हम देखते हैं, सुनते हैं, सोचते हैं, मनन करते हैं और सान्त जगत् के सारे अनुभवो को करते हैं। इस अतीत, पर, मन, की खोज करना ही शूरंगम-समाधि-सूत्र का विषय है। शमथ और विपश्यना (विदर्शना) के अभ्यास को यहा इस उद्देश्य की प्राप्ति मे सहायक बताया गया है और ध्यानाभ्यास का उपदेश किया गया है।

विमलकीर्ति-निर्देश-सूत्र

विमलकीर्ति-निर्देश-सूत्र की कथावस्तु इस प्रकार है। विमलकीर्ति वैशाली का एक वृद्ध उपासक (बौद्ध गृहस्थ) है जो बौद्ध धर्म का महान् ज्ञाता है। एक बार वह बीमार पडता है और बुद्ध उसे देखने के लिए अपने किसी शिष्य को भेजना चाहते हैं। कोई राजी नही होता, क्योकि विमलकीर्ति के ज्ञान से सब सकुचित है। उससे वार्तालाप करने के लिए अपने को अयोग्य मानते हैं। अन्त मे बुद्ध मजुश्री बोधिसत्त्व को भेजते है, जो करुणा के साक्षात् अवतार हैं और समन्तभद्र (या समन्तमुख) के रूप मे प्रज्ञा के भी। मजुश्री विमलकीर्ति के पास जाते हैं और उसके स्वास्थ्य के बारे मे उससे पूछते हैं। विमलकीर्ति उत्तर देता है, "बोधिसत्त्व प्राणी की बीमारी महाकरुणा से उत्पन्न होती है। जब प्रत्येक प्राणी की बीमारी अन्त हो जायगी, तो मेरी बीमारी का भी अन्त हो जायगा।

मैं बीमार हूं, क्योकि सब प्राणी बीमार हैं।" अन्त मे संलाप इस विषय पर चल पड़ता है कि अद्वय सिद्धान्त का क्या अर्थ है ? मजुश्री अद्वयवाद पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और फिर विमलकीर्ति से पूछते हैं कि उसकी इस पर क्या राय है ? विमलकीर्ति एक शब्द भी नही बोलता, बिलकुल चुपचाप रह जाता है। बोधिसत्त्व मजुश्री उसकी बडी प्रशसा करते हैं। यही सूत्र समाप्त हो जाता है। ध्यान-सम्प्रदाय के एक चित्रकार ने विमलकीर्ति के इस 'गरजते हुए मौन' को एक चित्र मे अकित किया है, जिसकी रेखाओ मे वृद्ध विमलकीर्ति की आन्तरिक भावना प्रकम्पित-सी होती और बाहर निकलती-सी दिखाई पडती है।

विमलकीर्ति-निर्देश-सूत्र का कुमारजीव ने सन् ४०६ ई० मे चीनी भाषा मे अनुवाद किया। तब से वह चीन और जापान मे अत्यन्त लोकप्रिय महायानिक ग्रन्थ बन गया है। मूल सस्कृत रूप मे यह नही मिलता। बौद्ध अद्वैतवाद के स्वरूप और वेदान्तिक अद्वैतवाद के साथ उसके सम्बन्ध को समझने के लिए विमलकीर्ति-निर्देश-सूत्र का अध्ययन आवश्यक है।

समन्तमुख-परिवर्त

समन्तमुख-परिवर्त सद्धर्मपुण्डरीक के चौवीसवें परिवर्त (परिच्छेद) के रूप मे है।[1] कुमारजीव ने सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। उसमे यह पच्चीसवें परिवर्त के रूप मे है। चीनी भाषा मे 'कुअन्-यिन्-चिग्' और जापानी मे 'क्वन्नोन-ग्यो' के नाम से यह प्रसिद्ध है। इसमे अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की स्तुति के पुण्य का वर्णन है। अवलोकितेश्वर का ही दूसरा नाम समन्तमुख बोधिसत्त्व है। इसलिये इसका एक नाम 'अवलोकितेश्वर-विकुर्वण-निर्देश' भी है और एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का भी गौरव इसे दिया जाता है। 'समन्तमुख-परिवर्त' या 'अवलोकितेश्वर-विकुर्वण-निर्देश' का मूल सन्देश यह है कि अवलोकितेश्वर, जो करुणा के अवतार हैं, प्राणियो को दु ख से बचाने के लिए व्रत लिए हुए हैं और इसी हेतु वे इस सहा-लोकधातु मे (ससार मे, जिसमे सहना पड़ता है) नाना रूप धारण कर प्राणियो को दु ख-मुक्त करते हैं और उन्हें सत्य का उपदेश करते हैं। वे भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेते हैं (विकुर्वण), यदि उन्हें ऐसा जान पड़े कि उनके द्वारा इन रूपो के धारण करने से प्राणी मुक्त हो जायेंगे। इस प्रकार अवलोकितेश्वर बुद्ध का रूप भी धारण

१. देखिये सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र का बिब्लियोथैका इण्डिका सस्करण (कलकत्ता, १९५३), पृष्ठ २८६-२९७।

कर लेते हैं, बोधिसत्त्व का भी, प्रत्येकबुद्ध का भी, श्रावक का भी, ब्रह्मा का भी, शक्र का भी, यक्ष का भी, ब्राह्मण का भी, देव-यक्ष-नाग-असुर-गन्धर्व-गरुण-किन्नर-मनुष्य-अमनुष्य का भी। यदि अवलोकितेश्वर देखते हैं कि कोई प्राणी ईश्वर के शिक्षार्थी हैं और उनकी मुक्ति ईश्वर के द्वारा ही होनी है, तो अवलोकितेश्वर उनके लिए ईश्वर का रूप धारण करके ही उन्हें धर्म का उपदेश करते हैं। इसी प्रकार जब अवलोकितेश्वर देखते हैं कि कोई प्राणी महेश्वर के शिक्षार्थी हैं और महेश्वर के द्वारा ही उन्हे मुक्ति मिलनी है तो अवलोकितेश्वर उनके लिए महेश्वर का ही रूप धारण कर लेते हैं और इसी रूप मे उन्हें धर्म का उपदेश करते हैं। 'ईश्वरवैनेयाना सत्वानामीश्वररूपेण, महेश्वरवैनेयानां सत्वानां महेश्वर-रूपेण धर्मं देशयति।'[1] इस प्रकार इस सूत्र की भावना बड़ी उदार है और हमारे देश मे भक्ति का जो विकास हुआ है, उसके उद्गम के स्रोतो को समझने के लिए आवश्यक है। यहा स्पष्टतः हमे यह विचार मिलता है कि करुणा ही भगवान् के अनेक-अनेक रूप लेकर इस संसार मे अवतरित होने का कारण है। इस विचार ने बाद मे चलकर वैष्णव भक्ति-साधना मे भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। बार-बार हमारे भक्त गाते हैं, 'भये प्रगट कृपाला' और 'धर्म हेतु अवतरेहु गुसाईं'। ऐतिहासिक रूप से हम देखें तो यह बात सर्वप्रथम बुद्ध के अवतार के सम्बन्ध मे ही महायानिक बौद्धो के द्वारा कही गई है और वही वह सर्वाधिक सुप्रयुक्त भी है। बुद्ध करुणा के अवतार हैं, मुक्ति के शिक्षक हैं। इस प्रकार भक्ति के इस पक्ष का उद्गम हमे यहा मिलता है।

जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय के विहारो मे दिन मे तीन बार बड़ी घटी लगती है और तीनो बार घटी बजने के समय 'क्वन्नोन-ग्यो' का पाठ किया जाता है। महाकरुणा के अवतार अवलोकितेश्वर की याद ध्यानियो के लिए इतनी ही महत्वपूर्ण है!

मंच-सूत्र

उपर्युक्त महायान-सूत्रो के अतिरिक्त, जिन्हें ध्यानी साधक पढते हैं, स्वय चीनी और जापानी ध्यानी साधको की रचनाए हैं, अनुभव-वाणिया हैं, जिनका भी आदरपूर्वक अनुशीलन ध्यान के साधक इन देशो मे करते हैं। इस प्रकार के साहित्य मे 'छठे धर्मनायक द्वारा धर्म-रत्न के उच्चासन पर भाषित सूत्र' या 'मंच-सूत्र' (तन्-चिग्) का स्थान सर्वोच्च है। इस सूत्र के सम्बन्ध मे हम पहले

---

१. सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र, पृष्ठ २६२ (बिब्लियोथैका इण्डिका, कलकत्ता, १९५३ ई०)।

(द्वितीय परिच्छेद मे) कह चुके हैं और इससे कुछ उद्धरण भी दे चुके हैं। योग-वासिष्ठ, ज्ञानेश्वरी, कबीर की बानी और रामकृष्ण परमहंस के उपदेशो के समान इस सूत्र का स्थान विश्व के अमर साधनात्मक साहित्य मे है। इस सूत्र में, जैसा पहले भी कहा जा चुका है, हुइ-नेंग् के उपदेशो और वचनो का सकलन है। आरम्भ मे हुइ-नेंग् की आत्म-जीवनी है, जिसका अत्यन्त सक्षिप्त रूप हम द्वितीय परिच्छेद मे दे चुके है। इस सम्बन्ध मे दो-एक प्रसगो का और उल्लेख कर देना यहा आवश्यक होगा। हुइ-नेंग् जन्म-जात साधक थे। प्रज्ञा उनके अन्त करण मे बाल्यावस्था से ही स्वत स्फुरित होती थी। उनके पूर्व-जन्मो का ध्यान सचित था, जो एक बार वज्रच्छेदिका के कुछ अशो को सुनकर फूट पडा (जिसके सम्बन्ध मे हम 'वज्रच्छेदिका' के प्रकरण मे देख चुके हैं)। आठ महीने तक वे हुंग्-जेन् के आश्रम के अस्तवल मे ही पडे रहे और चावल कूटते रहे और ईंधन के लिए लकडिया फाडते रहे। न उन्हे कभी हुग्-जेन् ने उपदेश ही दिया, यहा तक कि हुइ-नेंग् पूरे आठ महीने मे एक बार भी उस कक्ष तक नही गये जहा धर्मगुरु प्रवचन करते थे। और उनकी इतनी साधन-सम्पत्ति थी कि जो बोलते परम सत्य का प्रवचन होता। न पढ़ सकते, न लिख सकते और उनके जैसे फटे हाल के व्यक्ति को देखकर न कोई समझ सकता कि यह अपढ जंगली भी ज्ञानी है। परन्तु था वह परम ज्ञानी ही, प्रज्ञा का स्वय साक्षात्कार करने वाला, जिसका पता उसके बोलने पर ही लगाया जा सकता था। अपने अज्ञातवास में हुइ-नेंग् को अनेक कठिनाइया सहनी पडी। पन्द्रह साल तक उन्हें एक ऐसे स्थान मे शरण लेनी पड़ी जहा उन्हें शिकारियो के साथ रहना पडा। जब शिकारी उन्हें अपने जालो की देखभाल करने छोड़ जाते तो वे उनमें फसे प्राणियो को जाल से निकाल देते थे। उनके लिए अलग से निरामिष भोजन की व्यवस्था कठिन थी। शिकारी जिन बर्तनों मे मास पकाते, उन्ही मे कुछ सब्जियां डाल देते थे और उनसे अपना गुजारा करते थे। एक बार वे एक बौद्ध विहार में गये जहा महापरिनिर्वाण-सूत्र पर प्रवचन चल रहा था। प्रवचन के अन्त मे दो भिक्षुओ मे एक बात पर वाद चल पड़ा और वह शान्त नही होता था। विवाद इस बात पर था कि हवा मे एक पताका फहरा रही थी और यह निर्णय नही हो पा रहा था कि चलने की क्रिया कहा हो रही है? हवा मे या पताका मे? बाबा हुइ-नेंग् तो वहा थे ही। बोले, "न हवा चल रही है और न पताका। यह तुम्हारा अपना मन ही है जो चल रहा है।" लोग बड़े विस्मित हुए, उन्हें उच्चासन दिया और धर्म पर उनसे अनेक बातें पूछी।

वर्षों के अज्ञातवास और ध्यानाभ्यास के बाद हुइ-नेंग् ने प्रवचन देना शुरू किया। मंच-सूत्र के द्वितीय अध्याय मे उनका प्रज्ञा पर दिया हुआ प्रवचन संगृहीत है। इसमे उन्होने बताया है कि प्रज्ञा प्रत्येक प्राणी के अन्दर विद्यमान है और उसे अपने अन्दर ही खोजना चाहिये। इसी मे उनकी प्रसिद्ध 'अरूप' गाथा है, जिसे उद्धृत करना यहां आवश्यक होगा, क्योकि इसमे उनके दर्शन और साधना-तत्व का सार निहित है। हुइ-नेंग् की 'अरूप'-गाथा यह है :

बौद्ध शास्त्रों और ध्यान-सम्प्रदाय की शिक्षाओ का उपदेष्टा गुरु मध्याह्न की अपनी उच्च कक्षा में स्थित प्रज्वलित सूर्य के समान होता है;
मन के सार को साक्षात्कार करने के लिए धर्म के अलावा वह कुछ और उपदेश नही देता और इस ससार मे उसके आने का उद्देश्य ही होता है मिथ्या सिद्धान्तो को परास्त करना।

'युगपद्' और 'क्रमवृत्य' के रूप में हम धर्म का वर्गीकरण नही कर सकते,
परन्तु कुछ मनुष्य दूसरो की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से बोधि को प्राप्त कर लेते हैं,
मन के सार को साक्षात्कार करने का यह सिद्धान्त अज्ञानियो की समझ के बाहर है।

चाहे हम दस हजार रूपों मे इसकी व्याख्या कर लें,
परन्तु इन सब व्याख्याओ का उद्गम यह एक मूल सिद्धान्त ही है कि हमें अपने अंधेरे और अस्थायी घर के अन्दर प्रकाश करना है,
जो मलिनताओं (क्लेशों) के कारण गन्दा है,
हमें सतत रूप से इसमे प्रज्ञा का प्रकाश करना है।

मिथ्या सिद्धान्त हमे मलीन करते हैं,
और सम्यक् दृष्टि हमें मलिनता से बचाती है,
परन्तु जब हम इन दोनों को ही (मिथ्या और सम्यक् दृष्टियों को) हटाने की स्थिति मे हो जाते हैं,
तो हम निरपेक्ष रूप से शुद्ध हो जाते हैं।

हमारे मन के सार में ही बोधि व्याप्त है,
इसे अलग ढूढ़ना गलत होगा,
हमारे अपवित्र मन के अन्दर ही पवित्र पाया जाता है,
और जब एक बार हमारा मन ठीक हुआ तो हम तीनों प्रकार के मोहा-
वरणो (क्लेश, दुष्कर्म और अधम योनियों में प्रायश्चित्त) से मुक्त हो
जाते हैं।

यदि हम बोधि के मार्ग पर चल रहे हैं,
तो पथ के रोड़ो से हमें चिन्तित नहीं होना चाहिये।
यदि हम अपने दोषो पर लगातार निगाह रखते रहे,
तो हम सच्चे मार्ग से भ्रष्ट नही हो सकते।

प्रत्येक जीव की मुक्ति का अपना अलग मार्ग है,
इसलिये उन्हें एक दूसरे के मार्ग मे हस्तक्षेप नही करना चाहिये,
और न परस्पर विरोध करना चाहिये;
परन्तु यदि हम स्वय अपने मार्ग को छोड़ दें और मुक्ति के किसी अन्य मार्ग
को खोजें,
तो हम इसे नही पायेंगे,
मृत्यु-पर्यन्त हम भले ही भटकते रहें,
अन्त में पछतावा ही हमे मिलेगा।

यदि तुम सच्चे मार्ग को पाना चाहते हो,
तो सम्यक् कर्म तुम्हें वहा सीधा पहुंचा देगा,
परन्तु यदि तुम बुद्धत्व को पाने का उद्योग ही न करो,
तो तुम अधेरे में ही भटकते रहोगे और कभी उसे न पाओगे।

जो ईमानदारी से सच्चाई के मार्ग पर चलता है,
वह दुनिया की गलतियों को नहीं देखता,
यदि हम दूसरों के दोष देखते है,
तो हम स्वय भी गलत हैं।

यदि दूसरे पुरुष गलती पर है तो उस पर हमे ध्यान नहीं देना चाहिये,
क्योंकि दूसरो के दोष देखना हमारे लिये गलत है।
दोष ढूंढने की आदत से पीछा छुड़ा कर,
हम अपवित्रता के एक स्रोत को बन्द कर देते हैं,
जब न घृणा और न प्रेम हमारे मन को विक्षुब्ध कर सकते हैं,
तो हम गहरी शान्ति मे सोते हैं।

जिन्हें दूसरो के शिक्षक बनना है,
उन्हें उन उपायों में कुशल होना चाहिये जो दूसरो को ज्ञान दिलाते हैं,
जब शिष्य सब सन्देहों से मुक्त हो जाता है,
तो यह दिखाता है कि उसने अपने मन के सार को पा लिया है।

बुद्ध का क्षेत्र इस संसार मे ही है,
इसी मे हमें बोधि को खोजना है;
इस संसार से अपने को अलग कर बोधि को खोजना
उसी प्रकार युक्तिहीन और हास्यास्पद है जिस प्रकार एक खरगोश के सींग
को खोजना।

सम्यक् दृष्टि ही 'पर' (लोकोत्तर) कहलाती है,
मिथ्या दृष्टियां 'ऐहिक' (लौकिक) हैं,
जब सभी दृष्टिया, पर और ऐहिक, हटा दी जाती हैं,
तो बोधि का सार प्रकट होता है।

यह गाथा 'युगपद्' शाखा की है,
'धर्म का महान् जहाज' भी यह कहलाती है;
कल्प-कल्पान्त तक भी यदि कोई मनुष्य मोह में रहा हो,
फिर भी एक बार ज्ञानोदीप्त होने पर वह एक पल भर मे ही बुद्धत्व को
प्राप्त कर लेता है।

कहा गया है कि प्रज्ञा पर यह प्रवचन सुनने के बाद श्रोताओं पर गहरा प्रभाव पड़ा और 'साधु', 'साधु' कहते हुए उन्होंने अभिनन्दन किया और कहा,

'किसे पता था कि क्वग्-तुग्[1] मे भी एक बुद्ध पैदा होगा !'

छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र के तृतीय परिच्छेद मे शिन्-चाउ प्रान्त के प्रशासक वई के द्वारा पूछे गये प्रश्न और हुइ-नेंग् द्वारा दिये गये उनके उत्तर सन्निहित हैं। यहा हुइ-नेंग् ने यह स्वीकार किया है कि जो कुछ उन्होंने सिखाया है, वह सब बोधिधर्म के द्वारा सिखाये गये मूलभूत सिद्धान्त ही हैं। प्रशासक वई उनसे पूछता है कि 'घर पर रहते हुए ही हम अपने को किस प्रकार शिक्षित करें ?' इसके उत्तर मे हुइ-नेंग् उसे फिर एक 'अरूप' गाथा सुनाते है और कहते हैं कि यदि तुम इसके उपदेश को अपने व्यवहार मे लाओ तो तुम बिलकुल उस भिक्षु के समान हो जो सिर मुडवा कर और घर छोडकर सदा मेरे साथ रहता है। परन्तु यदि तुम इसको प्रयोग मे न लाओ तो तुम आध्यात्मिक मार्ग मे कुछ प्रगति नही कर सकते। गाथा इस प्रकार है :

जिसका मन साफ है, उसके लिए शिक्षापदो (विनय-नियमो) का अभ्यास करना अनावश्यक है।
सच्चे और खरे व्यवहार के लिए ध्यान को छोड़ा जा सकता है।
कृतज्ञता के सिद्धान्त पर हम अपने माता-पिता का भरण-पोषण करते हैं और पितृभक्तिपूर्वक उनकी सेवा करते है,
अच्छाई के सिद्धान्त पर बड़े और छोटे व्यक्ति आवश्यकता के समय एक दूसरे की सहायता करते हैं;
एक दूसरे के साथ हिल-मिल कर रहने की इच्छा के सिद्धान्त पर बड़े और छोटे एक दूसरे से स्नेहपूर्ण बर्ताव करते हैं,
क्षमाशीलता के सिद्धान्त पर हम एक विरोधी भीड में भी झगडा नहीं करते।
यदि हम तब तक सतत रूप से उद्योग मे लगे रहे जब तक कि लकड़ियों को रगड़ने से आग न निकले,
तो लाल कमल (बुद्ध-स्वभाव) मैली कीचड़ (अज्ञानावस्था) मे से ही उत्पन्न होगा।
जो कड़ुए स्वाद का है, वह अवश्य अच्छी दवा होगा,
जो कानों को अच्छी नही लगती, वह सचमुच खरी सलाह है,
अपनी गलतियो को सुधार कर हम ज्ञान प्राप्त करते हैं,

---

१. हुइ-नेंग् की जन्म-भूमि का स्थान, कैंण्टन् के समीप।

परन्तु अपने दोषों का समर्थन करना अपने अस्वस्थ मन का परिचय देना है।
अपने दैनिक जीवन में हमें सदा परोपकार का अभ्यास करना चाहिये,
परन्तु धन को दान मे देने से बुद्धत्व नहीं मिलता,
बोधि हमें अपने मन के अन्दर ही मिलेगी,
बाहर रहस्य खोजने की कोई आवश्यकता नहीं है।
इस गाथा के सुनने वाले, जो इसके उपदेश को अभ्यास मे लायेंगे,
स्वर्ग को अपने सामने ही पायेगे।

छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र का चतुर्थ परिच्छेद समाधि और प्रज्ञा सम्बन्धी उनके प्रवचनो का सकलन है। इसमे हुइ-नेग् ने साधना के मर्म को समझाया है और उसकी विधि बताई है, जिसका उद्धरण हम आगे के परिच्छेद (चतुर्थ परिच्छेद) मे देंगे। समाधि और प्रज्ञा का सम्बन्ध दिखाते हुए उन्होने कहा है, "समाधि प्रज्ञा का सार है और प्रज्ञा समाधि की क्रिया है। जिस क्षण हम प्रज्ञा को प्राप्त करते है तो उस क्षण समाधि भी उसके साथ होती है, और जिस क्षण हम समाधि मे होते हैं, तो उस क्षण प्रज्ञा भी उसके साथ होती है।" समाधि और प्रज्ञा मे संतुलन होना चाहिये। इससे क्या तात्पर्य है, इसे स्वयं हुइ-नेंग् इस प्रकार बताते हैं, "उस व्यक्ति के लिए, जिसकी जबान पर तो अच्छे शब्द सदा तैयार रहते हैं, परन्तु हृदय जिसका अपवित्र है, समाधि और प्रज्ञा व्यर्थ हैं, क्योकि उनका एक दूसरे से सन्तुलन नही है। परन्तु जब हमारा मन भी अच्छा होता है और हमारे शब्द भी अच्छे होते हैं, जब हमारा बाहरी चेहरा और अन्दरूनी भावनाएं एक दूसरे के सामंजस्य मे होती हैं, तो यही समाधि और प्रज्ञा का सन्तुलन है।" समाधि और प्रज्ञा के सम्बन्ध को यहां छठे धर्मनायक ने दीपक और उसके प्रकाश का सम्बन्ध बताया है। "दीपक के साथ ही प्रकाश है। बिना दीपक के अंधेरा हो जायगा। दीपक प्रकाश का सार है और प्रकाश दीपक की क्रिया है। नाम मे दीपक और प्रकाश दो हैं, परन्तु तत्वत. वे एक ही हैं। समाधि और प्रज्ञा का भी यही हाल है।"

पांचवें परिच्छेद में ध्यान सम्बन्धी प्रवचन है, जिसका भी उपयोग हम आगे के परिच्छेद मे ध्यान-सम्प्रदाय की साधना-विधि का परिचय देते समय करेंगे। छठे परिच्छेद मे प्रायश्चित्त-सम्बन्धी प्रवचन है। इसमे भी मानसिक पक्ष पर जोर दिया गया है। "क्यो न अपने मन के अन्दर ही हम पाप से अपना पीछा छुड़ाए ?" त्रिशरण भी अन्दर ही ली जाती है और बुद्ध के त्रिकाय को भी मन के सार के अन्दर ही ढूढना है।

विभिन्न प्रवृत्तियो और परिस्थितियो के अनेक स्त्री-पुरुष छठे धर्मनायक से मिलने आये और उनकी आवश्यकताओ और प्रकृतियो को देखते हुए उन्होंने जो उपदेश उन्हें दिये, उनका विवरण इस 'सूत्र' के सातवे परिच्छेद मे है। एक बार एक भिक्षुणी उनसे मिली और महापरिनिर्वाण-सूत्र के कुछ कठिन शब्दो के अर्थ पूछने लगी। हुइ-नेग् ने विनम्रतापूर्वक कहा, "मैं अनपढा हू। परन्तु यदि तुम इस ग्रन्थ के साराश को पूछना चाहो, तो पूछो।" इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए जब भिक्षुणी ने उनसे कहा कि "जब तुम शब्दो के अर्थ ही नही जानते तो सम्पूर्ण ग्रन्थ के साराश को तुम किस प्रकार समझ सकते हो", तो इस पर हुइ-नेग् ने उससे कहा, "बुद्धो के उपदेश की गम्भीरता का लिखित भाषा से कोई सम्बन्ध नही है।" इसी प्रकार एक भिक्षु 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' के विषय मे पूछने आया, तो हुइ-नेंग् ने उससे कहा, "भैया, मुझे सूत्र पढकर सुनाओ, मैं पढना नही जानता।" बाद मे उन्होने उसे उसका मर्म समझाया और उसके सन्देहो को दूर किया। अशब्द ज्ञान की ओर सकेत करते हुए उन्होने उससे कहा, "यदि तुम केवल इतना विश्वास कर सको कि बुद्ध कोई शब्द नही बोलते, तो 'पुण्डरीक' स्वय तुम्हारे मुह मे ही खिलेगा।" एक बार एक भिक्षु ने हुइ-नेग् के पास आकर पूछा कि "किस प्रकार का व्यक्ति पांचवें धर्मनायक (हुग्-जेन्) के उपदेश को समझ सकता है ?" हुइ-नेंग ने उत्तर दिया "जो बौद्ध धर्म को समझता है, वह समझ सकता है।" आगन्तुक ने फिर पूछा, "तब तो भन्ते, आप अवश्य समझते होगे।" "मैं बौद्ध धर्म को नही समझता" हुइ-नेंग् का विनम्र उत्तर था। अद्वितीय साधक यु ग् चिआ त-शिह् (युएन-क्वोक्) के साथ धर्मनायक की मुलाकात का इस परिच्छेद मे वर्णन है, जिसका उल्लेख हम अभी आगे करेंगे। इस प्रकार हुइ-नेंग् के सहज ज्ञान को दिखाने वाले अनेक प्रसग, जिनमे होकर उनकी मौलिक प्रतिभा, अनुभव, खरापन और साथ ही विनम्रता और कभी-कभी विनोद-भावना और भी साफ झलकती हैं, हमे इस परिच्छेद मे मिलते हैं।

आठवें परिच्छेद मे 'युगपद्' और 'क्रमवृत्य' ध्यान-शाखाओ के अनुसार सत्य-प्राप्ति की प्रक्रियाओ की तात्विक एकता दिखाई गई है और हुइ-नेंग् के स्वानुभव का भी वर्णन है। नवें परिच्छेद मे इस बात का वर्णन है कि तत्कालीन चीनी सम्राट् और सम्राज्ञी ने हुइ-नेंग् को अपने पास बुलवा कर उनका सम्मान करना चाहा, परन्तु हुइ-नेंग् ने विनम्रतापूर्वक उत्तर भिजवाया कि उन्हें अपने शेष जीवन को वन मे ही बिताने की अनुमति दी जाय और वे नही आये। दसवें परिच्छेद मे हुइ-नेंग् की मृत्यु और उनके अन्तिम उपदेश का

वर्णन है, जिसके कुछ अशों को हम पहले (द्वितीय परिच्छेद मे) उद्धृत कर चुके हैं। उन्होने इस समय अपने शिष्यों से कहा, "मेरे चले जाने के वाद दुनिया की परम्परा का अनुसरण कर तुम रोना मत और न अफसोस करना। शोक-सूचक सन्देशो को स्वीकार न करना और न मातमी लिवास पहनना। ये वातें बौद्ध धर्म के विशुद्ध उपदेश के विपरीत हैं और इन्हें जो करता है वह मेरा शिष्य नही है। जो तुम्हें करना है वह है अपने मन को जानना और बुद्ध-स्वभाव का साक्षात्कार करना, जो न आता है, न जाता है, न होता है, न नही होता है, न ठहरता है, न चलता है, न स्वीकार करता है, न इन्कार करता है, न विश्राम करता है, न प्रस्थान करता है।" इतना कहकर उन्होंने रात के तीसरे पहर चोले को छोड दिया। तत्कालीन चीनी सम्राट् (हिन्-चु ग्) ने उन्हें 'महान् दर्पण ध्यानाचार्य' की मरणोत्तर उपाधि दी और उनकी समाधि पर स्वयं यह लेख लिखा: "समन्वित आत्मा दिव्य रूप से प्रकाशवान् है।"

बोधि-गीत

हुइ-नेंग् के अनेक प्रतिभाशाली शिष्य हुए जिन्होंने चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय का व्यापक प्रचार किया। इनमे म-त्सु (जापानी भाषा मे उच्चारण 'बसो'), शिह-ताउ (जापानी भाषा मे उच्चारण 'सेकितो') और यंुग्-चिआ त-शिह् (जापानी उच्चारण 'योका डेशी') के नाम अति प्रसिद्ध हैं। इन सवने महत्त्व-पूर्ण साहित्य की सृष्टि की है। परन्तु हम यहा विशेषत: युंग्-चिआ त-शिह् के सम्वन्ध मे ही कुछ कहेंगे। युंग्-चिआ त-शिह् को एक दूसरे नाम ह्सु-आन्-च्यो के नाम से भी पुकारा जाता है जिसका जापानी भाषा मे उच्चारण गेगाकु है। 'मच-सूत्र' (तन्-चिग्) या 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' में इनका नाम 'यूएन-क्वोक्' दिया गया है। हम इन्हें यहा युग्-चिआ त-शिह् के नाम से ही पुकारेंगे, क्योकि ये चीनी थे। (जापानी विद्वानो ने और उनका अनु-सरण कर यूरोपीय विद्वानो ने भी उन्हें उनके नाम के जापानी उच्चारण 'योका डेशी' या 'गेंगाकु' ('गेंकाकु' भी) से ही अक्सर पुकारा है)। हुइ-नेंग् के शिष्य होने से पूर्व युग्-चिआ त-शिह् तेन्दई (चीनी, तियन्-तई) सम्प्रदाय के अनुयायी थे और उन्होने वर्षों तक शमथ और विदर्शना की भावना की थी। वाद में वे हुइ-नेंग् से मिले और उनके शिष्य हो गये। हुइ-नेंग् से उनकी मुलाकात का वर्णन 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' के सातवें परिच्छेद मे है। उससे ध्यान-सम्प्रदाय के साधुओ के एक-दूसरे से मिलने-जुलने और उनके वार्तालाप तथा उनके उपदेशो की अभिव्यंजना पर प्रकाश पड़ता है। अत. उसका उल्लेख हम

यहा करेंगे। एक बार हुइ-नेंग् का एक शिष्य, जिसका नाम उन्-चक् था, युग्-चिम्रा त-शिह् से मिला और दोनो मे काफी देर तक वार्तालाप होता रहा, जिससे उन्-चक् को यह पता लगा कि जो कुछ युग्-चिम्रा त-शिह् बोलता है उसमे ध्यान-गुरुओ की सी भावाभिव्यक्ति होती है और उनके वचन प्राय. समान-से होते हैं। उसने कुतूहलवश पूछा, "क्या आप कृपा कर अपने गुरु का नाम बतायेंगे, जिनसे आपने धर्म सीखा है ?" युग्-चिम्रा त-शिह् ने उत्तर दिया, "जब मैंने वैपुल्य (महायान) के सूत्रो और शास्त्रो को पढा, उस समय मेरे कई गुरु थे, जिन्होंने मुझे शिक्षा दी। परन्तु इसके बाद जब मैंने विमलकीर्ति-निर्देश-सूत्र पढा तो मुझे बुद्धचित्त-सम्प्रदाय (ध्यान-सम्प्रदाय) के महत्व का भान हुआ और इस सम्बन्ध मे मुझे अब तक कोई गुरु नही मिला है जिससे मैं अपने ज्ञान का अनुमोदन करवा सकता या उस पर सही लगवा सकता।" जब उन्-चक् ने यह कहा कि ज्ञान का कोई साक्षी अवश्य होना चाहिये और किसी दूसरे ज्ञानी पुरुष द्वारा उस पर सही लगवाना आवश्यक है, तो युग्-चिम्रा त-शिह् ने उससे कहा, "बन्धुवर! तुम ही मेरे साखी बनो।" "परन्तु मेरे शब्दो मे क्या वजन है", ऐसा उन्-चक् ने उसे उत्तर दिया और साथ ही हुइ-नेंग् के आश्रम का पता भी बता दिया जहां उसे इस कार्य के लिए जाना चाहिये। अस्तु, दोनो कल्याणमित्र हुइ-नेंग् के आश्रम पर गये। हुइ-नेंग् की तीन बार प्रदक्षिणा कर युग्-चिम्रा त-शिह् चुपचाप खड़ा रहा, उसने उन्हें प्रणाम नही किया और अपना डडा भी (जिसे ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षु अपने पास रखते हैं) अपने हाथ मे ही लिये रहा। उसकी इस अशिष्टता को देखकर हुइ-नेंग् ने उससे कहा, "एक बौद्ध भिक्षु विनय के ३,००० बडे और ८०,००० क्षुद्र नियमो का मूर्तिमान् रूप होता है। मैं नही जानता कि तुम कहा से आये हो और क्यो तुम इतने अहंकारी हो ?" इस पर युग्-चिम्रा त-शिह् ने उत्तर दिया, "निरन्तर जन्म-मरण का प्रश्न महत्वपूर्ण है और मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है। मेरे पास औपचारिक बातो मे नष्ट करने के लिए समय नही है।" आध्यात्मिक संवाद चल पडा।

"तो तुम अजाति के सिद्धान्त का साक्षात्कार कर जीवन की क्षणभगुरता की समस्या को हल क्यो नही कर लेते ?"

"मन के सार को खोजना ही पुनर्जन्म से मुक्त हो जाना है और एक बार जब यह समस्या हल हुई तो फिर जीवन की क्षणभगुरता की समस्या रह ही कहा जाती है ?"

"बिलकुल ठीक है! ऐसा ही है, ऐसा ही है!" युग्-चिम्रा त-शिह् का काम हो गया। उनके अनुभव पर गुरु की सही लग गई। झट उन्होंने विदाई

के समय के उपयुक्त पूरी औपचारिकता के साथ अब गुरु को प्रणाम किया और जाने के लिए आज्ञा मांगी। गुरु ने कहा, "तुम बहुत जल्दी जा रहे हो, ऐसा मत करो।"

"जल्दी कैसे हो सकती है, जब गति की ही अपने आप मे कोई सत्ता नहीं है ?"

"कौन जानता है कि गति की सत्ता नही है ?"

"भन्ते ! आप कृपा कर विशेषीकरण न करे।"

इस पर हुइ-नेंग् ने युंग् चिआ त-शिह् की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि उन्होंने 'अजाति' के विचार को अच्छी प्रकार समझ लिया है। परन्तु युग्-चिआ त-शिह् ने उन्हें प्रत्युत्तर दिया, "क्या 'अजाति' में भी विचार है ?"

"विना विचार के कौन विशेषीकरण करेगा ?"

"जो विशेषीकरण करता है, वह विचार नही है।"

—"साधु ! साधु !"

गुरु ने युग्-चिआ त-शिह् से फिर अनुरोध किया कि कुछ देर और ठहरे और वे एक रात के लिए उनके पास ठहर गये। इसी कारण युग्-चिआ त-शिह् को 'प्रबुद्ध पुरुष, जो एक रात के लिए धर्मनायक के पास ठहरा' कहा जाता है। अपने आध्यात्मिक अनुभवो का वर्णन करते हुए युग्-चिआ त-शिह् ने प्रभूत साहित्य लिखा है, जिसमे उनके 'वोधि-गीत' का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है और आज भी वह चीन, जापान और कोरिया मे एक लोक-प्रिय रचना है जिसे ध्यान-विद्यार्थियो के द्वारा कण्ठस्थ किया जाता है। चीनी भाषा मे इसका मूल शीर्षक है 'चेंग्-तओ-के' जिसका शाब्दिक अर्थ है 'साक्षात्कार-पथ-गीत'। जापानी भाषा मे यह 'शो-दो-क' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कुल ५६ गाथाए हैं, जिनमें आत्म-साक्षात्कार के मार्ग के अनुभवो का एक मस्ती भरी शैली में वर्णन है। इस विलक्षण आध्यात्मिक गीत की कुछ गाथाएं इस प्रकार हैं :

क्या तुम ध्यान के इस विद्यार्थी को देखते हो ?
वह सब कुछ भूल चुका है जो उसने याद किया था;
फिर भी वह सहज रूप से उस सबका अभ्यास कर रहा है,
जो उसने सीखा है।

न वह बुरे विचारो को रोकने का प्रयत्न करता है
और न सत्य की ही उसे तलाश है,

क्योंकि उसे पता है कि अज्ञान ही वास्तव में बुद्ध-स्वभाव है,
और यह तुच्छ प्रतीयमान शरीर ही धर्म-काय है।

जिस क्षण तुम तथागत-ध्यान मे होते हो, छह पारमिताए
और अशेष पुण्य उसी समय पूरे हो जाते हैं।
जीवन की छह गतियां तुम्हारे स्वप्न मे ही अवस्थित हैं;
जब तुम जागते हो तो वे शून्य मे विलीन हो जाती हैं,
शून्य के अलावा कुछ नहीं रहता।

न पाप, न प्रसन्नता,
न हानि, न लाभ,
इन बातों को मन के सार के अन्दर खोजने
का प्रयत्न मत करो;
बहुत समय से तुमने अपने दर्पण के मैल को साफ नही किया है,
अब समय है कि तुम इसे ठीक प्रकार से साफ होते देखो।

कौन है वह जो निर्विचार विचार करता है, कौन है वह जो अजाति को पहचानता है ?
यदि यह सचमुच अजाति ही है, तो तुम इसको सोच भी नहीं सकते।
जब तक तुम बुद्धत्व को खोजते हो, विशेषत उसके लिये यत्न करते हुए,
तब तक तुम्हारे लिये कोई प्राप्ति नहीं है, तुम कितना ही यत्न कर लो।

चारों महाभूतो को अपने हाथ से निकल जाने दो, उनसे
मत चिपटो;
अपने सच्चे स्व-भाव के अनुसार पियो और खाओ।
वस्तुएं क्षणिक हैं, इसलिये वे शून्यता की अवस्था में हैं,
यही बुद्ध का साक्षात्कार (किया हुआ ज्ञान) है।

बुद्ध का सच्चा शिष्य परमार्थ ही बोलता है;
यदि तुम मेरे कथन से सहमत नही तो मेरे साथ विचार-विमर्श करो,
परन्तु याद रक्खो कि बौद्धधर्म का सम्बन्ध सत्य के मूल से है,
टहनियों या पत्तियों से नहीं।

अधिकतर प्राणी ज्ञान के मणि-रत्न को नहीं पहचानते,
यह तथागत-गर्भ में छिपा पड़ा है, खोज और प्राप्ति की
प्रतीक्षा करते हुए;
छह इन्द्रियां और उनके छह विषय (आलम्बन) ही
जीवन का निर्माण करते हैं, जैसा कि वह है।
समष्टि रूप में यह माया है, परन्तु वस्तुतः ऐसा
कुछ है ही नहीं जिसे माया भी कहा जाय;
ज्ञान के इस मणि-रत्न की परिपूर्ण
आभा मनुष्यता को प्रकाश देती है,
इसमें रंग और रूप नहीं, अ-रंग और अ-रूप भी नहीं हैं।

पांच प्रकार की चक्षुओं (भौतिक, दिव्य, प्रज्ञा, धर्म और बुद्ध-चक्षु)
को विशुद्ध करो, और पांच इन्द्रियों (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा) को प्राप्त करो।
अतर्क्य (निर्विचार) ध्यान के द्वारा ही यह सम्भव है;
दर्पण में परछाईं को स्वाभाविक तौर पर देखा जा सकता है।
परन्तु पानी की सतह पर चन्द्रमा के प्रतिविम्ब को पकड़ना असम्भव है।

ध्यान के अभ्यासी को सदा अकेले घूमना चाहिये,
जिन्होंने पाया है, वे निर्वाण के एक ही मार्ग पर चलते हैं,
उनमें से प्रत्येक का ढंग स्वाभाविक होता है, वह हृदय से साफ और सन्तोषी होता है;
चूंकि वह लोगों से विशेष आकर्षण नहीं चाहता,
इसलिये कोई दूसरा भी उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता।

शाक्य-पुत्र (बौद्ध-भिक्षु) गरीब होते हैं, यह सब कोई जानते हैं;
परन्तु उनकी गरीबी शरीर की है, उनका आध्यात्मिक जीवन गरीबी नहीं जानता;
भिक्षु का फटा-पुराना चीवर दुनिया को उसकी गरीबी दिखाता है,
परन्तु उसका ध्यान जो दूसरो से अदृश्य है, उसका अनमोल खजाना है।

ध्यान का उत्तम अभ्यासी एक ही बार अपने मामले को सदा के लिये तय कर लेता है, सीधा परम सत्य पर पहुँच जाता है।
मध्यम कोटि का ध्यान-विद्यार्थी बहुत सीखना चाहता है और बहुत के बारे में ही सन्देह करता है।
यदि तुम पूर्वग्रह के अपने फटे और गन्दे कपड़े को उतार फेंको तो तुम अपनी सच्ची आत्मा को देख सकते हो,
बाहरी बातों की दौड़धूप में क्यों पड़ते हो ?

दूसरे भले ही ध्यानी की निन्दा करें तो करते रहें, द्वेष करे तो करते रहें;
जो मशाल से आकाश को जलाना चाहते हैं, वे अन्त में थक कर बैठ जायेंगे;
ध्यानी उनकी निन्दा की बातें सुनता है और अमृत के समान
उनका स्वाद लेता है;
अन्त में सब कुछ पिघल जाता है और ध्यानी सहसा अपने को अतर्क्य (निर्विचार) समाधि में पाता है।

दूसरों के द्वारा अपनी निन्दा होते देखकर मुझे पुण्य प्राप्त करने का अवसर मिलता है,
क्योंकि मेरे निन्दक सचमुच मेरे अच्छे मित्र हैं;
गाली दिये जाने पर जब मेरे अन्दर गाली देने वाले के प्रति पक्ष या विपक्ष की भावना पैदा नहीं होती,
तो मेरे अन्दर सब प्राणियों के प्रति प्रेम और विनम्रता की शक्ति बढ़ती है, जो अ-जात से उत्पन्न है।

आन्तरिक अनुभव मे ही नहीं, उसकी व्याख्या मे भी हमे परिपूर्ण होना चाहिये,
हमारा सयम ध्यान और प्रज्ञा दोनों मे ही परिपूर्ण होना चाहिये, न कि केवल एकाकी रूप से हम शून्यता-विहार मे ही रहें;
हम अकेले ही इस स्थान पर नहीं आये हैं,
जितने गंगा के बालु-कण हैं, उतने ही बुद्ध इसी सार से निर्मित हुए हैं।

मैंने समुद्रों और नदियों को पार किया, पहाड़ों पर चढ़ा, और नदियों की बाढ़ें पार की,
ताकि मैं गुरुओं से मिल सकू, सत्य की खोज कर सकू, और ध्यान के रहस्य को जान सकू,
परन्तु जब से मैंने 'सोकी'[१] के मार्ग को पहचानने की योग्यता प्राप्त की,
तब से मैं समझने लगा हूं कि जन्म-मरण वह वस्तु नहीं है, जिससे मेरा कुछ भी सम्बन्ध हो।

ध्यान का विद्यार्थी ध्यान मे ही घूमता है,
ध्यान मे ही बैठता है;
चाहे वह बोले या चुप रहे,
चाहे चले या शान्त खड़ा रहे,
उसके मन का सार सदा सहज विश्राम में रहता है;
वह उस तलवार के सामने भी मुस्कराता है जो उसकी जान लेती है;
मृत्यु के समय वह शान्त रहता है,
और विषैली वस्तुए उसकी शान्ति को भग नही कर सकतीं।

हमारे स्वामी शाक्यमुनि ने प्राचीन काल मे दीपकर बुद्ध की सेवा की,
और फिर अनेक कल्पो तक क्षान्ति नामक तपस्वी के रूप में साधना की;
मैंने भी अनेक बार जन्म और अनेक बार मरण प्राप्त किये हैं;
जन्म और मरण—कितने अनन्त रूप से ये चलते आ रहे हैं!

परन्तु जब से मैंने अ-जाति के ज्ञान का साक्षात्कार किया, जो सहसा मुझ पर अवतीर्ण हुआ,
भाग्य के उतार और चढ़ाव, अच्छे और बुरे, सब अपनी शक्ति मुझ पर खो चुके हैं,
दूर पहाड़ो पर एक छोटी-सी कुटिया में मैं रहता हूं,
ऊंचे हैं वे पर्वत, गहरी है सघन वृक्षों की छाया और एक पुराने चीड़ के पेड़ के नीचे,
मैं अपने भिक्षुजनोचित निवास में शान्त और सन्तुष्ट बैठता हूं,
पूर्ण शान्ति और ग्रामीण सादगी का यहां शासन है!

---

१. 'सोकी' (चीनी भाषा मे 'त्साओ-ची') उस स्थान का नाम है, जहा हुइ-नेंग् की कुटिया थी। अत यह शब्द स्वयं हुइ-नेंग् का वाचक हो गया है।

जो धर्म को समझते हैं, वे सदा सहज रूप से कार्य करते हैं;
संसार के अधिकतर आदमी 'संस्कृत' में रहते हैं,
परन्तु ध्यान का विद्यार्थी 'अ-संस्कृत' में रहता है;
जो दूसरों को कुछ इस आशा में देते हैं कि बदले में उन्हें कुछ मिलेगा,
वे आकाश में तीर मार रहे है।

वह न सच्चे की तलाश करता है, न झूठे से अपने को अलग करता है,
वह साफ देखता है कि सभी द्वैत मिथ्या हैं और उनमें सच्चाई नहीं है।[1]
शून्यता का अर्थ है एक पक्षीय न होना,
न शून्य, न अ-शून्य,
यही तथागत-ज्ञान का सच्चा रूप है।

शून्यता की जब निषेधात्मक व्याख्या की जाती है तो वह इस कार्य-कारणमय जगत् का ही निषेध कर देती है,
और तब सब विभ्रम और अस्तव्यस्तता है, जहां कोई नियम नही और
यह सब चारो ओर से बुराइयों को निमंत्रित करना है;
यही बात तब होती है जब प्राणी शून्यता को छोड़कर वस्तुओं से लिपटते हैं,
यह तो ऐसा ही है जैसे कोई आदमी पानी मे डूबने से बचने का प्रयत्न कर अपने को आग की लपटो में डाल दे।

जब कोई झूठ को छोड़कर सत्य को पकड़ने का प्रयत्न करता है,
तो यह विकल्प (भेद) हो जाता है और उसमें कृत्रिमताएँ हैं और मिथ्यात्व है।
जब योगी अपने मन को न समझ कर सिर्फ संयम का अभ्यास करता है,
तो सचमुच वह एक शत्रु को अपना प्यारा बच्चा समझने की गलती करता है।

---

१ कबीर साहब भी कहते हैं कि यह सब जगत् मन का कल्पित ही है, यहां किसे छोड़ा जाय और किसमें उलझा जाय? "कहै कबीर इहै मन माना। केहि धू छूट कवन उरझाना।"

हिमालय में हिमि नामक एक जड़ी होती है, जो ऐसी जगह उगती है जहां और घासें नहीं उगतीं;
उस जड़ी को चर कर गायें विशुद्धतम दूध देती हैं,
मैं उस दूध को सदा पीता हूं ।

एक ही मूल प्रकृति, पूर्ण और सर्वव्यापक,
सब प्रकृतियों मे स्पन्दित होती है;
एक ही सत्यता, सर्वस्पर्शी, अपने अन्दर सब सत्यताओं को समेटे हुए है,
एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जहां कहीं भी जल का विस्तार है,
और जल के अन्दर के सब चन्द्रमा एक ही चन्द्रमा में,
समाश्लिष्ट हैं ।[1]
सब बुद्धों का धर्म-काय मेरी अन्तर्सत्ता में प्रवेश करता है ।

और मेरा स्वयं का अस्तित्व उनके साथ मिलकर एक हो जाता है ।
(समाधि की) एक ही अवस्था में सारी अवस्थाएं समाई पड़ी हैं;
मन के सार में न रूप है, न विचार, न क्रिया;
एक उंगली को उठाने के पूर्व ही अस्सी हजार पावन उपदेश पूर्ण हो जाते हैं;
और एक पलक मारने के समय मे ही असख्य कल्पों के पाप नष्ट हो जाते हैं;
असख्य नामों और सिद्धान्तों से मेरे साक्षात्कार को कुछ वास्ता नहीं है।

साक्षात्कार, निन्दा और स्तुति दोनों से परे है,
अन्तरिक्ष के समान यह सीमाएं नहीं जानता,
जहां भी तुम खड़े हो, यह तुम्हें घेरे हुए हैं,
परन्तु यदि तुम इसे खोजो, तो तुम इस तक नहीं पहुंच सकते,
तुम्हारा हाथ इसे पकड़ नहीं सकता, तुम्हारा मन इसे अलग नहीं कर सकता;
जब तुम इसे खोजना बन्द कर देते हो, तो यह तुम्हारे साथ है;

१. मिलाइये "जल में व्यब प्रकासै ।" कबीर ।

मौन में तुम इसे जोर से बोलते हो, बोलने में तुम इसके मौन को प्रकट करते हो,[1]
इस प्रकार करुणा का द्वार सब प्राणियों के हित के लिए खुलता है।

यदि मुझसे कोई पूछे कि मैं बौद्ध धर्म की किस शाखा को मानता हूं,
तो मैं उससे कहता हूं—मेरी शक्ति महाप्रज्ञा की है :
तुम चाहे इसे मानो या न मानो—यह तुम्हारी मानवीय बुद्धि के बाहर है;
इस मूल उपदेश को लेकर तुम जहां कहीं भी जाओ,
वह स्थान तुम्हारे लिये सत्य का लोक ही होगा।

अनेक कल्पों से मैंने अपने जीवन मे इसकी (महाप्रज्ञा की) शिक्षा ली है;
यह मेरी बेकार बात नहीं है और न मैं तुम्हें धोखा ही दे रहा हूँ;
सोकी में मैंने इस उपदेश को पाया है,
और इसकी चिरस्थिति के लिये मै धर्मध्वजा गाड़ रहा हूं,
यह उपदेश बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म के अलावा और कुछ नही है।

सत्य की भी स्थापना नहीं करनी चाहिये,
और असत्य की तो कभी स्थिति ही नही रही,
जब सत् और असत् दोनों ही अलग हटा दिये जाते है,
तो शून्यता और अ-शून्यता के विचार भी लुप्त हो जाते हैं,

मन इन्द्रियो के माध्यम से काम करता है, तभी दृश्यात्मक जगत् का अनुभव होता है—
द्रष्टा और दृश्य का द्वैत ही दर्पण पर जमा हुआ मैल है,
जब इस मैल को हम धो डालते है तो प्रकाश चमकने लगता है;
इसलिये जब मन और दृश्यात्मक जगत् दोनों भुला दिये जाते है,
तो सार (तथता) अपने को प्रकट करता है।

---

१ अथवा "जब तुम चुप रहते हो तो यह बोलता है, जब तुम बोलते हो तो यह मौन है।"

पूर्ण 'युगपद्' उपदेश को मानवीय भावुकता से कुछ सरोकार नहीं है;
जहां सन्देह की छाया अभी रह गई है, वहीं तर्कवाद के लिये कारण विद्यमान है,
और न तर्क से सन्देह शान्त होते हैं;
मैं यह अहंकारवश नहीं कह रहा,
मुझे यही भय है कि कहीं तुम्हारा मार्ग तुम्हें उच्छेदवाद (असत्) और शाश्वतवाद (सत्) के गड्ढे में न गिरा दे।

'न' आवश्यक रूप से 'न' नहीं है और न
'हां' ही 'हां' है;
परन्तु जब तुम पूर्वग्रहों से चिपटते हो, तो एक बाल के दसवे भाग से भी फासला हजारों मीलों का हो जाता है,
जब यह 'हां' है तो एक नागा लड़की भी एक क्षण में बुद्धत्व प्राप्त कर लेती है;
परन्तु जब यह 'न' है तो परम विद्वान् ध्यानी आचार्य (ज़ेन्शो) भी जीवित अवस्था मे ही नरक मे गिरता है।

अपनी बाल्यावस्था से ही मै विद्वत्ता की उपलब्धि के लिये उत्सुक रहा हू,
मैंने सूत्रो, शास्त्रों और भाष्यों का अध्ययन किया है,
नामों और रूपो के विश्लेषण मे मै लगा रहा और मैंने यह नहीं जाना कि थकावट क्या है;
परन्तु अब मुझे पता चला है कि समुद्र में गोता लगाकर उसके रेत-कणों को गिनना सचमुच एक थकावट का काम है और बेकार भी;
मुझे लगा कि बुद्ध मुझे फटकार रहे हैं, जब मैंने 'सूत्र' में उनके इन शब्दों को पढ़ा—"जो खजाने तेरे नही है, उन्हें गिनने से क्या लाभ ?"
जो कुछ मैंने अतीत में पाया उस सबके लिये किया गया मेरा परिश्रम बेकार गया, वह गलत था;
अब मुझे इसका पूरा अनुभव हुआ है,
मै वैसे ही बहुत साल तक घूमन्तू भिक्षु बना रहा और मुझे किसी उद्देश्य की प्राप्ति नही हुई।

भूखो के सामने राजकीय भोजन उपस्थित है,
परन्तु वे खाने से इन्कार करते हे,

यदि बीमार एक अच्छे वैद्य के पास न जाकर वैसे ही वापस लौट आये,
तो वह चगा किस प्रकार होगा ?
इच्छाओं के लोक में रहते हुए ही ध्यान का अभ्यास करो,
अन्तः प्रज्ञा की सच्ची शक्ति तुम्हारे अन्दर ही प्रकट होगी;
जब आग के बीच मे कमल खिलता है, तो फिर वह कभी नष्ट नहीं किया जा सकता।

साक्षात्कार की दृष्टि में दृश्य कुछ नहीं है,
न मनुष्य है, न बुद्ध;
दुनिया की सारी वस्तुए समुद्र के बबूले जैसी है,
सन्त और ज्ञानी सब बिजली की एक कौंध में लुप्त हो जाते है।
प्राणहरणकारी चोट लगने पर भी ध्यान का विद्यार्थी अपने चित्त की समता को रखता है,
क्षण-क्षण वह ध्यान करता रहता है।
चाहे सूर्य ठंडा हो जाय, चन्द्रमा गरम हो जाय,
परन्तु कोई असुर या राक्षस बुद्ध-धर्म के परम सत्य को नष्ट नही कर सकता।
जब हाथी[1] गाड़ी को खीचता है, तो उसके बड़े-बड़े पहिये[2] घूमते है,
क्या सड़क बन्द हो सकती है यदि एक मूर्ख झींगुर अपनी टांगों को फैलाकर बैठ जाय ?

महान् गजराज खरगोश के संकीर्ण मार्ग पर नहीं चलता,
सम्यक् सम्बोधि बौद्धिकता के सकरे दायरे से बाहर है;
सरकडे के एक टुकड़े से आकाश को नापना बन्द करो।
यदि अब भी तुम्हें अन्तर्दृष्टि नहीं मिली,
तो इस क्षण मेरे पास आओ,
मैं तुम्हारा मामला तय करवा दूंगा।

चीनी ध्यानी सन्तो के अलावा जापानी ध्यान-साधको ने भी अपने अनुभवो की अभिव्यक्ति गाथाओ के रूप मे की है। इनकी संख्या बहुत अधिक है और

१. बोधि।
२. बुद्ध-धर्म।

सवका उल्लेख नही किया जा सकता। जापान मे दाए-श्रो (१२३५-१३०८) नामक महात्मा हुए है, जो ध्यान की शिक्षा लेने चीन गये थे। इन्होने 'ध्यान' पर गाथाए लिखी है। कुछ-एक पंक्तियां उद्धरणीय हैं:

"स्वर्ग श्रौर पृथ्वी से भी पहले एक सत्य था;
इसका कोई रूप नही, श्रौर नाम भी नहीं है,
श्रांखें इसे देख नहीं सकतीं;
इसके कोई शब्द नहीं, जिन्हें कान सुन सकें,

इसको मन या बुद्ध कहना इसके स्वभाव को बिगाड़ना है,
क्योंकि तव यह श्राकाश-कुसुम के समान काल्पनिक हो जाता है;
यह मन नहीं है, बुद्ध नहीं है;

श्रपने शब्दो को समाप्त करो, श्रपने विचारों को खाली करो,
तव शायद तुम इस एक सार को पहचान सकोगे।

ध्यान-गीत

हेकुयिन् (१६८५-१७६८) नामक एक श्रन्य जापानी महात्मा हुए है, जिन्होंने 'ध्यान-गीत' लिखा है। केवल कुछ पंक्तियां ही उद्धृत की जा सकती है:

"सब प्राणी मूलत बुद्ध है:
यह वरफ श्रौर जल के समान हैं,
जल के विना वरफ नही है;
प्राणियो से वाहर हम बुद्ध को कहां पाते है ?
यह न जानते हुए कि सत्य कितना समीप है
लोग इसे दूर खोजते है, कितने श्रफसोस की वात है।
उनकी हालत ऐसी है जैसे जल के वीच में खड़ा कोई
प्यासा श्रादमी पानी के लिये चिल्लाये !
वे उस घनिक के पुत्र के समान है,
जो गरीवों में भटक गया है।

ध्यान की प्रशंसा करने के लिये हमारे पास शब्द नही है,
महायान में उसका अभ्यास किया जाता है।
दान, शील आदि की पारमिताओं के गुण,
बुद्ध के नाम का आह्वान, पाप-प्रायश्चित्त और तपस्या के साधन,
और दूसरे अनेक पुण्यकारी कृत्य,
ये सब ध्यान के अभ्यास मे से ही उत्पन्न होते है।
जो अपने अन्दर ध्यान करते हैं,
वे अपने स्व-भाव (तथता) के सत्य की गवाही देते है।

उनके लिये कारण और कार्य के अद्वैत का दरवाजा खुल जाता है,
और अ-द्वैत और अ-त्रैत का ऋजु मार्ग चलता है,
विशेषो मे विद्यमान् अ-विशेष मे रहते हुए,
वे सदा अविचल रहते है, जाते हुए या लौटते हुए;
विचारों मे लिप्त निर्विचार को ग्रहण कर,
अपने प्रत्येक कार्य मे वे सत्य की आवाज सुनते है।
कितना असीम और निर्बाध है समाधि का आकाश!
कितनी पारदर्शिनी है चतुरार्य सत्य की पूर्ण चादनी!
और उस क्षण उन्हें किस बात की कमी है?
शाश्वत शान्ति का सत्य उनके लिये अपने को प्रकट करता है।

और तब यह धरती ही उनके लिये विशुद्धि का पुण्डरीक-लोक बन जाती है,
और यह शरीर ही बुद्ध का शरीर हो जाता है।

मोण्डो

इस प्रकार गाथाओ के रूप मे ध्यान-सम्प्रदाय का प्रभूत आध्यात्मिक साहित्य है जिसमे ध्यानी सन्तो के अनुभव स्पन्दित हुए हैं। चीन और जापान, दोनो देशो मे ही इस प्रकार की वाणिया गाथाओ के रूप मे ध्यानी महात्माओ के मुख से निःसृत हुई है। चीनी साधको के द्वारा लिखी गई ये गाथाएं उनकी भाषा मे 'चिह्-तो' कहलाती हैं। 'चिह्-तो' शब्द संस्कृत 'गाथा' का चीनी रूप है। जापानी भाषा मे लिखी गई गाथाएं तो 'गे' ही कहलाती हैं, जो बिलकुल 'गाथा' शब्द की ही जापानी अनुलिपि है। ध्यान-सम्प्रदाय के गुरुओ के द्वारा लिखी गई कुछ गाथाओ के उद्धरण हम द्वितीय परिच्छेद मे दे चुके हैं। अब हम ध्यान-साहित्य के एक दूसरे रूप पर आते हैं, जिसे

चीनी भाषा मे 'वेन्-त' और जापानी भाषा मे 'मोण्डो' कहा जाता है। 'मोण्डो' गुरु-शिष्य संवाद हैं, प्रश्नोत्तर रूप मे। ध्यान-सम्प्रदाय की यह अपनी अभिव्यक्ति है और ऐसे सवाद विश्व के अन्य धार्मिक या किसी प्रकार के साहित्य मे प्रायः नही मिलते। 'मोण्डो' बिलकुल स्पष्ट होते हो या पूछे गये प्रश्नो या जिज्ञासाओ का वे शब्दो मे पूरा समाधान कर देते हो, यह बात बिलकुल नही है। अधिकतर उनका समझना मुश्किल होता है। कही-कही वे पहेलियां ही बुझाते हैं और कही-कही विरोधी भाषा मे उत्तर देते हैं। कही-कही प्रश्न की ही पुनरावृत्ति कर वे उसका उत्तर देते है और कही-कही ऊटपटांग सी बातें भी कर बैठते हैं, जिनका प्रश्न के स्वरूप से ऊपर से कोई सामजस्य दिखाई नही पडता। कभी-कभी ध्यानी साधु प्रश्नो का उत्तर न देकर सिर्फ अपने डडे से काम लेते हैं और दो-चार ही नही, तीस-तीस बार उससे चोट कर बैठते हैं! कभी प्रश्न पूछने वाले को चाटे लगा देते हैं, तो कभी उसकी नाक को सीधा पकड लेते हैं। इस प्रकार वे बिलकुल सीधे ढंग पर और अपने मन की पूरी मौज के साथ सत्य का अवतरण शिष्य के मन पर करना चाहते है। जिस प्रकार के प्रश्न 'मोण्डो' मे अक्सर पूछे जाते हैं, उनकी बानगी यह है : मन क्या है? बुद्ध क्या है, बोधिधर्म का पश्चिम (भारत) से चीन आने का उद्देश्य क्या था? बौद्ध धर्म का मूलभूत सिद्धान्त क्या है? तुम कहां से आये हो? कहा जाओगे? आदि। साधारण से साधारण घटना से लेकर जो सामने घट रही हो, गहन से गहन तात्विक प्रश्नो तक 'मोण्डो' का क्षेत्र हो सकता है। ग्यारहवी शताब्दी की रचना (धर्म) 'दीप-प्रेषण अभिलेख' (जिसे चीनी भाषा मे 'चिग्-तेह चुआन्-तेंग लु' कहा जाता है और जापानी भाषा मे ('केतोकु देन्तो रोकु') ध्यानी सन्तो के आध्यात्मिक संवादो या 'मोण्डो' का एक अतुल भाण्डार है। ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य के अन्य ग्रन्थो मे भी 'मोण्डो' भरे पडे है। यद्यपि हम आगे के परिच्छेदो मे ध्यान-सम्प्रदाय की साधना और तत्वज्ञान का परिचय देते समय ध्यानी सन्तो के अनेक प्रश्नोत्तरमय सलापो का उपयोग करेंगे, फिर भी यहा 'मोण्डो' की शैली और विचाराभिव्यंजना को दिखाने के लिए कुछ उदाहरण आवश्यक होगे। कही-कही ये प्रश्नोत्तर बिलकुल साफ होते हैं, जैसे कि सेंग्-त्सन् ने जब हुइ-के से पूछा कि बुद्ध क्या है? धर्म क्या है, तो उन्होने उत्तर दिया, "मन बुद्ध है, मन धर्म है। बुद्ध और धर्म अलग-अलग नही हैं।" परन्तु कही-कही ध्यानी गुरु को सीधी कार्यवाही करते हुए भी देखिये। आठवी शताब्दी के प्रसिद्ध ध्यानी सन्त और दार्शनिक म-त्सु से एक व्यक्ति ने पूछा कि बोधिधर्म का भारत से

चीन आने का उद्देश्य क्या था ? म-त्सु ने उसकी छाती पर ऐसा धक्का मारा कि वह उलटा धरती पर गिर पडा। कहा गया है इससे उसकी अन्तर्दृष्टि जग गई और असंख्य समाधियो के रहस्य उसे पता लग गये ! ताली बजाता हुआ और जोर से हँसता हुआ वह कृतज्ञतापूर्वक गुरु को प्रणाम कर चला गया।

कभी-कभी साधारण फटकार से ही काम चल जाता है। सातवी शताब्दी के एक ध्यानी सन्त से जब एक व्यक्ति ने उपर्युक्त प्रश्न ही पूछा, तो उसने उत्तर दिया, "तुम अपने मन के बारे मे ही क्यो नही पूछते ?" कभी-कभी कोई भी उत्तर न देकर ध्यानी गुरु केवल मौन रह जाते हैं। उदाहरणतः उपर्युक्त प्रश्न ही जब ध्यानी गुरु लिग्-शु जु-मिन् से पूछा गया तो वह चुप रह गये। इसी प्रश्न के पहेलीमय उत्तर भी द्रष्टव्य हैं। एक गुरु से जब यह पूछा गया कि बोधिधर्म का पश्चिम (भारत) से चीन मे आने का उद्देश्य क्या था, तो उसने उत्तर मे सिर्फ अपना डडा उठाया। एक अन्य ने कहा, "जब बसन्त आती है तो सब पौधे फल-फूल उठते हैं।" एक अन्य ने कहा, "जब तुम सिरके को चखते हो तो यह खट्टा होता है, जब तुम नमक को चखते हो तो वह खारी होता है।" एक अन्य का उत्तर था, "पूर्णमासी का चन्द्रमा यांग्-त्सी-क्याग् नदी मे प्रतिबिम्बित हो रहा है।" एक अन्य ने कहा, "अपनी आखो मे धूल मत डालो।" जब इसको स्पष्ट करने के लिए उससे कहा गया, तो उसने कह दिया, "अपने कानो में पानी मत डालो।" एक अन्य ने उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर मे ही कहा, "आंगन मे खडा देवदारु का पेड।" इस प्रकार गुरुओ के उत्तर इस ढग से दिये जाते हैं कि पूछने वाले के हृदय पर सोचते-सोचते सत्य की झलक का अवतरण हो। यह सत्य का अनुभव स्वयं उनकी ही अन्त.प्रज्ञा से उत्पन्न होता है, गुरुओ के शाब्दिक उत्तरो या इशारो से नही। वे उसके केवल साधन होते हैं, सत्य की झलक साधक के मन पर अपने चिन्तन से ही पडती है, जबकि साधक उच्च से उच्चतर चेतना-स्तरो की ओर अग्रसर होता है। डडे का प्रयोग ध्यानी सन्त अपने उपदेशो मे अक्सर करते हैं। अभिव्यक्ति का उनके लिए यह एक अत्यन्त लोकप्रिय और सहज साधन है। तेह्-शन् (७८२-८६५ ई०) नामक चीनी भिक्षु—(जापानी उच्चारण 'तोकुसन') अपने शिष्यो को डडा दिखाते हुए कहा करता था, "यदि तुम 'हा' कहोगे तो इस डडे के तीस वार तुम्हारे सिर पर पडेंगे। यदि तुम 'न' कहोगे तो भी तीस वार ही, बिलकुल एक समान !" यह ध्यानी साधु अपने उपदेशो मे डंडा प्रयोग करने का

बडा शौकीन था, जैसे कि प्रायः सभी ध्यानी साधु होते हैं। डडे के माध्यम से ही वह 'अस्ति' और 'नास्ति' के चिर द्वन्द्व को पार किया करता था। "जब तुम पूछते हो, तो तुम अपराध करते हो; जब तुम नही पूछते तो तुम विपरीत चले जाते हो।" एक बार की बात है कि तेह्-शन् ने अपने शिष्यो से कहा, "मैं नही चाहता कि आज की शाम तुममे से कोई मुझ से कोई प्रश्न पूछे। यदि कोई पूछेगा तो मैं उस पर अपने डंडे के तीस वार करूगा।" एक भिक्षु सामने आया और गुरु को प्रणाम करने लगा। झट गुरु ने उस पर वार कर ही तो दिया। "अभी तो मैंने आपसे प्रश्न भी नही पूछा है, फिर आप मुझे क्यों मारते हैं?" "तुम कहां से आये हो?" "कोरिया से।" "तब तो जिस समय तुमने नाव मे पैर रक्खे, उससे पूर्व ही तुम मेरे डंडे के तीस वार खाने के अधिकारी हो गये!" ऊटपटांग उत्तर का यह उदाहरण देखिये। एक गुरु से जब यह पूछा गया कि बुद्ध क्या है, तो उसने उत्तर दिया, "बिल्ली खूटे के ऊपर छलांग मार रही है।" इसी प्रकार इस प्रश्न के उत्तर मे एक अन्य गुरु ने कहा, "दुलहिन गधे पर बैठी हुई है और उसकी सास लगाम पकडे हुए है।" ग्यारहवी शताब्दी के एक प्रसिद्ध ध्यानी आचार्य से एक शिष्य ने पूछा, "विशुद्ध, निर्विकार मूल से पर्वत, नदिया और महापृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गई?" गुरु ने उत्तर-स्वरूप इस प्रश्न को ही दुहराते हुए कहा, "विशुद्ध, निर्विकार मूल से पर्वत, नदियां और महापृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गई!" इसी प्रकार दसवीं शताब्दी के एक ध्यानी सन्त से जब यह पूछा गया कि "बुद्ध क्या है", तो इसके उत्तर मे उसने कहा, "बुद्ध!" ध्यानी गुरु-शिष्यो के संवादों की एक बड़ी विशेषता उनकी सहजता और सीधी अभिव्यक्ति है। उनमे पहेली की सी अस्पष्टता भले ही हो, परन्तु बनावट बिलकुल नही है और शब्दाडम्बर तो ध्यानी सन्तो की अभिव्यक्ति के बिलकुल बाहर की चीज है। उनके वचन और संकेत मर्म छिपाये हुए रहते हैं और चिन्तन करने पर उनमे तत्व मिलता है, यह निर्विवाद है। 'मोण्डो' की दैनिक जीवन जैसी सहजता और मौजी वृत्ति का एक मनोरंजक उदाहरण यह देखिये। (जोशु ७७८-८९७ ई०) नामक ध्यानी महात्मा के आश्रम मे एक बार एक नया भिक्षु उनसे मिलने आया। इस भिक्षु से गुरु ने पूछा, "क्या कभी पहले भी तुम इस आश्रम में आये हो?" आगन्तुक ने उत्तर दिया, "नही भन्ते, मैं पहली ही बार यहां आया हूं।" इस पर गुरु ने उससे कहा, "लो, एक प्याला चाय पीयो।" कुछ देर बाद एक दूसरा भिक्षु वहां उनसे मिलने आया और उससे भी जब गुरु ने यही प्रश्न पूछा कि वह पहली बार आश्रम मे आया है या उससे पहले भी कभी, तो उसने उत्तर दिया,

"मैं पहले भी यहा आया हू ।" इस पर गुरु ने उससे भी कहा, "लो, एक प्याला चाय पीयो ।" उस आश्रम का व्यवस्थापक भिक्षु, जिसका नाम इजु था, वही खडा था । वह बडा हैरान हुआ । उसकी समझ मे यह नही आया कि गुरु ने दोनो आगन्तुको से एक ही प्रश्न पूछा और उन दोनो ने भिन्न-भिन्न उत्तर दिये, फिर भी गुरु ने उन दोनो से समान रूप से कहा, "लो, एक प्याला चाय पीयो ।" उसने अपनी यह कठिनाई गुरु के सामने रक्खी । जब इंजु अपनी बात समाप्त कर चुका, तो गुरु ने पुकारा, "ओ इंजु !" इसके उत्तर मे जैसे ही इंजु ने "हा, गुरुदेव" कहा कि तत्काल गुरु ने उससे कहा, "लो, एक प्याला चाय पीयो, इंजु !" ऐसी विनोद-भावना गम्भीर भाव से युक्त होकर ध्यानी सन्तो के दैनिक संलापो मे भरी पड़ी है । इसी ध्यानी सन्त (जोशु) के एक अन्य विनोद-पूर्ण विरोधी कथन को देखिये । वह अक्सर आगन्तुको से, जो कुछ चीज अपने साथ लाते थे, कहा करता था, "इसे डाल दो !" एक बार एक भिक्षु ने उनसे पूछा कि "यदि मैं अपने साथ कुछ भी न लेकर आपके पास आऊ, तो आप क्या कहेंगे ।" गुरु ने झट उत्तर दिया, "इसे डाल दो !" "परन्तु मेरे पास तो कुछ है ही नही, मैं क्या डालूगा ?" "यदि ऐसा है, तो इसे ले जाओ !" विनोदी ध्यानी सन्त का उत्तर था । चाओ-चाउ नामक ध्यानी सन्त के पास एक शिष्य आया और उसने उनसे कहा, "क्या आप कृपा कर मुझे कुछ उपदेश करेंगे ?" गुरु ने उससे पूछा, "क्या तुमने अभी नाश्ता कर लिया है या नही ?" "हां, भन्ते ! मैं नाश्ता कर चुका हूं" "तो अपने बर्तनो को मांजो ।" कहा गया है कि इस उत्तर के परिणाम-स्वरूप शिष्य को अन्तर्बोध की प्राप्ति हो गई । एक उदा-हरण और । क्यू-शन् और यग्-शन् नामक दो भिक्षुओ की भेंट एक बार गर्मी के मौसम के बाद हुई । क्यू-शन् ने यंग्-शन् से पूछा, "इस गर्मी मे मैंने तुम्हें इधर नही देखा । तुम क्या करते रहे हो ?" यंग्-शन् ने उत्तर दिया, "मैं उधर कुछ जमीन गोड़ता रहा और कुछ बाजरे का बीज मैंने उसमे बोया है ।" इस पर क्यू-शन् ने उससे कहा, "तो तुमने अपनी गर्मिया बर्बाद नही की हैं ।" तदनन्तर जब यंग्-शन् ने क्यू-शन् से पूछा कि वह गर्मियो मे क्या करता रहा, तो क्यू-शन् ने उत्तर दिया "बस, दिन मे एक बार भोजन और रात मे अच्छी नीद !" इस पर यंग्-शन् ने अपनी टिप्पणी दी, "तो तुमने अपनी गर्मिया बर्बाद नही की हैं !"

अन्य ग्रन्थ

म-त्सु के शिष्य ताई-चु हुइ-हाइ (सक्षेप मे हुइ-हाइ) नामक महात्मा चीन मे आठवी शताव्दी मे हुए हैं। उन्होंने 'युगपद् वोधि के मूल तत्व' नामक पुस्तक लिखी है जिसका चीनी भाषा मे शीर्षक है "तुन्-वु यओ-मेन् लुन्'। यह एक गम्भीर दार्शनिक महत्व की रचना है। जोह्न व्लोफैल्ड (चु-चुन्) ने 'दि पाथ टू सडन अटेनमेण्ट' शीर्षक से इसका अंग्रेजी मे अनुवाद किया है। नवी शताव्दी के चीनी महात्मा हुआड्-पो (जिनके नाम का जापानी उच्चारण है 'ओवाकु') का उल्लेख हम पहले (द्वितीय परिच्छेद मे) कर चुके हैं। इनके प्रवचनो के संग्रह का नाम है 'मन के प्रेषण पर' (चीनी भाषा मे 'चुआन्-ह्सिन् फ-यओ') जिसका भी अग्रेजी अनुवाद उपर्युक्त विद्वान् के द्वारा किया गया है। नवी शताब्दी के चीनी महात्मा लिन्-चि (जापानी उच्चारण 'रिंजई') के 'प्रवचनो' और तेरहवी शताब्दी के जापानी ध्यानाचार्य दो-गेन् के ६५ निबन्धो का उल्लेख हम द्वितीय परिच्छेद मे कर चुके हैं।

तुन्-हुआङ् के प्रसिद्ध सहस्रवुद्धगुहाविहार से भी ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास पर लिखी दो महत्वपूर्ण हस्तलिखित प्रतियां मिली है। इनमे से एक है "लेंग्-चिआ शिह्-त्सु-ची" अर्थात् "लंकावतार आचार्यों के अभिलेख।" यह आठवी शताव्दी ईस्वी की रचना है और लंकावताराचार्यों की परम्परा के रूप मे इसमे ध्यान-सम्प्रदाय का उस समय तक का इतिहास दिया गया है। दूसरी रचना है 'धर्म-निधि की परम्परा का अभिलेख'। यह भी ध्यान-सम्प्रदाय का इतिहास है और इसकी कुछ वातें पहले इतिहास-ग्रन्थ से भिन्न है।

एक अन्य पुस्तक जिसका शीर्षक है 'शेन्-हुइ लु' ('शेन्-हुइ के उपदेश') चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय के प्रारम्भिक इतिहास पर प्रकाश डालती है।

ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य के प्रसंग मे हमे यहां दो पुस्तको का उल्लेख और कर देना चाहिये, जो जापान मे प्रचलित हैं और ध्यान-सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण पुस्तकें मानी जाती हैं। इनमे से एक का नाम है 'पि-येन्-चि।' इसमे "(धर्म-) दीप-प्रेषण अभिलेख' से (जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है) १०० 'प्रसंग' या ध्यानी जिज्ञासुओ के 'मामले' संगृहीत हैं। विशेषतः गुरु-शिष्यो के मिलने के समय के वार्तालाप इस पुस्तक मे हैं और उन पर स्यूह-ताउ (६८०-१०५२ ई०) नामक भिक्षु की पद्यात्मक टिप्पणियां और युआन्-वु (१०६३-११३५ ई०) नामक भिक्षु की उन टिप्पणियो पर टिप्पणियां हैं। युआन्-वु का निवास-स्थान एक पहाड़ी पर था जो 'पि-येन्' कहलाती थी, जिस का अर्थ है 'हरी पहाड़ी'। 'चि' शब्द का अर्थ है 'संग्रह'। चूंकि यह संग्रह

'पि-येन्' पहाडी पर किया गया था, इसलिये इसका नाम 'पि-येन्-चि' पडा है। किस प्रकार जिज्ञासु ध्यानी महात्मा एक-दूसरे से मिलते थे, किस प्रकार उनके सलाप होते थे, उनके दार्शनिक मन्तव्य क्या थे, आदि बातें 'पि-येन्-चि' से स्पष्ट होती हैं। ध्यान-सम्प्रदाय की दूसरी पाठ्य-पुस्तक का नाम है 'वु-मेन्-कुआन्' (मु-मोन्-क्वान्) जिसका अर्थ है 'बिना द्वार का सरहद्दी दर्रा' या 'द्वारहीन द्वार।' यह गद्यपद्यात्मक रचना है और हुइ-काइ नामक ध्यानी भिक्षु (११८३-१२६०) द्वारा लिखित है। इसमे केवल ४८ ध्यानी भिक्षुओ के 'प्रसग' है। 'द्वारहीन द्वार' ध्यान-सम्प्रदाय की साधना-पद्धति का प्रतीक है, जिसके सम्बन्ध मे इस रचना मे एक महत्वपूर्ण गाथा है :

महामार्ग में दरवाजे नहीं हैं,
फिर भी कितने एक दूसरे को काटते हुए हैं इसके रास्ते !
एक बार इस सरहद्दी दर्रे को पार हुए नही
कि राजकीय एकान्त का आनन्द लेते हुए
तुम इस विश्व मे कहीं भी घूम सकते हो ।

जापानी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि बशो (१६४४-१६९४ ई०) ध्यान-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उनका जीवन गरीबी और पवित्रता का उदाहरण था और वे एक महान् गूढवादी थे। रात-दिन 'सटोरी' अनुभव मे रहते थे। समूराई जाति के थे, जिसका परम्परागत धर्म ही ध्यान-सम्प्रदाय है। 'ध्यान' उनके निःश्वास मे था। उन्होने जापानी भाषा मे प्रसिद्ध 'हाइके' लिखे हैं। 'हाइके' या 'हाइकु' जापानी भाषा मे तीन पक्तियो और १६ अक्षरो की एक कविता होती है। इसमे प्राय. कवि के मन पर पड़े वातावरण के प्रभाव का वर्णन होता है। कवि की आत्मा की दीनता की अभिव्यक्ति भी इस काव्य-रूप की एक विशेषता है। 'हाइकु' या 'हाइके' बशो के बाद जापानी काव्य-साहित्य की एक बड़ी विशेषता हो गई। यह 'हाइके' या 'हाइकु' काव्य ध्यान-सम्प्रदाय की शिक्षाओ का प्रभावशाली वाहन बना और उसके प्रकृति-प्रेम, सादगी, पवित्रता और अकिंचनता की भावनाए उसमे पूरी तरह स्पदित हैं। बशो का एक प्रसिद्ध 'हाइकु' है, जिसमे वह एक रात मे एक नीरव जापानी विहार मे निवास करते हुए उसकी शान्ति और अपने मनोभाव का गहन रूप से वर्णन करता हुआ कहता है :

ओह ! पुराना गढ़्ढा—
और पानी की आवाज़
जब कि मेंढक उसमें उछाल मारता है !

विहार के वातावरण की निस्तब्धता, नीरवता, जो कभी-कभी उसके अन्दर स्थित पोखरे मे मेढक के उछलने के शब्द से भंग हो जाती है ! इसी का सरल और स्पष्ट वर्णन कवि-साधक ने किया है। (मेंढक जापानी साहित्य मे शान्त और एकान्त जीवन का प्रतीक है)

बशो का यह वसन्त-वर्णन भी, एक 'हाइकु' के रूप मे है :

बसन्त की शाम,
चैरी के पेड़—चैरी के पेड़
आह ! बसन्त आ गई !

ध्यानाचार्य दो-गेन् ने भी 'हाइके' लिखे हैं। देखिये :

मध्य-रात्रि !
हवा शान्त है—गहरी शान्ति—
पानी दर्पण के समान है,
हवा में चांदनी—पानी में प्रकाश, सर्वत्र प्रकाश,
पवित्र, ओह पवित्र—पारदर्शी—
एक नाव वहां होकर गुजरती है !

यह ध्यानी साधक की पवित्र, शान्त और पारदर्शी आत्मा की अभिव्यक्ति है। दो-गेन् ने ही ध्यान-साधक के तटस्थ, अनासक्त जीवन का वर्णन करते हुए यह 'हाइकु' लिखा है :

बांसों की छाया सीढ़ियो को बुहार रही है,
परन्तु कोई धूल नहीं उठती,
चन्द्रमा का प्रकाश पानी के तल में
अन्तर्प्रवेश करता है,
परन्तु उसके अन्दर कोई चिह्न नही छोड़ता !

ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य की यह एक सक्षिप्त-सी विज्ञप्ति है। ध्यानी परम्परा के ऐतिहासिक, तात्विक और साधनात्मक पक्षो पर चीनी और जापानी भाषाओ मे प्रभूत साहित्य है जिसके अवगाहन का सौभाग्य और आनन्द इन भाषाओ के मर्मज्ञ ही प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु ध्यान का अनुभव इतने थोडे जनो तक सीमित नही है और न भाषा उसमे कोई बाधा ही है। छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्) के इस वचन को हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं कि "बुद्धो के उपदेश की गम्भीरता का लिखित भाषा से कोई सम्बन्ध नही है।" अतः भाषा या भाषाओ के ज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति भी ध्यान-सम्प्रदाय और उसकी साधना को कुछ-न-कुछ समझ ही सकते हैं, क्योकि वास्तविक समझना तो अपने मन का ही है। जिसने उसे समझ लिया, उसके अन्दर प्रज्ञा की शक्ति प्रकट होने लगती है और फिर ध्यान-अनुभव तो उसका अपना ही है।

चौथा परिच्छेद

साधना-विधि

साधना ध्यान-सम्प्रदाय का प्राण है। अदम्य मनोवल का विकास कर अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सत्य की खोज मे लगा देना, खपा देना ही ध्यानी जीवन का उद्देश्य है। प्रत्यक्ष जीवन का यह साधना निषेध नही करती, बल्कि जिसका उसमे साक्षात्कार न हो सके उसे वह सत्य ही नही मानती। प्रत्यक्ष और परोक्ष, 'इस' और 'उस' के बीच भेद करना ही वस्तुतः ध्यान-सम्प्रदाय के वाहर की बात है। ध्यान-सम्प्रदाय परिकल्पनात्मक नही, भावुकतामय नही, वल्कि सीधा और व्यावहारिक है। जो कुछ बोलता है, डडे के जोर से बोलता है, जो कुछ करता है डडे के जोर से करता है। डंडा, अर्थात् सीधा अनुभव-ज्ञान, जो विकल्प नही जानता, भय नहीं जानता, और जिसकी मार भयंकर होती है। प्रज्ञा, निरपेक्ष, निर्विकल्प ज्ञान, जो शून्यता-रूप है, ध्यानी साधक का लक्ष्य है, परन्तु इसकी खोज वह इस सापेक्ष जगत् मे ही करता है। सत् और असत् के सम्पूर्ण द्वैतवादो और विकल्पों का उससे कठोर शत्रु और कोई नही है। उसके लिए ध्यान एक पथ ही नही, स्वय मुक्ति-स्वरूप भी है। अधूरी वातो और मार्गों मे उसका विश्वास नही है और न दूसरो के अनुभवो से ही वह अपने को तृप्त मान सकता है। ज्ञान उसके लिए 'प्रत्यात्मवेद्य' होना चाहिए और इस ज्ञान को प्राप्त करके भी वह उसकी अभिव्यक्ति के लिए लालायित नही होता, क्योकि उसके लिए जीवन ही सत्य की सच्ची अभिव्यक्ति है और मौन ही सबसे बड़ी वाणी है। अपने अनुभव का विज्ञापन करना पागलपन है। एक ध्यानी सन्त का प्रकरण है कि एक वार उसने एक साधक को साधना की विधि वतलाई। उसने कहा, "शास्त्र के प्रवचन और अध्ययन को कुछ समय के लिए छोड़ो। दस दिन के लिए अपने कमरे मे वन्द हो जाओ। गर्दन सीधी कर, शान्त होकर बैठो और अपने विचारो को एकाग्र करो। अच्छे-बुरे के द्वन्द्वात्मक तर्क को छोड़कर अपने आन्तरिक संसार को देखो।" साधक भिक्षु, जो स्वयं परम विद्वान् उपदेशक था, रात भर इस आदेश के अनुसार ध्यान मे बैठा रहा। प्रात. चार बजे के करीब उसे बांसुरी का-सा शब्द सुनाई दिया और उसके चित्त ने समाधि-सुख का प्रथम स्पर्श किया। प्रातःकाल उठकर उसने

गुरु का दरवाजा खटखटाया। गुरु ने उसे फटकारते हुए कहा, "मैं तो चाहता था कि तू सत्य मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर उसका रक्षक और प्रेषक बनेगा। तू शराब पीकर सडक पर क्यो खर्राटे ले रहा है ?"[१] ध्यान-सम्प्रदाय की मान्यता है कि हमारे मौन मे सत्य बोलता है और जब हम बोलते हैं तो वह चुप हो जाता है। ध्यान-सम्प्रदाय के अनेक उच्च कोटि के साधको ने कुछ नही लिखा, कुछ ने लिखकर नष्ट कर दिया। अनेक ऐसे सन्त हुए जिन्होने अपनी अन्तर्सत्ता मे लीन रहते हुए जीवन व्यतीत किया और अपने को समाज मे प्रकट तक नही किया। उन्हें एक अतीत अनुभव प्राप्त था, इस जगत् की सचाई से एक बडी सचाई उनके सामने थी। तभी यह सम्भव हो सका। फिर भी यह आश्वासन की बात है कि कुछ सन्तो ने अपने साक्षात्कृत गूढ अनुभवो को 'सैना-बैना' के द्वारा समझाने का प्रयत्न भी किया है, और इस प्रकार अनायास रूप से हमे साहित्य और कला की कुछ उच्चतम कृतिया मिल गई हैं। आध्यात्मिक अनुभव और सत्य के रस से भरपूर ध्यानी साधको का यह वाणी-साहित्य अध्यात्म-जिज्ञासुओ की पिपासा और परिश्रान्ति को शान्त करने मे समर्थ है। अपने मन के सार को खोजने वाला प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, गृहस्थ हो या प्रव्रजित, इसके सत्य को स्वय अपनी प्रज्ञा से देख सकता है।

परन्तु अभ्यास के बिना कुछ सम्भव नही है और अभ्यास, चित्त का अभ्यास, ही ध्यान है। ध्यान-सम्प्रदाय के साधन-पथ का परिचय देते हुए हम यहा पहले यह देखेंगे कि स्वय योगी बोधिधर्म ने इस सम्बन्ध मे क्या कहा है और उनका गूढ सन्देश इस सम्बन्ध मे क्या है ? ध्यान के अन्य आचार्यों और सिद्ध पुरुषो ने भी अपने-अपने अनुभवो के आधार पर साधना के सम्बन्ध मे बहुत कुछ स्पष्ट और अस्पष्ट रूप से कहा है। फिर इस सम्प्रदाय की शताब्दियो से गृहीत अपनी व्यवस्थित साधना-पद्धति भी है, जिसका प्रशिक्षण उसके विहारो और ध्यानागारो मे दिया जाता है। इन सबका क्रमिक विवरण हम यहा देंगे।

---

१. यदि कोई पहुंचा हुआ निर्गुणपन्थी साधु होता, तो वह भी इस उतावले व्यक्ति से यही बात कहता, "भाई, हीरा पा लिया, गाठ गठिया लिया, बार-बार उसे क्यो खोलता है ?" "हीरा पायो गाठ गठियायो बार-बार वा कू क्यों खोलै ?" या "जो कोई पाता है वह अच्छी प्रकार पकडकर रखता है। जीभ स्वाद मे लग जाती है। रत्न निराला पाया है। जगत् में ढिंढोरा पीटना व्यर्थ है।" "जिन पाया तिनि सूगह गह्या रसना लागी स्वादि। रतन निराला पाइया जगत ढिढोरा बादि।" और फिर "अभी तो बेड़ा समुद्र में ही है। जब तू लक्ष्य पर पहुंच जाय और वहा आराम से बैठ जाय तो कह लेना। अभी से बोलकर क्यों अपने को विनष्ट करता है ?" कबीर के ही शब्दों में "पहुंचेंगे तब कहेंगे अमड़ेंगे उस ठाइ। अबहिं तो बेडा समुद मह बोलि बिगूचैं काहिं।"

बोधिधर्म ने सत्य मे प्रवेश के दो द्वार बताये हैं, एक ज्ञान या उच्च अन्तर्बोध के द्वारा और दूसरा कर्म या व्यावहारिक जीवन के द्वारा। ज्ञान या उच्च अन्तर्बोध के सम्बन्ध मे उन्होने कहा है, "मेरा यह दृढ विश्वास है कि सब प्राणियो मे एक ही सत्य निहित है। वे सदैव बाह्य विषयो से अवरुद्ध रहते हैं और इसीलिये मैं उनसे असत्य को त्यागकर सत्य को ग्रहण करने का आग्रह करता हू। दीवार को देखते हुए उनको अपने चित्त की वृत्तियो को यह मनन करते हुए एकाग्र करना चाहिये कि 'अह' ('मैं') और 'अपर' ('दूसरा') का अस्तित्व ही नही है, तथा ज्ञानी और अज्ञानी एक समान हैं।"

कर्म या व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध मे बोधिधर्म ने कहा है कि उसमे चार कृत्य सम्मिलित है, "(१) साधक को सब कठिनाइयो को यह सोचकर सहना चाहिये कि मैं अपने पूर्वजन्म के कुकर्मों का फल भोग रहा हू। (२) उसे अपने भाग्य से सन्तुष्ट रहना चाहिये, चाहे दुःख हो या सुख, लाभ हो या हानि। (३) उसको किसी वस्तु की तृष्णा नही करनी चाहिये। (४) उसको धर्म के अनुसार, जिसका स्वरूप स्व-भाव (सत्य) और शुद्धि है, आचरण करना चाहिये।" "साधक को सब कठिनाइयो को यह सोचकर सहना चाहिये कि मैं अपने पूर्वजन्म के कुकर्मों का फल भोग रहा हू", इसकी विवृति करते हुए बोधिधर्म ने कहा है, "जो साधक मार्ग का अभ्यास कर रहा हैं, उसे प्रतिकूल परिस्थितियो से सघर्ष करते हुए इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए, 'अतीत के असख्य युगो मे मैं अनेक योनियो मे घूमा हूँ और मैंने सारवान् वस्तुओ को छोड़कर अपने को जीवन की छोटी-छोटी, हीन बातो मे लगाया है और इस प्रकार घृणा, द्वेष और बुराई के अनन्त अवसर मैंने पैदा किये है।' यद्यपि इस जीवन मे मैंने अपराध नही किये, परन्तु अतीत के पापो के फल अब भुगतने होगे। देवता और मनुष्य कोई यह भविष्यवाणी नही कर सकते कि मुझ पर क्या आने वाला है। मुझ पर जो भी विपत्तिया आयेंगी, मैं उन्हें राजी से और सब्र से सहूंगा और न कराहूगा, न शिकायत करूगा।" "उसे अपने भाग्य से सन्तुष्ट रहना चाहिये, चाहे दु ख हो या सुख, लाभ हो या हानि।" इसके सम्बन्ध मे बोधिधर्म का कहना है, "कर्म की अवस्थाओ के परिणामस्वरूप प्राणी पैदा होते है और उनमे 'आत्मा' जैसी कोई वस्तु नही है। दु ख और सुख, जो भी मैं भोगता हू, मेरे पूर्व-कर्मों के परिणाम हैं। यदि मैं धन या सम्मान पाता हूं, तो यह मेरे पिछले कर्मों के परिणाम-स्वरूप हैं, जो कारण-कार्य के नियम के अनुसार मेरे वर्तमान जीवन को प्रभावित करते हैं। जब कर्म की शक्ति समाप्त हो जायगी, तो जो परिणाम मैं अब भोग कर रहा हू, अदृश्य हो जायगे। तब फिर उन पर प्रसन्न होने से

क्या लाभ ? लाभ हो या हानि, मुझे कर्म को ही स्वीकार करना चाहिये, जो ही इनमे से एक या दूसरे (लाभ या हानि) को प्राप्त कराता है। सुख या दु ख की हवा मुझे हिला नही सकेगी, क्योकि मैं चुपचाप मार्ग के साथ एकाकार हू।" "उसको किसी वस्तु की तृष्णा नही करनी चाहिये।" इसके सम्बन्ध मे बोधिधर्म कहते हैं, "ससारी मनुष्य शाश्वत रूप से विभ्रमित होकर, सभी जगह एक न एक वस्तु से आकृष्ट होते रहते हैं। इसको ही तृष्णा कहते है। ज्ञानी पुरुषो को सत्य विदित होता है, इसलिये वे अज्ञानी पुरुषो के समान नही होते। उनका मन 'असस्कृत' मे शान्तिपूर्वक निवास करता है, जबकि उनका शरीर कार्य-कारण नियम के अनुसार कार्य करता रहता है। सभी चीजें शून्य हैं और ऐसा कुछ नही है जिसे खोजने की इच्छा की जाय। जहा प्रकाश का गुण है, वहा अन्धकार का अवगुण भी निश्चयत छिपा हुआ है। तीनो भव, जहा हम कुल मिलाकर बहुत समय तक ठहरते हैं, एक आग लगे हुए घर के समान हैं। जो भी शरीरवान् हैं, सब दु ख भोगते हैं और कोई नही जानता कि शान्ति क्या है। चूकि ज्ञानी पुरुष इस सत्य को पूरी तरह से जानते हैं, इसलिये वे परिवर्तनशील वस्तुओ मे कभी आसक्त नही होते, उनके विचार शान्त हो जाते हैं और वे किसी चीज की तृष्णा नही करते। सूत्र कहता है, 'जहा तृष्णा है, वहा दु ख है। तृष्णा को छोड दो, तो तुम धन्य हो।' इस प्रकार हम जानते हैं कि किसी वस्तु की तृष्णा न करना वस्तुत सत्य तक पहुचने का मार्ग है।"

"उसको धर्म का अनुसरण करना चाहिए", इसके सम्बन्ध मे बोधिधर्म ने साधक को ये निर्देश दिये है, "सत्य, जिसे हम धर्म कहते हैं, अपने सार मे विशुद्ध है, और यह सत्य ही शून्यता है जो सब मे प्रकटित हो रहा है, यह सब मलो और आसक्तियो से ऊपर है और इसमे 'अपना' या 'पराया' कुछ नही है। जब ज्ञानी पुरुष इस सत्य को समझ लेते हैं और इसमे विश्वास करते हैं तो उनका जीवन धर्म के अनुकूल हो जाता है। चूकि धर्म के सार मे कुछ भी अपने अधिकार मे करने की इच्छा नही होती, इसलिये ज्ञानी पुरुष सदा दान करने के लिए तैयार रहते हैं, अपने शरीर को, जीवन को, सम्पत्ति को, और कभी किसी से द्वेष नही करते और वे यह तो जानते ही नही कि बुरा व्यवहार करना क्या होता है। उन्हें शून्यता के त्रिविध स्वभाव का पूरा ज्ञान होता है, इसलिये वे पक्षपात और आसक्ति से ऊपर होते हैं। सब प्राणियो के मलो को शुद्ध करने की उनकी इच्छा होती है, इसीलिये वे उनके बीच मे आते हैं, परन्तु उनकी रूप मे आसक्ति नही होती। उनके जीवन का यह आत्म-उपकारी पक्ष होता है। परन्तु वे दूसरो का उपकार करना भी जानते हैं और बोधि के सत्य

की प्रशसा करना भी। दान के समान वे शेष पाच पारमिताओ का भी अभ्यास करते हैं। ज्ञानी पुरुष विभ्रमित विचारो से छुटकारा पाने के लिए छह पारमिताओ का अभ्यास करते है, परन्तु इसके साथ ही उनके अन्दर ऐसी कोई चेतना नही होती कि वे कोई पुण्य कार्य कर रहे हैं। यही कहलाता है धर्म के अनुकूल होना।"

वोधिधर्म ने अपने शिष्यो की आध्यात्मिक जिज्ञासाओ और प्रश्नो के उत्तर दिये थे। हम पहले (तृतीय परिच्छेद मे) देख चुके हैं कि तुन्-हुआड् मे एक हस्तलिखित प्रति मिली है जिसमे वोधिधर्म के शिष्यो के कुछ प्रश्न और वोधिधर्म के द्वारा दिये गये उनके उत्तर खण्डित रूप मे निहित हैं, जिन्हे उनके शिष्यों ने सकलित किया था। इनमे से कुछ प्रश्नोत्तर यहा दे देना साधको के लिए लाभदायक सिद्ध होगा :

प्रश्न : बुद्ध-चित्त क्या है ?

उत्तर : तुम्हारा मन ही यह है। जव तुम इसके उसी सार को देखो, तो तुम इसे 'तथता' कह सकते हो। जव तुम इसके अपरिवर्तनशील स्वभाव को देखो तो तुम इसे 'धर्मकाय' कहकर पुकार सकते हो। यह किसी का नही है, इसलिये तुम इसे 'विमुक्ति' कह सकते हो। यह सहज और स्वतत्र रूप मे कार्य करता है, और कभी दूसरो से वाधाग्रस्त नही होता, इसलिये यह 'सच्चा मार्ग' कहलाता है। यह कभी पैदा नही हुआ, इसलिये यह कभी मरेगा भी नही, इसीलिये यह 'निर्वाण' कहलाता है।

प्रश्न : तथागत क्या है ?

उत्तर : जो यह जानता है कि वह न कही से आता है और न कही जाता है।

प्रश्न : शून्यता की समाधि क्या है ?

उत्तर : प्रतीयमान जगत् मे वस्तुओ को साधक देखता है, परन्तु सदा शून्यता मे रहता है। यही शून्यता की समाधि है।

प्रश्न : यदि कोई पुरुष अर्हत् का निर्वाण प्राप्त करले, तो क्या उसे 'ध्यानी' का साक्षात्कार प्राप्त है ?

उत्तर : वह स्वप्न देख रहा है और तुम भी!

प्रश्न : यदि कोई पुरुष छह पारमिताओ का अभ्यास कर ले, दस वोधिसत्व-भूमियो को पार कर ले और दस हजार शीलो को पूरा कर ले और यह ज्ञान भी प्राप्त कर ले कि सव वस्तुए उत्पन्न नही हुई हैं, इसलिये वे मरेंगी भी नही।...क्या ऐसे पुरुष को 'ध्यानी' अनुभव प्राप्त है ?

उत्तर : वह स्वप्न देख रहा है और तुम भी ।

प्रश्न . मोह को विच्छिन्न करने के लिए मनुष्य को किस प्रकार के ज्ञान का प्रयोग करना चाहिए ?

उत्तर . जब तुम अपने मोहो का अवलोकन करोगे तो तुम्हे पता चलेगा कि वे आधारहीन हैं और आश्रय लेने योग्य नही । इस प्रकार तुम मोह और सशय को काट सकते हो। इसी को मैं ज्ञान कहता हूँ।

प्रश्न : जिस मन को कुछ जानना नही, कुछ साक्षात्कार करना नही, उसे तुम क्या कहते हो ?

उत्तर . बोधिधर्म ने कोई उत्तर नही दिया।

प्रश्न : स्वाभाविक, सरल मन क्या है, और कृत्रिम, जटिल मन क्या है ?

उत्तर : अक्षर और भाषण कृत्रिम, जटिल मन से आते हैं । जब मनुष्य भौतिक और अ-भौतिक दोनो जगतो मे सहज और भोले-भाले ढग से चलता है या ठहरता है, बैठता है या लेटता है, या घूमता है, तो इसे उसके स्वाभाविक सरल मन से उत्पन्न कहा जा सकता है। जब कोई व्यक्ति सुख या, दुःख से विचलित नही होता, तो इसे भी उसका स्वाभाविक, सरल मन कहा जा सकता है ।

बोधिधर्म के नाम से एक गाथा प्रचलित है जिसमे ध्यान-सम्प्रदाय की साधना-विधि और तत्त्व-ज्ञान का पूरा सार-सकलन है, परन्तु यह निश्चित जान पडता है कि गाथा बोधिधर्म द्वारा रचित नही, बल्कि आठवी शताब्दी के किसी अज्ञात ध्यानी सन्त की रचना है । गाथा इस प्रकार है :

"शास्त्रों से बाहर एक विशेष संप्रेषण;
शब्दों और वर्णों पर कोई निर्भरता नहीं;
मनुष्य की आत्मा की ओर सीधा सकेत;
अपने ही स्व-भाव के अन्दर देखना और बुद्धत्व प्राप्त कर लेना।"

बोधिधर्म ने समग्र जीवन-साधना की शिक्षा अपने शिष्यो को दी और उन्हे साफ-साफ यह बताया, "यह मार्ग मन की शान्ति को प्राप्त करने का है", "यह मार्ग दुनिया मे व्यवहार करने का है", "यह मार्ग तुम्हारे अपने परिपार्श्व के साथ सामंजस्यपूर्वक रहने का है", और "यह उपाय है ।" 'उपाय' से बोधिधर्म का तात्पर्य 'अनासक्ति' से था। इस प्रकार बोधिधर्म ने पूर्ण

शान्ति-योग का उपदेश दिया और अध्यात्म के साथ-साथ व्यवहार को भी उन्होने अपने शिष्यो को सिखाया।

वोधिधर्म के वाद काल-क्रम की दृष्टि से तृतीय धर्मनायक सेग्-त्सन् का नाम आता है जिन्होने साधको के लिए वहुत कुछ अपनी रचना 'मन मे विश्वास' या 'विश्वासी मन' मे कहा है, जिससे हम काफी उद्धरण द्वितीय परिच्छेद मे दे चुके है। अव हम छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् पर आते हैं, जिनके 'मंच-सूत्र' से भी काफी उद्धरण हम द्वितीय और तृतीय परिच्छेदो मे दे चुके हैं। यहां उनके कुछ अन्य कथनो को साधना की दृष्टि से देख लेना आवश्यक होगा। हुइ-नेंग् सहज ज्ञानी थे। हम पहले देख चुके हैं कि वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता के एक सक्षिप्त वाक्य से उन्हे ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। वह वाक्य था "न क्वचित् प्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यम्"। इसमे "न क्वचित् प्रतिष्ठितं" से यह तात्पर्य नही है कि मन को कही भी न लगाकर रिक्तता की अवस्था मे छोड़ दिया जाय। हुइ-नेंग् कहते है, "मूर्ख पुरुषो का एक वर्ग है जो चुपचाप वैठते हैं और मन को खाली रखने का प्रयत्न करते हैं। वे किसी भी वस्तु का चिन्तन करने से वचते हैं और अपने को 'महान्' कहते हैं। उनके इस मिथ्या सिद्धान्त के कारण हम उनसे वात करना भी नही चाहते।"[१] एक अन्य स्थान पर भी उन्होंने कहा है, "सम्पूर्ण विचार से अपने मन को निरुद्ध करना एक वहुत वड़ी गलती है।" तव फिर निर्विचार-समाधि क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए हुइ-नेंग् कहते है, "जव हम प्रज्ञा के द्वारा आत्म-निरीक्षण करते हैं तो हम अन्दर और वाहर प्रकाशित हो जाते हैं और अपने मन को जानने की स्थिति मे हो जाते हैं। अपने मन को जानना विमुक्ति को प्राप्त करना है। विमुक्ति को पाना ही प्रज्ञा-समाधि है, जो ही निर्विचार-समाधि कहलाती है। क्या है 'निर्विचारता'? 'निर्विचारता' आसक्ति से विमुक्त चित्त से सव वस्तुओ को देखना और जानना है। जव यह प्रयोग मे होती है तो यह सव जगह व्याप्त है, परन्तु कही चिपटती नही। जो कुछ हमे करना है वह है अपने मन को शुद्ध करना ताकि छह विज्ञान (चेतना के स्वरूप), छह दरवाजो (इन्द्रियों) मे होकर गुजरते हुए इन्द्रिय-विषयो से न मलीन हो और न उनमे लिप्त हो। जव हमारा मन स्वतन्त्र रूप से, विना किसी वाधा के, कार्य करता है और 'आने' या 'जाने' के लिए स्वतन्त्र होता है, तो हम प्रज्ञा या विमुक्ति की समाधि को प्राप्त करते हैं—यह अवस्था ही 'निर्विचारता' की

---

१. दि सूत्र ऑव वे-लॅग् (हुइ-नेंग्), पृष्ठ २६।

क्रिया कहलाती है। परन्तु किसी भी वस्तु के चिन्तन से बचना, ताकि सम्पूर्ण विचार निरुद्ध हो जाय, यह तो साधक पर धर्म की सनक सवार हो जाना है और एक मिथ्या सिद्धान्त है।" शून्य-समाधि रिक्तता की अवस्था नही है, बल्कि अनासक्त मन का व्यवहार ही है, इसे और भी स्पष्ट करते हुए हुइ-नेंग् कहते हैं, "कुछ लोग समाधि का अर्थ करते है लगातार मौन होकर बैठना और मन मे कुछ भी विचार उत्पन्न न होने देना। इस प्रकार की व्याख्या से तो हम जड पदार्थों की श्रेणी मे पहुच जायगे और यह सच्चे मार्ग की एक वाधा होगी, जिसे हमे खुला रखना चाहिए। यदि सव वस्तुओ की आसक्ति से हम अपने मन को विमुक्त कर लें तो मार्ग साफ हो जाता है, अन्यथा हम अपने को बन्धन मे डालते हैं।"[१] इस प्रकार ज्ञात होता है कि जिस "न क्वचित् प्रतिष्ठित चित्त" से हुइ-नेंग् को अन्तर्वोध हुआ और जिसका वाद मे उन्होने चीनी जनता मे व्यापक प्रचार किया, वह वास्तव मे मुक्त पुरुष का विहार ही है और गीता के अनासक्ति-योग या निष्काम कर्म-योग की अवस्था ही है, जैसा कि वार-वार हुइ-नेंग् के इस बात पर जोर देने से सिद्ध होता है कि "यदि सब वस्तुओ की आसक्ति से हम अपने मन को विमुक्त कर ले, तो मार्ग साफ हो जाता है।" उन्होने और भी जोर देते हुए कहा है, "हमे ऋजुता या खरेपन का अभ्यास करना चाहिये और किसी वस्तु से अपने को आसक्त नही करना चाहिये।"[२] अनासक्ति को हुइ-नेंग् साक्षात्कार का सार कहते थे। उनका कहना था कि जो विचार हमे इन्द्रिय-विषयो मे फसाता है वह 'क्लेश' है और जो विचार हमे आसक्ति से विमुक्त करता है, वही 'वोधि' है।[३] अनासक्ति हुइ-नेंग् की साधना पद्धति मे उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी कि 'गीता' के सर्वस्पर्शी दर्शन मे। 'गीता' तो इतना स्पष्टत: और एकाग्र भाव से कहती भी नही, जितना हुइ-नेंग् ने कहा है, "यह हमारे सम्प्रदाय की परम्परा रही है कि अनासक्ति को हम अपना आधारभूत सिद्धान्त मानते हैं।" अत· "न क्वचित् प्रतिष्ठित चित्तम् उत्पादयितव्यम्" से तात्पर्य मन के अनासक्ति-योग के अभ्यास से ही है, यह 'मच-सूत्र' के पृष्ठ-पृष्ठ पर स्पष्ट होता है! "वाह्य विषयो की आसक्ति से विमुक्त होना ही ध्यान है और आन्तरिक शान्ति प्राप्त करना समाधि है। जब हम ध्यान करने की स्थिति मे होते हैं और अपने आन्तरिक मन को समाधि मे

---

१ दि सूत्र ऑव वे-लेंग् (हुई-नेंग्), पृष्ठ ४७।

२. वहीं, पृष्ठ ४७।

३. वहीं, ,, ३०-३१।

रखते हैं, तो यही ध्यान-समाधि है।"[1] हुइ-नेंग् न तो यह चाहते हैं कि साधक बिलकुल अपने अन्तर्मन मे ही रम जाय, बिलकुल शम का ही उपासक बन जाय, और वस्तु-जगत् का तिरस्कार कर दे और न वे यह चाहते हैं कि बाह्य संसार मे आसक्त होकर वह साधना के मार्ग को ही भूल जाय। इसलिये वे साधना के जिस स्वरूप का प्रचार करते है, वह 'गीता' के बहुत कुछ सदृश ज्ञान से युक्त कर्मयोग जैसा ही है। "समाधि के कुछ शिक्षक अपने शिष्यो को शिक्षा देते हैं कि वे शम की प्राप्ति के लिए अपने मन पर निगरानी रक्खें, ताकि वह सोचने की क्रिया करना मात्र छोड़ दे। इस शिक्षा का अनुसरण कर शिष्य मन के सब उद्योग को छोड देते हैं। इस प्रकार की शिक्षा मे बहुत अधिक विश्वास रख कर अज्ञानी पुरुष विक्षिप्त तक हो जाते हैं। ऐसे उदाहरण दुर्लभ नही हैं और इस प्रकार की शिक्षा दूसरो को देना एक बहुत बड़ी गलती है।"[2] अभावात्मक शून्यता और बाह्य विषयो की आसक्ति, दोनो का ही निषेध करते हुए वे कहते है, "साधारण आदमी बाहरी वस्तुओ से अपनी आसक्ति बाघ लेते हैं, और अन्दर वे रिक्तता के विचार मे पड़ जाते हैं। विषयो से सम्पर्क मे आने पर जब वे उनकी आसक्ति से अपने को मुक्त करने मे समर्थ हो जाते हैं और इसी प्रकार जब वे विनाश या रिक्तता के मिथ्या सिद्धान्त से अपने को मुक्त कर लेते हैं, तो वे अन्दर के सब मोहो और बाहर के सब भ्रमो से मुक्त हो जाते हैं। जो इसे समझता है और इस प्रकार एक क्षण मे जिसे बोधि मिल गई है, उसी के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि उसने बुद्ध-ज्ञान के दर्शन के लिए अपनी आखें खोली हैं।"[3] निर्विचार-समाधि यदि मन को विचार से खाली कर देना नही है, तो इस प्रकार की समाधि मे हमे क्या चिन्तन करना चाहिये और क्या चिन्तन नही करना चाहिये, इसके सम्बन्ध मे साधको को स्पष्ट निर्देश देते हुए हुइ-नेंग् कहते हैं, "निर्विचारता मे हमे किससे पीछा छुडाना चाहिये और किस पर अपना मन लगाना चाहिये ? हमे द्वन्द्वो से और सब मलिनताकारी विचारो से पीछा छुडाना चाहिये। हमे तथता के सच्चे स्वभाव पर अपने मन को जमाना चाहिये, क्योकि तथता विचार का सार है और विचार तथता की क्रिया का परिणाम है।" शून्य के वास्तविक स्वरूप का विवेचन करते हुए हुइ-नेंग् ने उसे आकाश के समान सर्वव्यापक बताया है। "विश्व का असीम शून्य अनेक आकारो

---

१. वहीं, पृ० ५२।
२ वहीं, पृ० ४८।
३. वहीं, पृष्ठ ६८।

और स्वरूपो की वस्तुओ को अपने अन्दर समेटे हुए है, जैसे कि सूर्य, चन्द्र, तारे, पर्वत, नदिया, ससार, बसन्त, निर्झरिणिया, झाड़िया, जंगल, अच्छे-बुरे आदमी, अच्छी-बुरी वस्तुएं, देव-लोक, नरक, महासागर, और महामेरु के सब पर्वत। आकाश मे ये सब समाविष्ट हैं और इसी प्रकार हमारे स्वभाव की शून्यता मे। हम कहते है कि मन का सार महान् है, क्योकि इसमे सब पदार्थ समाश्लिष्ट हैं, सब वस्तुए हमारे स्वभाव के अन्दर हैं।"[1] सब कुछ अन्दर ही है। प्रज्ञा भी अन्दर से ही आती है, किसी बाहरी स्रोत से नही। प्रज्ञा हर प्राणी मे विद्यमान है, और बुद्ध और अ-बुद्ध मे केवल यह अन्तर है कि एक ने इसका साक्षात्कार कर लिया है, जबकि दूसरा इसे नही जानता। अन्त साधना पर जोर देते हुए हुइ-नेंग् ने कहा है, "हमारा यह भौतिक शरीर एक नगर के समान है। हमारी आखें, कान, नाक, और जीभ इसके दरवाजे हैं। पाच दरवाजे बाहरी हैं, जबकि अन्दर का दरवाजा विचार है। मन भूमि है। मन के राज्य मे निवास करने वाला 'मन का सार' ही राजा है। जब मन का सार अन्दर रहता है, तो राजा अन्दर है और हमारे शरीर और मन स्थित रहते है। जब मन का सार बाहर चला जाता है, तो राजा बाहर चला जाता है और हमारे शरीर और मन नष्ट हो जाते है। मन के सार के अन्दर ही हमे बुद्धत्व के लिए प्रयत्न करना चाहिये और हमे इसे अपने से बाहर नही खोजना चाहिये।'''करुणावान् होना ही अवलोकितेश्वर है, पवित्र जीवन के लिए योग्य बनना ही शाक्यमुनि है। समता और ऋजुता ही अमिताभ हैं।"[2]

हुइ-नेंग् का यह कहना था कि ध्यानी साधक को अपने अन्दर ही बुद्ध को देखना चाहिये। "हमारा स्वभाव ही बुद्ध है और इस स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई बुद्ध नही है।"[3] अपने एक अन्य प्रवचन मे वे कहते हैं, "हमारे मन के अन्दर एक बुद्ध है और यह अन्दर का बुद्ध ही सच्चा बुद्ध है। यदि बुद्ध को अपने मन के अन्दर नही खोजा जाय, तो अन्यत्र हम सच्चे बुद्ध को कहा पायेंगे? इस बात मे सन्देह मत करो कि बुद्ध तुम्हारे मन के अन्दर है, जिससे बाहर कुछ अस्तित्व विद्यमान नही हो सकता।"[4] इस सम्बन्ध में उनकी यह सुन्दर गाथा भी है :

---

१. वहीं, पृ० २८।
२. वहीं, पृ० ४२-४३।
३ वहीं, पृ० २८।
४ वहीं, पृ० १२२।

"जो बुद्ध को बाहर खोजता है, कुछ सिद्धान्तों का अभ्यास करते हुए,
वह नहीं जानता कि सच्चा बुद्ध कहां मिलेगा;
परन्तु जो अपने मन के अन्दर हीं सत्य को साक्षात्कार करने की योग्यता रखता है,
उसने बुद्धत्व के बीज को बोया है;
जिसने मन के सार का साक्षात्कार नहीं किया और बुद्ध को जो बाहर खोजता है,
वह मूर्ख है और गलत इच्छाओं से प्रेरित है।"[१]

सत्य का साक्षात्कार अपने मन के अन्दर ही होता है, इस पर हुइ-नेंग् ने बड़ा जोर दिया है। त्रि-शरण (बुद्ध, धर्म, संघ की शरणागति) को उन्होने मन के अन्दर ही माना है; बुद्ध, धर्म, संघ मन के सार के अन्दर ही हैं और वही उनकी सच्ची शरण ली जाती है। अपने मन के सार को जानना और बुद्धत्व प्राप्त करना, दोनो बिलकुल एक बात हैं।[२]

हुइ-नेंग् के शिष्य युग्-चिआ त-शिह् थे जिनके 'साक्षात्कार-पथ-गीत' या 'बोधि-गीत' मे साक्षात्कार-पथ के साधन और अनुभवों का वर्णन है। इसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। इसलिये अब हम एक अन्य ध्यानी साधक पर आते हैं, जिन्होने ध्यान-विद्यार्थियो के लिए बहुत स्पष्ट सुझाव दिये हैं। वे हैं जेन्-जेत्सु, जिनका समय आठवी-नवी शताब्दी है। ध्यान-विद्यार्थियो के लिए उनके सुझाव इस प्रकार हैं—

"संसार मे रहना, परन्तु उसकी धूल से आसक्ति पैदा न करना—यही सच्चे ध्यान-विद्यार्थी का मार्ग है।
किसी अन्य पुरुष के सत्कर्मों को देखकर उसके उदाहरण का अनुसरण करने के लिए अपने को उत्साहित करो, परन्तु किसी दूसरे आदमी के गलत कार्य को देखकर उसका अनुसरण न करने के लिये अपने को समझाओ।
यदि तुम अकेले किसी अंधेरे कमरे में भी हो, तब भी इस प्रकार बरतो जैसे कि कोई बड़ा अतिथि तुम्हारे सामने हो।

१. वहीं, पृष्ठ १२३।
२. वहीं, पृष्ठ ५७—६१।

अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त करो, परन्तु अपने सच्चे स्वभाव से अधिक
अभिव्यक्त मत होओ।
गरीबी एक खजाना है। इसे आराम के जीवन से मत बदलो।
एक व्यक्ति मूर्ख की तरह दिखाई पड़ सकता है, परन्तु वह मूर्ख नहीं होता।
सम्भव है कि वह अपने ज्ञान को सरक्षित कर रहा हो और सावधानीपूर्वक
उसकी रखवाली कर रहा हो।
गुण आत्म-सयम से उत्पन्न होते हैं। वे मेघ की वर्षा या ओलों की तरह
अपने आप आकाश से नहीं गिरते।
विनम्रता सब गुणों का आधार है। इससे पहले कि तुम स्वय अपना
परिचय अपने पड़ोसियों को दो,
उन्हें तुम्हारे (गुणों के) बारे में जानना चाहिये।
एक आर्य हृदय कभी अपने आपको दूसरो से आगे बढ़ाकर नहीं रखता,
उसके शब्द दुर्लभ रत्नो के समान अल्प ही दिखाई पड़ते हैं।
प्रत्येक दिन एक सच्चे विद्यार्थी के लिये एक सौभाग्यमय दिन होता है।
समय बीतता है, परन्तु वह कभी नहीं पिछड़ता।
न यश और न लज्जा उसके हृदय को विचलित कर सकते हैं,
सही और गलत का विवेचन मत करो। सदा अपनी ही निन्दा करो,
दूसरो की नहीं।
हालाकि कुछ चीजें सही थीं, परन्तु अनेक पीढ़ियों तक वे गलत समझी
गईं।
चूकि अच्छेपन का मूल्य शताब्दियो के बाद तक निर्धारित किया जा सकता है,
अतः तत्काल प्रशसा की तृष्णा करने की आवश्यकता नहीं है।
विश्व के महान् नियम पर ही सब कुछ क्यों नहीं छोड़ देते
और हर दिन को एक शान्त मुस्कराहट से क्यो नहीं बिताते ?"

ध्यान-सम्प्रदाय की साधना का सार पूर्ण अनासक्ति और सहजता के जीवन मे है। लंकावतार-सूत्र मे भगवान् बुद्ध का एक वचन है जिसमे वे कहते हैं कि ज्ञान-प्राप्ति के समय से लेकर निर्वाण मे प्रवेश के समय तक उन्होने धर्म पर एक शब्द भी नही कहा है। "यस्या रात्र्यामधिगम. यस्या च परिनिर्वृत्ति। एतस्मिन्नन्तरे नास्ति मया किंचित् प्रकाशितम्।" वस्तुत भगवान् बुद्ध इस पूरे काल मे निरन्तर धर्म-प्रवचन करते रहे थे। अतः भगवान् बुद्ध का यह कहना उनकी अनासक्ति भावना का ही द्योतक था। पालि 'महापरि-

निव्वाण-सुत्त' मे भी हम बुद्ध को यह कहते देखते हैं कि उन्हे कभी ऐसी चेतना नही हुई कि संघ को उन्होने स्थापित किया है या कि संघ उनके सहारे से है। यह भी तथागत की पूर्ण अनासक्ति और विनम्रता ही थी। इसे महायान के पारिभाषिक शब्दो मे बुद्ध की 'अनाभोगचर्या' कहा गया है। जिसे गौडपाद ने 'अस्पर्श-योग' कहा है और जिसके उपदेष्टा के रूप मे बुद्ध की ओर संकेत किया है ('अस्पर्शयोगो वै नाम'''देशितस्तं नमाम्यहम्'), वह यह 'अनाभोग-चर्या' ही है और ध्यानी जीवन का बिलकुल यही उद्देश्य है। कर्म में अकर्म देखना, साधना में अ-साधना देखना, अर्थात् इस प्रकार साधना करना कि साधक को पता ही न चले कि वह कुछ कर रहा है और सहज रूप से, बिना उसे पता लगे ही, साधक अनायास रूप से लक्ष्य तक पहुंच जाय—यही है 'बिना दरवाजे का दरवाजा' या 'द्वारहीन सरहद्दी दर्रा' जिसे पार कर ध्यानी साधक सत्य साक्षात्कार के विश्राम में प्रवेश करते है।

ध्यान-सम्प्रदाय का साधना-मार्ग पूर्णतः अद्वैत पर अवस्थित है—ससार और परमार्थ के, पवित्र और अपवित्र के, अद्वैत पर। एक को छोडकर दूसरे को ग्रहण नही करना है, बल्कि एक मे ही दूसरे को देखना है। अंजन मे ही निरंजन को देखने की जो बात हमारे देश मे बाद मे चलकर गोरख ('अंजन माहि निरंजन भेंट्या') और कबीर ('अंजन माहि निरंजन रहिये') ने कही, उसकी ध्यान-सम्प्रदाय के साधना-मार्ग से पूरी सदृशता है। ध्यानी साधक परामर्श देते हैं कि इच्छाओ के इस लोक मे रहकर ही साधना करो, इस जलते घर (पार्थिव सत्ता) मे ही धर्मराज को देखो। यह सम्भव है, इसका साक्ष्य देते हुए से ही कबीर प्रतीत होते हैं जबकि वे कहते हैं कि हमने तो औघट मे ही घाट को पा लिया है। "घट मांहैं औघट लह्या, औघट मांहैं घाट।"

ध्यानी सन्त उन्-मेन् ने ध्यान की निर्लिप्त साधना के सम्बन्ध मे कहा है, "सारे दिन विविध विषयो पर विवाद करने के उपरान्त भी तुम्हारे ओठो पर या दांतो पर कुछ भी (शब्द) न आना, एक भी शब्द न बोलना; दिन भर चावल खाने और कपडे पहने रहने पर भी एक चावल के सम्पर्क मे न आना और न रेशम के एक भी धागे को छूना—यही 'ध्यान' है।" ध्यान-सम्प्रदाय की साधना का यह पूरा वक्तव्य है। कितनी सहज और निर्लिप्त साधना ध्यानी सन्त चाहते हैं, इसका एक और उदाहरण एक अन्य ध्यानी सन्त के शब्दो मे देखिये, जो उन्होंने अपने शिष्यो से कहे थे, "तुम लोग जो साधना मे लगे हो और बुद्ध-दर्शन मे सिद्धि प्राप्त करना चाहते हो, तो तुम्हारे लिए

प्रयत्न करने की आवश्यकता नही है। केवल एक ही मार्ग है और वह है कुछ विशेष न करके साधारण काम करते रहना, मल-मूत्र त्याग करना, खाना खाना और कपड़े पहनना, थकने पर लेट जाना और एक सरल व्यक्ति की तरह इन कामो पर अपने ऊपर हँसना''' विशिष्ट साधना करते समय दैनिक जीवन के साधारण कार्यों के परे कुछ प्रयत्न की आवश्यकता नही है, वरन् दैनिक जीवन के मध्य ही न तो किसी पदार्थ का बोध ग्रहण करना चाहिये, न कोई विचार मन मे आने देना चाहिये। यही अ-साधना द्वारा साधना, अ-प्रयत्न द्वारा प्रयत्न है।" कई ध्यानी साधुओ ने इस प्रकार सहज साधना के अपने अनुभव प्रकट किये हैं। एक कहता है, "चाय पीते हुए और चावल खाते हुए, मैं अपने समय को बिताता हू, जैसे भी वह आता है।" एक दूसरे ने उपदेश दिया है, "अपनी इच्छानुसार कार्य करो, जैसे अच्छा लगे, वैसे चलो, दूसरा विचार मत आने दो। यही अनुपम मार्ग है।" इस प्रकार के उद्धरण काफी बढाये जा सकते हैं।

साधारण जीवन मे ही साधना करने का इतना आग्रह ध्यान-सम्प्रदाय मे है कि कही-कही अतिवाद-सा ध्यानी सन्त कर देते हैं और जिज्ञासु विस्मित-सा रह जाता है। जब एक पूर्वकालीन ध्यानी साधु से पूछा गया, "आप किस प्रकार अभ्यास करते हैं?" तो उसका उत्तर था, "मुझे जब भूख लगती है तो खा लेता हूं। जब थक जाता हू तो सो जाता हू।" इसी प्रकार एक अन्य से जब पूछा गया कि "परमार्थ क्या है?" तो उसने उत्तर दिया, "तुम्हारा दैनिक जीवन—यही परमार्थ है।" साधारण जीवन के व्यापारो मे ही सत्य के दर्शन करने चाहिये, इसके सम्बन्ध मे एक और ध्यानी सन्त और उसके शिष्य के इस प्रसंग को देखिये। चुग्-सिन् नामक चीनी शिष्य ने अपने गुरु ताओ-वू की बड़ी सेवा की। एक दिन शिष्य ने गुरु के पास आकर कहा, "जिस दिन से मैं आया हू आपने मुझे धर्म के सार के विषय मे कभी नही बताया।" गुरु ने उत्तर दिया, "जब से तुम यहाँ आये हो, मैं कभी तुम्हें धर्म का सार बताये बिना नही रहा हू।" "आपने मुझे कब धर्म का सार बताया है?" शिष्य ने पूछा। गुरु ने उत्तर दिया, "जब तुम चाय के प्याले को लेकर मेरे पास आये हो, मैं कभी उसे बिना ग्रहण किये नही रहा हू। जब तुमने हाथ जोड कर आदरपूर्वक मुझे प्रणाम किया है, तो मैं कभी अपना सिर झुकाये बिना नही रहा हूं। बताओ मैंने कब तुम्हें धर्म का उपदेश नही दिया है।" शिष्य काफी देर तक चुपचाप खडा रहा। फिर गुरु ने कहा, "यदि तुम देखना चाहते हो तो तुम्हें सीधे और एक क्षण मे ही देख लेना होगा। यदि तुम सत्य के

साक्षात्कार के मानसिक विश्लेषण पर आग्रह करोगे तो तुम लक्ष्य से दूर जा पड़ोगे।" चुग्-सिन् ने प्रकाश की एक झलक मे अपने गुरु के मन्तव्य को समझ लिया।

जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक जो साधना की जाती है, वह साधना का उच्चतम रूप नही है। ध्यानी साधक मानते हैं कि वहा साधना प्रकट हो गई है। साधना का सच्चा रूप वह है जहां वह अन्तर्हित रहती हैं, प्रकट नही होती। संसार को ध्यानी छोड़े, यह साधना का प्रकट होना है। ससार स्वयं छूट जाय, यह अन्तर्हित साधना है। ध्यानी साधक इसी पर जोर देते हैं। यह तथ्य कितने सुन्दर रूप मे एक ध्यानी सन्त और उनके शिष्य के इस जीवन-प्रसंग मे व्यक्त होता है। एक वार एक ध्यानी सन्त अपने एक शिष्य के साथ नदी पार कर रहे थे। गुरु ने शिष्य से पूछा कि नदी को पार करना किस प्रकार का कर्म है? शिष्य ने उत्तर दिया कि ऐसा कर्म, जिसमे पानी पैरो को नही भिगोता? गुरु ने कहा, "तुमने उसे घोषित कर दिया है।" तब शिष्य ने पूछा कि फिर उसका वर्णन किस प्रकार करना चाहिये।" गुरु ने उत्तर दिया, "पैर पानी से नहीं भीगते।" यही पूर्ण अनासक्ति है, जो ध्यानी सन्तो की साधना मे समाई हुई है।

गीता के अनासक्ति-योग के सम्बन्ध मे कई वार मनीपियो को यह कठिनाई हुई है कि एक ओर वह योग को 'कर्मसु कौशलम्' कहती है और दूसरी ओर उससे अनासक्त रहने का उपदेश देती है। यह कैसे सधे? कर्म मे कुशलता के लिए अनिवार्यतः उसमे धसना पडता है। बिना धसे कौशल नही आता और धसने पर आसक्ति नही है, यह कैसे कहा जाय? गीता मे इस समस्या का पूरा समाधान विद्यमान है, परन्तु यदि इसकी विधि के सच्चे रूप को काव्यमय रूप से देखना है, तो एक पूर्वकालीन ध्यानी सन्त (दो-गेन्) के इन शब्दो को देखिये, जिन्हें एक वार उद्धृत करने पर भी फिर उद्धृत करना पड़ता है :

वांसों की छाया सीढ़ियों को बुहार रही है,
परन्तु कोई धूल नहीं उठती;
चन्द्रमा का प्रकाश पानी के तल में अन्तर्प्रवेश करता है,
परन्तु पानी मे कोई चिह्न नहीं छोड़ता।

प्रकृति के बीच मे गरीबी का जीवन ध्यानी साधको को बहुत प्रिय है। वे इसे किसी भी सासारिक वैभव के लिए छोड़ना नही चाहते। ध्यानी सन्त बुद्ध की वाणी को प्राकृतिक दृश्यो मे ही सुनते हैं। एक जापानी ध्यानी सन्त ने कहा है, "मुरझाई हुई पत्तियो का गिरना और फूलो का खिलना हमारे लिए बुद्ध-धर्म की पावनता को उद्घाटित करते हैं।" इसी प्रकार एक अन्य ध्यानी सन्त का कहना है, "मर्मर ध्वनि करती हुई पर्वतीय निर्झरिणी ही बुद्ध की विस्तृत, लम्बी जिह्वा है। नित्य नवीन रगो को धारण करने वाला पर्वत ही क्या बुद्ध का विशुद्ध शरीर नहीं है?" एक बार एक भिक्षु गेशा नामक एक जापानी ध्यानी सन्त के पास गया और उसने उनसे पूछा कि सत्य के मार्ग का द्वार कहां है? गेशा ने उससे पूछा, "क्या तुम उस झरने की मर्मर ध्वनि सुनते हो?" "हां, मैं सुनता हू।" "तो प्रवेश वहीं है।" एक अन्य ध्यानी सन्त ने मन्दिर के दरवाजे के पास पडे एक पत्थर के टुकड़े को लक्ष्य करते हुए कहा था, "इसमे अतीत, वर्तमान और भविष्य के सब बुद्धो का निवास है।" इसी प्रकार एक अन्य ध्यानी सन्त के सम्बन्ध मे कहा गया है कि उसने एक बार आडू के फलते-फूलते पेडो को देखकर ही सत्य मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर ली थी। प्रकृति के माध्यम से ही ध्यानी सन्त सत्य का साक्षात्कार करते हैं और उनके आश्रम अधिकतर प्राकृतिक वातावरण मे ही स्थित होते हैं। गरीबी के आनन्द के सम्बन्ध मे तो अनेक ध्यानी सन्तो ने बडे अनुभवपूर्ण और मनोरजक उद्गार किये हैं। एक भिक्षु का प्रकरण याद आता है, जिसने ऊचे पर्वत पर स्थित अपनी एकान्त झोपडी का वर्णन करते हुए कहा है कि किस प्रकार वह बादल के साथ उस झोपड़ी मे अकेला रह रहा है.

पर्वत की चोटी पर एक एकान्त झोंपडी, हजारो दूसरी
चोटियों पर मीनार की तरह खड़ी हुई,
इस झोपड़ी के आधे भाग मे एक वृद्ध भिक्षु रह
रहा है और दूसरे आधे भाग में एक बादल!

नवी शताब्दी के एक ध्यानी सन्त ने भी जिसका नाम पेंग् था, अकिंचनता के रूप मे शून्यता का एक गीत गाया है, जो इस प्रकार है :

वृद्ध पेंग् को इस संसार में कोई आवश्यकता नही,
सब कुछ उसके लिये शून्य है, एक आसन भी उसके पास नहीं है।
निरपेक्ष शून्यता का उसके घर मे शासन है!

जब सूर्य उगता है, तो शून्यता में ही वह घूमता है।
जब सूर्य छिपता है, तो वह शून्यता में सो जाता है।
शून्यता में बैठकर वह अपने शून्य गीत गाता है,
और उसके शून्य गीत शून्यता मे प्रतिध्वनित होते हैं।
शून्य की इस शून्यता पर आश्चर्य मत करो,
क्योंकि शून्यता ही सब बुद्धों का आसन है।
यदि तुम कहो कि शून्यता नहीं है,
तो तुम बुद्धो के प्रति गम्भीर अपराध करते हो!

ध्यान-सम्प्रदाय तीव्र जिज्ञासा पर आधारित ध्यान-योग है, परन्तु हमारे लिए एक बहुत महत्वपूर्ण बात इस सम्बन्ध मे लक्ष्य करने की यह है कि अनेक ध्यान-योगी सत्य के साक्षात्कारार्थ और बौद्ध जीवन के पूरे लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए बुद्ध के नाम का जप करते हैं। इसे वे ध्यान-सम्प्रदाय के लक्ष्य की प्राप्ति का एक प्रभावशाली साधन मानते हैं। अमिताभ बुद्ध के नाम का जप वैसे एक अन्य बौद्ध सम्प्रदाय की साधना का केन्द्र-विन्दु है, जिसका नाम सुखावती-सम्प्रदाय है। यह सम्प्रदाय चीन और जापान मे बहुत लोक-प्रिय हुआ और इन देशो मे बौद्ध धर्म का जो लोक-धर्म के रूप मे प्रसार हुआ, उसका यही सम्प्रदाय प्रतिनिधित्व करता है। बौद्ध धर्म मे भक्ति का विकास और उसमे नाम-जप या नाम-साधना का स्थान ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं कि यहां सक्षेप मे उनका निरूपण नही किया जा सकता और अलग विचार की अपेक्षा रखते है। होनेन् और शिनरेन् जैसे महात्मा जो बारहवी-तेरहवी शताब्दी मे जापान मे हुए, नाम-जप के एकनिष्ठ साधक थे और उनका सम्बन्ध सुखावती-सम्प्रदाय से ही है। इसी प्रकार अन्य अनेक उच्च कोटि के साधक महात्मा इस सम्प्रदाय के चीन और जापान मे हुए हैं। चीन मे अभी अठारहवी-उन्नीसवी शताब्दी मे मेग्-तु ग् और कु-कुन् नामक साधक भिक्षु हुए हैं जिनका जीवन अमिताभ के नाम-जप से ओतप्रोत था। इनमे से पहले ने 'अमिताभ-बुद्ध-नाम-जप-गाथा' पुस्तक लिखी है और दूसरे ने 'अमिताभ-नाम-जप के महत्व-पूर्ण शब्द' और 'अमिताभ नाम-जप के चार तात्त्विक उपदेश।' हमारी अपनी भक्ति-साधना की दृष्टि से हमारे लिए सुखावती-सम्प्रदाय मे गृहीत और साधित नाम-जप के स्वरूप को जानना बहुत आवश्यक होगा और यह बहुत महत्वपूर्ण विषय भी है, परन्तु जैसा हम अभी कह चुके हैं, यह एक स्वतन्त्र विषय है और अलग से ही इसका निरूपण किया जा सकता है। सुखावती-

सम्प्रदाय का मूल मन्त्र है "नमः अमितबुद्धाय" (जापानी भाषा मे "नमु अमिदा बुत्सु") जिसका लाखो की संख्या मे नित्य जप करना सुखावती-सम्प्रदाय के साधक अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझते हैं और गोस्वामी तुलसीदास जी के राम-नाम जप के समान उनका भी इस मन्त्र के सम्बन्ध मे यह विश्वास है कि जिसने इस मन्त्र को "भाव कुभाव अनख आलस हू" जपा है, "ताको भलो कठिन कलि कालहुँ आदि मध्य परिनामो" (एक प्रकार के कलि-युग मे जापानी बौद्ध भी विश्वास करते हैं अर्थात् नैतिक ह्रास के युग में, जिसमे बिलकुल हमारे भक्तो के अनुसार उनका भी विश्वास है कि योग, ज्ञान आदि की साधना सम्भव नही है और केवल नाम-जप—अमिताभ बुद्ध का नाम-जप—ही एकमात्र सम्बल है) और "नाम जपत भव-सिन्धु सुखाही। करउ विचार सन्त मन मांही।" इस प्रकार नाम-जप बौद्ध साधना मे नैतिक जीवन की प्राप्ति के लिए और सत्य के साक्षात्कार के लिए एक प्रभावशाली साधन—समाधि के आलम्बन—के रूप मे स्वीकृत है और महायान के आदि से ही सम्भवत यह (नाम-जप की) साधना भारत मे प्रचलित थी। चीन मे हमे इस साधना के प्रचलित होने के साक्ष्य पाचवी शताब्दी ईसवी मे मिलते हैं जबकि हुइ-युआन् नामक भिक्षु ने वहां 'पुण्डरीक समाज' की स्थापना की। बाद मे पन्द्रहवी शताब्दी से तो नाम-जप की साधना बौद्ध धर्म के प्राय सभी सम्प्रदायो मे चीन और जापान मे प्रचलित हो गई। जहा तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, दसवी शताब्दी मे चीन मे इसे यंग्-मिग् नामक ध्यानी भिक्षु ने ध्यान-साधना मे सम्मिलित किया और तब से निरन्तर ध्यानी साधक इसका अभ्यास करते रहे हैं। "नम अमितबुद्धाय" ("नमु अमिदा बुत्सु") का जप ध्यान-योगियों के लिए महत्वपूर्ण है और इसके द्वारा वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति, ध्यान-मार्ग की अपेक्षा अधिक सरलता से, कर लेते हैं, ऐसा ध्यान-सम्प्रदाय के अनेक साधको का अनुभव है। अपने नाम-साधक भक्तो के साक्ष्य को देखते हुए हमे यह कहना ही पड़ता है कि नाम-जपी ध्यान-योगियों का अनुभव उनके मेल में है। 'साधु ! साधु !' ऐसी ध्वनि उसे यहा भारतीय भक्ति-साधना की ओर से सुनाई पड़ रही है।

ध्यान-योगी किस प्रकार अपने मन पर वशित्व प्राप्त करते हैं, इसकी अवस्थाओं को दिखाते हुए ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा मे (जिसकी सृजनशील कलात्मक अभिव्यक्तिया महान् हैं और जिनके समान कोई चीज हमे अपनी सन्त-परम्परा मे नही मिलती) कुछ तस्वीरें प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख भी यहां कर देना चाहिए। ये तस्वीरें सख्या मे दस हैं और इनका शीर्षक है 'बैल के शिक्षण

सम्वन्धी दस तस्वीरें'। वैल यहा मन का प्रतीक है। मन के लिए वैल के प्रतीक का प्रयोग गुरु गोरखनाथ ने भी किया है और कवीर ने भी, जिसके सम्वन्ध मे हम आगे छठे अध्याय मे कुछ कहेगे। वैल के शिक्षण सम्बन्धी दस तस्वीरो के चार संस्करण जापान मे प्रचलित हैं, (१) ककु-आन्-कृत, (२) सेक्यो-कृत (३) जितोकु-कृत, और (४) एक अज्ञात चित्रकार द्वारा चित्रित। ककु-आन् सुग्-काल (६६०-१२७८ ई०) के एक जापानी ध्यानी सन्त थे। उनके द्वारा चित्रित दस तस्वीरें अपने मूल रूप मे आज भी क्योतो के शो-को-कु-जी मन्दिर मे पाई जाती हैं। उनके शीर्षक हैं—(१) वैल की तलाश मे, (२) चिह्नो को देखना, (३) वैल को देखना, (४) वैल को पकड़ना, (५) वैल के नकेल डालना, (६) वैल की पीठ पर वैठकर घर जाना, (७) वैल की याद नही रही, आदमी अकेला रह गया, (८) वैल और आदमी दोनो गायव, (६) मूल की ओर लौटना, उद्गम की ओर वापस आना, और (१०) आनन्द की वरद मुद्रा मे नगर मे प्रवेश। इन दस तस्वीरो के द्वारा ककु-आन् ने ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार मन के संयम की अवस्थाओ के चित्रण के द्वारा मनुष्य के आध्यात्मिक विकास को दिखाया है। सेक्यो सम्भवत: ककु-आन् के या तो समकालिक थे या कुछ पूर्ववर्ती और उन्होने हमे पाच या छह तस्वीरें इसी विषय पर दी, जो अभाग्यवश अब प्राप्त नही हैं और नष्ट हो गई हैं। जितोकु ने छह तस्वीरें इसी विषय पर चित्रित की हैं और आज भी प्राप्त हैं। अज्ञात चित्रकार चीन के थे और उनके द्वारा चित्रित तस्वीरे भी दस हैं। उनके शीर्षक इस प्रकार हैं, (१) अ-संयमित, (२) सयम का आरम्भ, (३) वन्धन मे डाल लिया, (४) मोड़ कर सामने किया, (५) पालतू वनाया, (६) निर्विघ्न, (७) यथेच्छकारिता, (८) सव कुछ भूल गया, (६) एकाकी चांद और (१०) दोनो गायव! ध्यानी कवियो ने उपर्युक्त तस्वीरो के संस्करणो की व्याख्या-स्वरूप कविताएं भी लिखी हैं। हम यहा विस्तार-भय से इन सव संस्करणो के चित्र नही दे सकते, परन्तु इनमे सरलतम, केवल रेखाओ मे वद्ध और कुछ अजीव-सी अभिव्यक्ति लिये हुए उन दस तस्वीरो को देंगे जो किसी अज्ञात चीनी ध्यानी चित्रकार ने खीची हैं और चीन और जापान मे प्रचलित हैं। वे इस प्रकार हैं :



१. अ-सयमित

अपने सींगो को भयकर रूप से हवा मे उठाये हुए पशु हापता हुआ दौड रहा है,
पर्वतीय मार्गों मे मदमस्त दौड़ता हुआ वह दूर से दूर चला जाता है,
घाटी के प्रवेश-द्वार के उस पार एक काला बादल छाया है,
कौन जानता है कि कितनी बढिया और ताज़ी जडी-बूटियो को इस जानवर ने अपने जगली खुरो के नीचे कुचल डाला है !



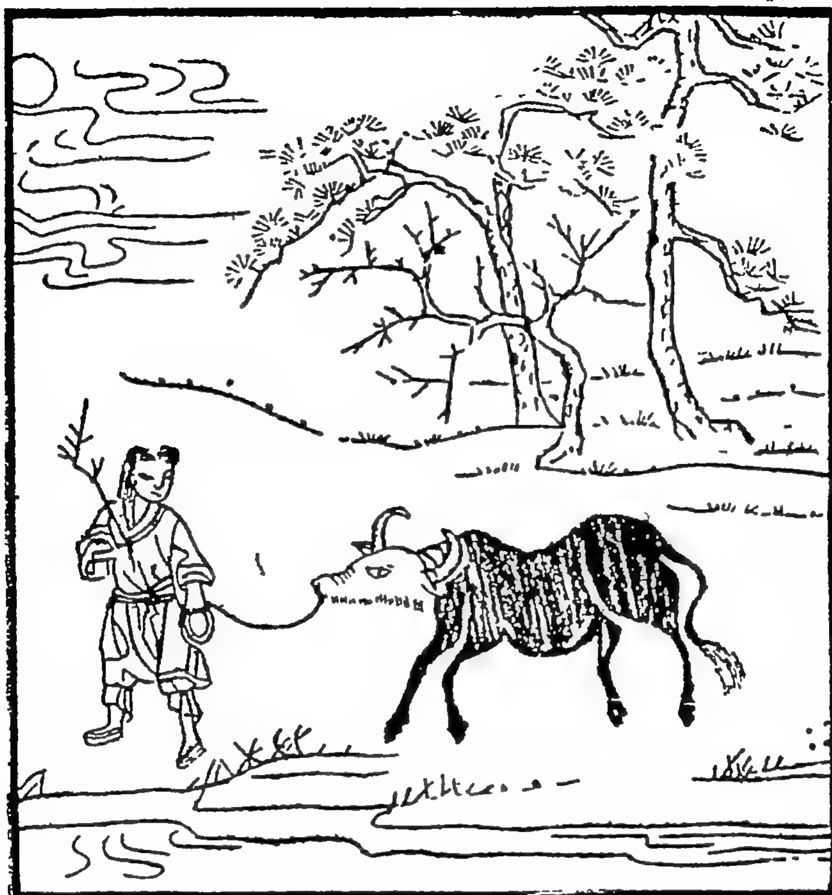
२. संयम का आरम्भ

मेरे पास तिनको की बनी एक रस्सी है और इसे मैं उसके नकुओ मे होकर डाल देता हूं,

एक बार उसने भागने का उन्मत्त प्रयत्न किया नही कि बस उस पर सख्ती से कोड़े पर कोडे वरसते हैं;

जंगली और अ-शासित प्रकृति मे जितनी भी शक्ति है, उससे वह शिक्षण का प्रतिरोध करता है,

परन्तु देहाती रखवाला भी अपनी कस कर पकड़ी हुई रस्सी को कभी ढीली नही करता और अपने कोड़े को भी सदा तैयार रखता है।



३. बन्धन में डाल लिया

क्रमशः बन्धन मे डाल लिया गया पशु अब नाक से घसीट लिए जाने मे सन्तुष्ट है,
नदी को पार करते हुए या पर्वतीय मार्ग मे चलते हुए वह अपने रखवाले के प्रत्येक पग का अनुसरण करता है,
परन्तु रखवाला उसकी रस्सी को अभी तक अपने हाथ मे कस कर पकड़े हुए है और कभी उसे छोड़ता नही,
थकावट की कुछ भी पर्वाह न करते हुए वह सारे दिन चौकस रहता है।



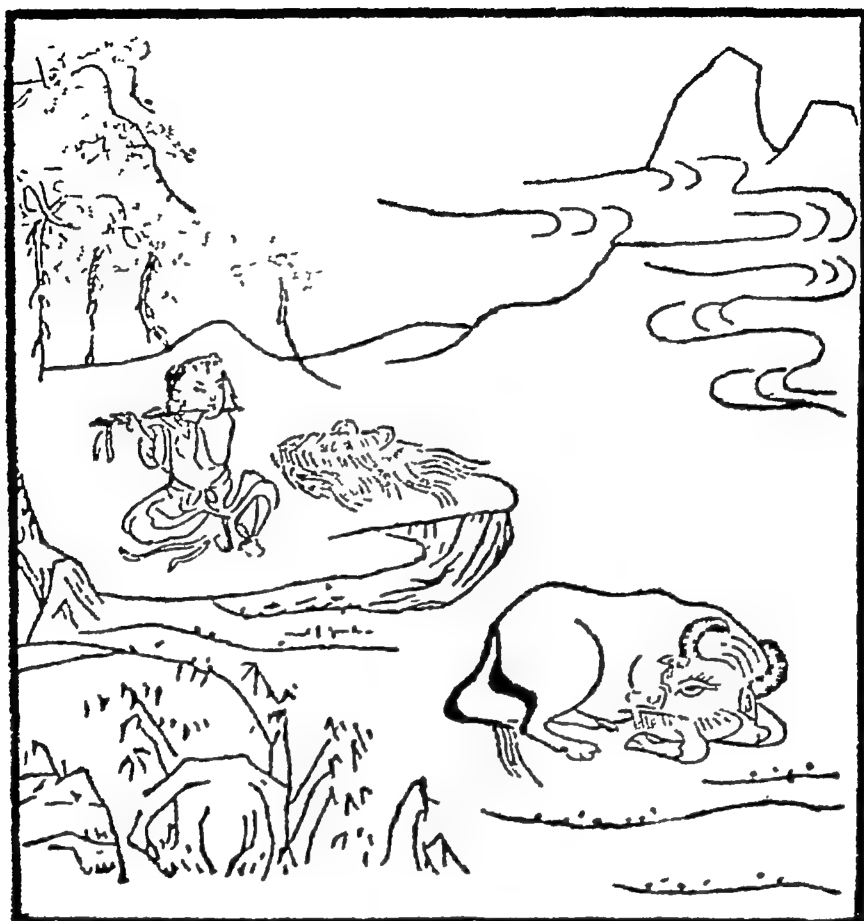
४. मोड़कर सामने किया

अनेक दिनो के लम्बे प्रशिक्षण के बाद नतीजा मालूम पड़ने लगता है और
पशु को मोड़कर सामने कर लिया गया है,
जंगली और अ-शासित प्रकृति अन्त मे शिक्षित कर ली जाती है,
अब जानवर सीधा हो गया है।
परन्तु अभी रखवाले ने उसमे पूरा विश्वास नहीं किया,
तिनको की रस्सी को वह अभी पकड़े हुए है और उससे उसने बैल को पेड़
मे बांध दिया है।



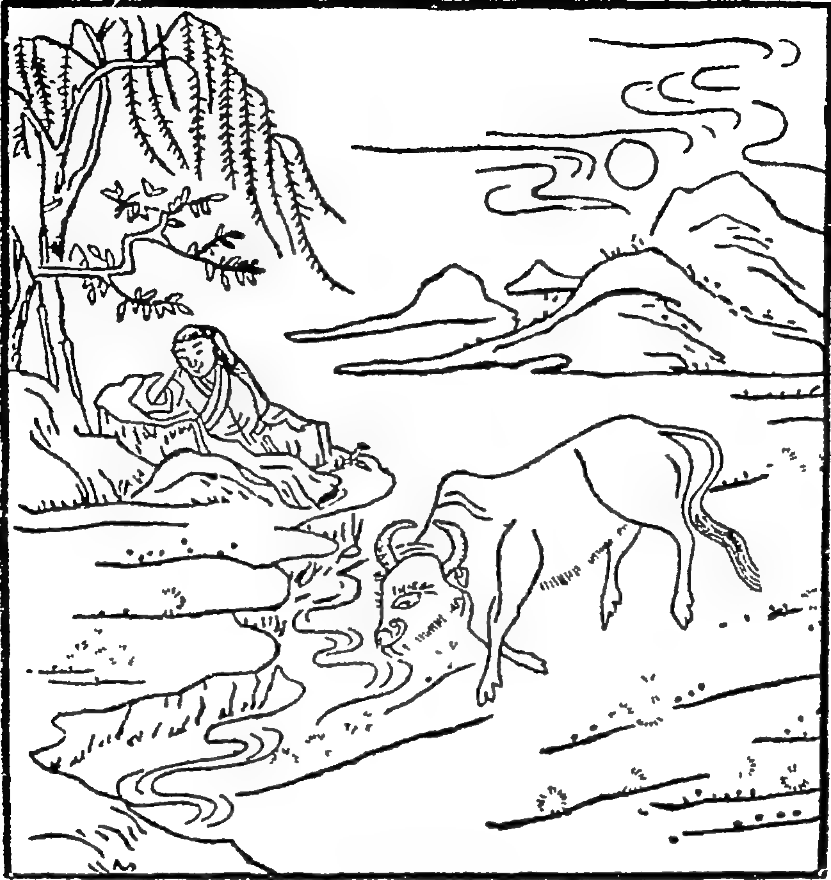
५ पालतू बनाया

हरे बेंत के पेड के नीचे और पुरातन पर्वतीय नदी के किनारे,
अब बैल को स्वतन्त्र रूप से छोड़ दिया गया है, वह अपनी इच्छानुसार कुछ भी करे,
सन्ध्या के समय जब भकभूदरा कोहरा चरागाह पर छा जाता है,
तो बालक (रखवाला) अपने घर की ओर चल देता है और बैल धीरे-धीरे उसका अनुसरण करता है।



६. निर्विघ्न

हरे खेत मे पशु सन्तोषपूर्वक लेटा हुआ है, अपने समय को आराम के साथ गुजारते हुए,
अब किसी कोड़े की आवश्यकता नही रही, किसी नियन्त्रण की जरूरत नही रही,
लडका (रखवाला) भी चीड़ के पेड़ के नीचे बेफिक्री से बैठ जाता है,
शान्तिपूर्वक बांसुरी बजाते हुए, आनन्द से परिपूरित !



७. यथेच्छकारिता

वसन्त ऋतु मे नदी सन्ध्या के प्रकाश मे धीमी-धीमी बहती है और उसके किनारे बेंत के पेड़ो की पंक्तिया फैली हैं,
धुधले वातावरण मे चरागाह की घास और घनी नजर आती है;
जब भूख लगती है तो बैल घास खा लेता है, जब प्यासा होता है तो पानी पी लेता है,
समय मजे मे गुजरता है,
रखवाला घटो तक चट्टान पर बैठा ऊँघता रहता है और उसे कुछ पता नही कि उसके चारो ओर क्या हो रहा है !



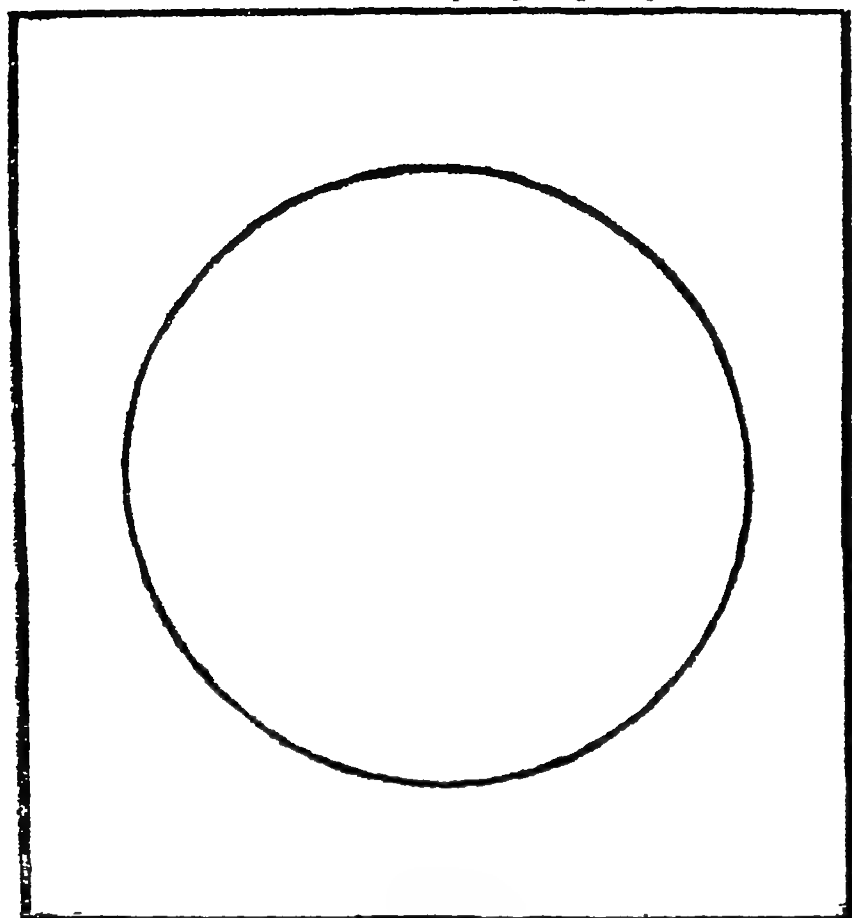
८. सब कुछ भूल गया !

अब पशु पूरी तरह सफेद रंग का हो गया है, उसके ऊपर सफेद बादल छाये हैं;
आदमी पूरी तरह आराम मे है और बिलकुल निश्चिन्त !
चांदनी से बिंधे बादल अपनी सफेद छाया नीचे डाल रहे हैं,
सफेद बादल और चमकती चादनी—दोनों अपने गमन-मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं !



९. एकाकी चांद ।

अब पशु नही रहा, रखवाला अपने आपका स्वामी है,
वह उस एकाकी बादल के समान है, जो पर्वत की चोटियो पर धीमी गति से सचरण करता है,
हाथो से तालियां बजाता हुआ वह चादनी मे आनन्दपूर्वक गाता है,
परन्तु याद रक्खो कि अभी एक आखिरी दीवार उसके घर के मार्ग को रोके हुए है।



१०. दोनों गायब !

आदमी और पशु दोनो गायब हैं, उनके कोई चिह्न बाकी नही रहे,
चमकती चांदनी सूनी और परछाइँ रहित है,
फिर भी अनन्त वस्तुएं उसमे निहित हैं,
यदि कोई इसके अर्थ को पूछे,
तो खेत मे हरी कुमुदिनियो को देखो और इसकी ताजी सुगन्धित हरियाली को !

इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के साधना-क्रम मे मन और व्यक्ति दोनो अन्त मे शून्य मे विलीन हो जाते हैं। परन्तु ककु-आन् द्वारा अंकित चित्रावली मे दसवी तस्वीर का शीर्षक 'आनन्द की वरद मुद्रा मे नगर मे प्रवेश' दिया गया है और उसके नीचे जो कविता दी गई है, वह इस प्रकार है, "खुली छाती और

नगे पैर वह बाजार मे आता है। कीचड और राख मे लिपटा, वह कितना विस्तृत रूप से (मुह चौड़ा कर) मुस्कराता है। देवताओ की विभूति-शक्ति की कोई आवश्यकता नही, देखो, वह छूता है और उकठे हुए पेडो मे वहार आ जाती है।" यह आनन्दवाद की अभिव्यक्ति निश्चयत. शून्यवाद से मानव-मन को अधिक आकर्षित करती है। हैं वास्तव मे दोनो ही एक !

ध्यान-सम्प्रदाय की शिक्षा-पद्धति मे 'को-आन्' का बड़ा महत्व है। 'को-आन्' एक प्रकार की समस्या होती है जिसे गुरु शिष्य को सुलझाने के लिये देता हैं। उदाहरणत: 'दो हाथो को आपस मे मिलाने पर शब्द होता है, एक हाथ का शब्द क्या है ?' यह एक 'को-आन्' है। इसी प्रकार 'इसे डाल दो' यह भी एक 'को-आन्' है। 'जब तुम्हारी लाश जला दी जाय और राख चारो ओर बखेर दी जाय, तब तुम कहा हो ?' यह भी एक 'को-आन्' है। ऐसे सैकडो 'को-आन्' ध्यान-साहित्य मे भरे पडे हैं, जो ध्यानी गुरुओ के अनुभव से निकले हुए हैं, और उन पर मनन करते-करते अन्तर्बोध पैदा होता है जिसे जापानी भाषा मे 'सटोरी' की प्राप्ति कहते हैं। 'सटोरी' एक प्रकार का अन्तर्ज्ञान ही है, सत्य का भासना या उसकी झलक भी उसे हम कह सकते हैं, या साधारण मनुष्य के धरातल पर बोधि की क्षणिक प्राप्ति भी। हम जानते हैं कि बुद्ध भगवान् अपने शिष्यो को ध्यान के विषय (कर्म-स्थान) दिया करते थे, जिन पर चिन्तन और मनन करते हुए उनकी चेतना पर सत्य का अवतरण होता था। आचार्य बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग (तृतीय परिच्छेद) मे चालीस कर्मस्थानो का उल्लेख किया है। परन्तु इनकी सख्या निश्चित नही की जा सकती और बहुत अधिक हो सकती है। स्वय बुद्ध भगवान् ने अनेक भिक्षु और भिक्षुणियो को अवसर और पात्रता के अनुकूल ध्यान के विषय दिये, जिनका परिगणन उपर्युक्त चालीस कर्मस्थानो मे नही है। उदाहरणत. भगवान् ने चूलपन्थक को एक वार एक कपडे का टुकडा देकर उससे कहा था, "अच्छा भिक्षु, इसे हाथ से मलते हुए 'धूल दूर हो जाय' 'धूल दूर हो जाय' ('रजोहरणं, रजोहरण') इस प्रकार वार-वार पाठ करो।" इस प्रकार करते-करते चूलपन्थक को ज्ञान प्राप्त हो गया था। इसी प्रकार बाहिय दारुचीरिय से भगवान् बुद्ध ने कहा था, "देखने मे केवल देखना ही चाहिए, सुनने मे केवल सुनना ही चाहिए।" यह एक ध्यान-विषय ही था और इस पर मनन करके तत्क्षण ही बाहिय दारुचीरिय ने ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसी प्रकार 'थेरीगाथा' मे हम पढते हैं कि बुद्ध ने कई स्थविरियो को उपदेश दिया, जिसे ध्यान का विषय बनाकर उन्होने ज्ञान प्राप्त किया। बुद्ध के द्वारा दिये गये कर्म-स्थान (ध्यान-विषय) वहुत सरल होते थे, उन्ही से चीनी

और जापानी प्रतिभा के अनुकूल 'को-आनो' का विकास हुआ है। और जो 'सटोरी' की विधि है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करते भी हम बुद्ध के अनेक शिष्यो को देखते हैं। एक ध्यानी सन्त (चीनी महात्मा तुग-शन्—८०७-८६९ ई०) को नदी पार करते हुए अपनी परछांही को पानी मे देखकर ज्ञान पैदा हुआ था। यह अनुभव कितना समान है उस स्थविर (वीतशोक) के अनुभव से जिसने एक बार नाई के दर्पण में अपना चेहरा देखकर ज्ञान प्राप्त कर लिया था। एक बुद्धकालीन भिक्षुणी (पटाचारा) के सम्बन्ध मे हम देखते हैं कि वह दीपक की बत्ती को तेल में डुबो रही थी कि अचानक दीपक के बुझ जाने पर उसे अपने चित्त की विमुक्ति का अनुभव हुआ था। इसी प्रकार के अनुभव 'ध्यानी' अभ्यासियो को भी होते हैं। यह अनुभव जापानी भाषा मे 'सटोरी' कहा जाता है और इसे ध्यान के अभ्यास करने वाले कही भी प्राप्त कर सकते हैं। जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय के मन्दिरो मे प्राय. सोलह अर्हतों की मूर्तिया रहती हैं, जिन्होने 'सटोरी' अनुभव प्राप्त किये थे। इनमे अर्हत् भद्रपाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्हे स्नान करते समय 'सटोरी' अनुभव हुआ था। 'ध्यानी' भिक्षु नहाते समय अक्सर इन अर्हत् की स्मृति करते हैं। कामाकुरा के ऐंगाकु-जी नामक ध्यान-मन्दिर मे (निर्माण-काल १२८२ ई०) इन अर्हत् की एक मूर्ति है जो जापान की राष्ट्रीय निधि मानी जाती है।

अब हम ध्यान-सम्प्रदाय की गम्भीर अन्त.साधना से कुछ नीचे उतर कर उसके एक सामाजिक, हल्के पक्ष पर आते हैं जिसका भी अनुष्ठान या व्यवहार ध्यानी साधक करते हैं। वस्तुतः ध्यान-साधना मे भारी या हल्के का भेद ही नही है। उसके लिए जीवन का प्रत्येक व्यापार और प्रत्येक क्रिया गम्भीर से गम्भीर भी है और साथ ही एक बड़ा मज़ाक भी। यही कारण है कि एक ओर गम्भीर ध्यान की साधना है और दूसरी ओर चाय-पान का अनुष्ठान, जिसे जापानी भाषा मे 'चा-नो-यु' कहा जाता है। यह कोई विनोदपूर्ण क्रिया नही है और न कोरा उपचार ही। चाय घनिष्ठ रूप से 'ध्यान' के साथ सम्बद्ध है। एक ध्यानी साधक ने तो यहा तक कहा है कि चाय का स्वाद और ध्यान का स्वाद एक समान है। तत्काल प्रभाव दिखाने वाले ! वह ज्ञान ही क्या जिसका 'युगपद्' अनुभव न हो ? इसीलिये चाय के साथ 'ध्यान'-अनुभव की समानता है। प्रत्येक ध्यान-विहार या ध्यान-चैत्य के अहाते मे एक अलग कागज की बनी झोपडी या कोठरी होती है, जिसे 'शून्यता-कक्ष' कहा जाता है। यही चाय बनाई जाती है और बड़ी सादगी और उपचार के साथ परोसी जाती है। तत्पश्चात् ध्यान किया जाता है। ध्यान-सम्प्रदाय मे कोई कर्मकाण्ड नही

है, परन्तु यदि कोई कर्मकाण्ड है तो यह चाय की रस्म ही है और इसने जापानी संस्कृति मे अपना एक अलग स्थान बना लिया है और उसकी सौन्दर्य-भावना और कला-प्रियता मे वृद्धि की है। चाय और 'ध्यान' का प्रकरण बड़ा मनोरजक और विस्तृत है, परन्तु यहां अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे ही कुछ कहा जा सकता है। ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास के आरम्भ से ही चाय-सस्कार की प्रथा चीन और जापान मे प्रचलित रही है। यहा तक कि चाय की पत्ती की उत्पत्ति तक का सम्बन्ध बोधिधर्म के जीवन से एक कल्पित गाथा द्वारा जोड़ दिया गया है। कहा गया है कि एक बार बोधिधर्म ध्यान मे लीन थे। अचानक उनकी आखो मे झपकी लग गई। तत्काल उस उग्र ध्यान-योगी ने, या कि कहिये हठयोगी ने, अपने पलको को काटकर धरती पर गिरा दिया। वही चाय की पत्तिया बनकर उगे। यही कारण है कि आज भी जो उन्हें पीता है, उसकी आखो मे झपकी नही लगती और वह देर तक ध्यान कर सकता है तथा उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है। इस कथा मे ऐतिहासिक सत्य तो क्या हो सकता है, परन्तु यह ऐतिहासिक रूप से सत्य बात है कि चाय का आविष्कार बौद्ध भिक्षुओ ने पहली-दूसरी शताब्दी ईसवी मे दक्षिणी चीन मे किया था। आठवी शताब्दी ईसवी मे यह उत्तारी चीन मे पहुची और उसी समय तिब्बत मे। जापान मे सन् १२०० ई० मे एक बौद्ध भिक्षु ने ही इसे प्रचारित किया। सातवी-आठवी शताब्दी ईसवी के एक 'ध्यानी' कवि ने 'चा-किङ्' ('चाय-शास्त्र') नामक एक पुस्तक लिखी है, जिसमे उसने चाय के दर्शन और कर्मकाण्ड का पूरा विवेचन किया है। प्रायः इसी समय के एक अन्य 'ध्यानी' कवि ने चाय-पान के सम्बन्ध मे अपने अनुभव को इस प्रकार से वर्णन किया है, "पहला प्याला मेरे होठो और गले मे नमी लाता है। दूसरा प्याला मेरे एकाकीपन को दूर कर देता है। तीसरा प्याला मेरी गहरी अन्तर्सत्ता की खोज करने लगता है।......चौथे प्याले से थोडा पसीना आता है, जीवन का सारा मैल मेरे रोम-कूपो से होकर बाहर निकल जाता है। पाचवे प्याले पर मैं निर्मल हो जाता हू, छठा प्याला मुझे अमरो के लोक का बुलावा देता है। सातवा प्याला—खेद है कि मैं अधिक नही ले सकता! केवल शीतल, मन्द पवन की मैं अनुभूति करता हू, जो मेरी आस्तीनो मे उठती है। स्वर्ग कहा है? क्यो न मैं अब मधुर वायु के इस झोके पर चढकर वहा पहुच जाऊं!" कुछ विवेचको ने ध्यान-सम्प्रदाय के इस चाय-अनुष्ठान मे ताओ-वाद के साथ उसके समन्वय को देखा है और कुछ ने उसके सौन्दर्यशास्त्र की व्याख्या की है। कुछ भी हो, चाय के साथ बौद्ध धर्म के इस सम्प्रदाय को मिलाकर उसके

संस्थापको ने यह निश्चित कर दिया है कि जब तक मध्य और पूर्वी एशिया के लोग चाय की पत्तियों को पीते हैं, तब तक 'ध्यान' के रस को भी वे इसके साथ पीते रहेंगे। इस प्रकार के उपाय-कौशल्य का परिचय बौद्ध धर्म के प्रचारको ने अन्यत्र भी विदेशो मे दिया है और इस प्रकार बौद्ध धर्म के विदेशी रूप को हटा कर उन्होने उसे वहां की जनता का अपना धर्म बना दिया है।

जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय के अनेक विहार और चैत्य हैं, जिनमे से कुछ को तो महान् ऐतिहासिक महत्त्व ही प्राप्त है। क्योतो के म्योशिन्-जी और रोकुयोन्-जी तथा कामाकुरा के ऐंगाकु-जी और केन्शो-जी जैसे ध्यान-मन्दिर तेरहवी-चौदहवी शताब्दियो के बने हुए हैं। अन्य भी अनेक ऐतिहासिक ध्यान-मन्दिर हैं। यहां भिक्षुओं का जीवन अत्यन्त व्यवस्थित रूप से सचालित होता है और ध्यान का नियमित अभ्यास किया जाता है। यहां विद्यार्थियों को शिक्षित किया जाता है, साथ ही शारीरिक श्रम भी उन्हें करना होता है और समाज-सेवा का भी प्रशिक्षण मिलता है। प्रत्येक ध्यान-मन्दिर मे एक अलग ध्यान-भवन होता है जिसे 'ज़ेण्डो' कहा जाता है। बाग और उपवन भी इन ध्यान-मन्दिरों मे होते हैं। साधारण जनता यहा जाती है और शाक्यमुनि की मूर्ति के सामने बैठकर ध्यान (ज़-ज़ेन्) करती हैं। उसे अपने दैनिक जीवन मे प्रयोग करने के लिए मानसिक शान्ति और स्वस्थता यहां मिलती है। औद्योगिक जीवन का भार हल्का होता है। इस प्रकार उच्च साधको और साधारण लोक-समाज, दोनो की आध्यात्मिक शिक्षा और मानसिक शान्ति के लिए महत्वपूर्ण योगदान ध्यान-सम्प्रदाय अपने जीवन्त रूप मे आज जापान में दे रहा है।

पांचवां परिच्छेद

तत्त्वज्ञान

एक प्रसिद्ध ध्यानी सन्त और विचारक ने कहा है, "ध्यान का अनुशीलन करने से पूर्व किसी भी मनुष्य के लिए पर्वत पर्वत हैं और पानी पानी। परन्तु जब वह किसी योग्य गुरु से शिक्षा प्राप्त कर ध्यान के सत्य मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त करता है तो उसके लिए पर्वत पर्वत नही रहते और न पानी पानी। परन्तु इसके बाद भी जब वह वास्तविक रूप से विश्राम मे निवास प्राप्त करता है, तो उसके लिए फिर एक बार पर्वत पर्वत हो जाते है और पानी पानी।" ध्यान-सम्प्रदाय के तत्त्वज्ञान की परिस्थिति का इसे हम पूरा वक्तव्य मान सकते हैं। ससार और परमार्थ मे ज्ञानी के लिए कोई अन्तर नही है और न बन्धन और मोक्ष मे ही। ज्ञानी और अज्ञानी दोनो समान हैं। यही परम ज्ञान है।

हम जानते हैं कि नागार्जुन के शून्यतावादी दर्शन के निष्कर्ष भी यही है। 'माध्यमिक-कारिका' मे उन्होने स्मरणीय शब्दो मे कहा है, "निर्वाणस्य च या कोटि: कोटि: ससरणस्य च। न तयोरन्तर किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।" अर्थात् "निर्वाण की जो कोटि है, वही संसार की कोटि है। इन दोनो मे थोडा भी सूक्ष्म अन्तर नही है।" सावृतिक दृष्टि से जो आवागमन रूपी संसार है, वही पारमार्थिक दृष्टि से निर्वाण है। अभेद का यह दर्शन जिसे हो गया है, उसके लिए भव-सागर सूख गया है, चिर जन्म-मरण की समस्या हल हो गई है। ऐसे पुरुष के लिए न तो फिर ऐसी कोई वस्तु ही रह जाती है जिसका वह ग्रहण कर सके और वह जानता है कि कोई ग्रहण करने वाला भी नही है। चित्त अपने आप शान्त हो जाता है। जो सत् था वह असत् हो जाता है, जो असत् था वह सत् हो जाता है। अद्वय ज्ञान की यह स्थिति जो शून्यता-रूप है, ध्यान-सम्प्रदाय की अपनी है, परन्तु इस पर वह कल्पना या दार्शनिक उड़ान के द्वारा नही पहुचता, बल्कि स्वाभाविक रूप से प्रज्ञा-ज्ञान के द्वारा ही इसका अधिगम उसे होता है और उसका प्रयोग वह अनायास रूप से अपने साधारण दैनिक जीवन मे करता है। ध्यानी साधक का मन किसी भी प्रकार के द्वन्द्व मे, पक्ष-विपक्ष मे, सुख-दु ख मे, लाभ-हानि मे, भले-बुरे मे, फस सके, यह सम्भव नही है।

साधना और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तीन प्रकार की विचारणाएं हमे क्रमिक रूप से बौद्ध धर्म के विकास में मिलती हैं। पहली विचारणा, जो स्थविरवाद या मूल बुद्ध-धर्म की है, इस भव को क्लेश के रूप मे देखती है। इस विचारणा के अनुसार साधक भव मे क्लेश अनुभव करता है, उसमे निर्वेद प्राप्त करता है, तीव्र आध्यात्मिक पुरुषार्थ करता है और भव के निरोध-स्वरूप निर्वाण का साक्षात्कार करता है। इसके बाद दूसरी विचारणा महायान के आरम्भिक विकास मे आती है। इसके अनुसार, साधक भव से, आवागमन से, खिन्न नही होता, बल्कि उसमे रहते हुए और उसके क्लेशो को अनुभव करते हुए अपने मन की साधना करता है और प्राणि-सेवा आदि करते हुए अपने विचारो को बोधि के रूप मे परिवर्तित कर देता है। उत्तरकालीन महायान के विकास मे इससे आगे बढकर यह तीसरी विचारणा आती है कि चित्त के संस्कारों को नष्ट कर देने से बोधि नही मिलती, बल्कि उसका उपाय है मनुष्य की सान्त चेतना का अनन्त बुद्ध-चित्त या बुद्ध-स्वभाव के साथ सीधा अभेद और अद्वैत साक्षात्कार कर लेना। यह अन्तिम विचारणा ध्यान-सम्प्रदाय की साधना और तत्त्वज्ञान से मेल खाती है और ऐसा कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त की साधना भी इसके बहुत समीप है। अनन्त बुद्ध-चित्त या बुद्ध-स्वभाव (जिसे मूल मन, एक मन, मन का सार, निरपेक्ष, अपरिच्छिन्न, मन या तथता भी कहा गया है) और विश्वात्मा या परमात्मा कहने भर को अलग-अलग हैं। वैसे तो अद्वय-ज्ञान में विश्व की सम्पूर्ण विचारणाएं ही परिसमाप्त हो जाती हैं, परन्तु जैसा हम आगे (छठे परिच्छेद मे) देखेंगे, ध्यान-सम्प्रदाय की अद्वय-निष्ठा वेदान्त की अपेक्षा कही अधिक तीव्र और पूर्ण है, उसमे प्राणो की शक्ति भी अधिक है और जीवन और समाज से वह अपेक्षाकृत अधिक सम्बद्ध भी है।

ध्यान-सम्प्रदाय (और सामान्यत: महायान) यह मानता है कि प्रत्येक प्राणी के अन्दर बुद्धता या बुद्ध-स्वभाव विद्यमान है। प्रत्येक प्राणी अपने मौलिक स्वभाव मे बुद्ध है। यह बुद्धता या बुद्ध-स्वभाव, जो प्रत्येक प्राणी के अन्दर विद्यमान है, क्या है? चीनी 'महापरिनिर्वाण-सूत्र' मे कहा गया है कि सब प्राणियो के अन्दर एक ऐसी वस्तु विद्यमान है जो सत्य है, वास्तविक है, शाश्वत है, अपनी ही शक्ति वाली है और सदा अ-विकारी, अ-परिवर्तित है। नित्यत्व, आनन्द और विशुद्धि (विशुद्धि अर्थात् कार्यकारण-भाव और सत्-असत् से अतीत होना) इसके लक्षण हैं। परन्तु साथ ही इसे अन्य दर्शनो मे

प्राप्त 'आत्मा' के विचार से भिन्न बताया गया है।[1] इस बुद्धता या बुद्ध-स्वभाव को साक्षात्कार करना ही ध्यान-सम्प्रदाय का लक्ष्य है। इसे ही बुद्ध होना कहा गया है।

ज्ञानी पुरुष के लिए, ध्यान-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार, यह वस्तु-जगत् असत्य है, अनात्म है, माया है, आकाश-पुष्प के समान है। ज्ञानी इसे अपनी प्रज्ञा से इस रूप मे देखता है। बुद्ध की प्रज्ञापारमिता भी यही है। सत् और असत् के, एक और अनेक के, रूप और अरूप के, ससार और निर्वाण के, विद्या और अविद्या के, अच्छे और बुरे के, पवित्र और अपवित्र के, आत्मा और अनात्मा के, जितने भी द्वैत के रूप हैं जिनका कोई अन्त नही है, उन सबको अतिक्रमण करना ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार वास्तविक ज्ञान है। जब तक हम इन द्वन्द्वो के ससार मे है, सापेक्षता के जाल मे फसे हैं, हमारे लिए कुछ भी सत्य नही है और न हम अपने दुःखो का अन्त ही कर सकते हैं। इसलिये हमे निरपेक्ष सत्यता को साक्षात्कार करने का यत्न करना है। ध्यान-सम्प्रदाय का यह आश्वासन है कि यह सत्यता सर्वथा विविक्त धर्म नही है, बिलकुल अलग और हमसे एकान्त नही है। यह वह अतीत है जो हमारे अन्दर भी है। लंकावतार-सूत्र मे इसे जल मे चन्द्रमा या दर्पण के अन्दर पुष्प के समान बताया गया है।[2] यह अन्दर है, फिर भी बाहर है। यह बाहर है, फिर भी अन्दर है। सत्यता के इस अनुभव को लकावतार-सूत्र 'अनुपलब्ध' बतलाता है, क्योकि इस नानात्मक वस्तु-जगत् मे इसकी उपलब्धि नही हो सकती और इसीलिये यह सापेक्ष वस्तु-जगत् एक स्वप्न है, माया-मरीचिका है। सूक्ष्म सत्यता के साथ जगत् का सम्बन्ध वर्णनातीत है, शब्दो मे कहना मुश्किल है, परन्तु यह अपने रहस्यो को उस व्यक्ति के समक्ष प्रकट कर देता है जिसने

---

१ परन्तु यह बात समझ में नहीं आती। नित्यत्व, आनन्द और विशुद्धि लक्षणों वाले बुद्ध-स्वभाव को वेदान्तिक आत्मा से किस प्रकार भिन्न करना होगा?

२ मिलाइये "जल में व्यव प्रकासै।" कबीर। एक बार पहले भी (तीसरे परिच्छेद में) हमें कबीर के इस वचन की याद आई थी, जब हमने यु गृ-चिआ त-शिह् को यह कहते सुना था, "एक ही चन्द्रमा का प्रकाश पडता है जहा कहीं भी जल का विस्तार है, और जल के अन्दर के सब चन्द्रमा एक ही चन्द्रमा में समाश्लिष्ट हैं।" उत्तरकालीन वेदान्त में, विशेषत उसके ग्रन्थ 'सक्षेप शारीरक' में, प्रतिबिम्बवाद का विवेचन है, जिसके अनुसार ब्रह्म बिम्ब है और यह जगत् उसका प्रतिबिम्ब है। लकावतार-सूत्र शंकर से भी पूर्व का ग्रन्थ है, और यह सम्भव नहीं है कि कबीर ने 'सक्षेप शारीरक' को पढा हो। अत प्रतिबिम्बवाद या तो उन्हें स्वानुभव से मिला, या लकावतार-सूत्र की अ-लिखित परम्परा से।

आर्यज्ञान या आर्यप्रज्ञा के द्वारा उसे पाने का प्रयत्न किया है और वह भी इसे केवल स्वानुभव से ही समझ सकता है। सत्य जगत् की द्वैतपरक व्याख्या मे नही मिल सकता, वह सत् और असत् की सभी कोटियो से अतीत है, यह विचार ध्यान-सम्प्रदाय मे जगह-जगह आता है और उसकी तात्त्विक परिस्थिति का केन्द्र-विन्दु है।

परम सत्य, ध्यान-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार, एक ऐसी वस्तु है जिसकी आरम्भ से ही सदा सत्ता रही है। लकावतार-सूत्र मे इसे 'पूर्वधर्म-स्थितिता' या 'पौराणस्थितिधर्मता' कहकर पुकारा गया है। यह 'धर्मस्थिति' या 'स्थितिधर्मता' आदि काल से है, विलकुल आरम्भ से है। यह परिवर्तन या विकार से अतीत है। ध्यान-सम्प्रदाय कहता है कि यही हमारा आदिम, मूल मुकाम है। जैसे खान मे सोना रहता है, वैसे ही सव बुद्ध यहा विद्यमान हैं। चूंकि यह हमारा आदिम, मूल निवास है, इसलिये यहां पहुचना ही वास्तव मे 'स्वस्थ' होना है, अपने मे स्थित होना है। यहां पहुंच जाने वाले व्यक्ति के सम्वन्ध मे ही यह कहा जा सकता है कि "वह अपने स्थान मे ठहरा हुआ है।" "स्वस्थानेऽवतिष्ठते"। ध्यान-सम्प्रदाय हमे यही पहुंचाना चाहता है, यही उसका गन्तव्य है। जव हम अपने मूल घर को पहुचते है, तो हमे कितनी खुशी होती है और चारों ओर की प्रत्येक वस्तु कितनी चिरपरिचित प्रतीत होती है। परम सत्य का अनुभव भी इसी प्रकार का उल्लासमय होता है। अपने मूल घर पर पहुच जाना और वहा जाकर विश्राम करना—यही ध्यान-सम्प्रदाय का अन्तिम ध्येय है। तृतीय धर्मनायक (सेंग्-त्सन्) ने कितनी सच्चाई और स्वानुभूति के साथ कहा है—

"जव भूततथता के गहरे रहस्य की थाह ले ली जाती है,
तो वाहरी वन्धनो को हम एक दम भूल जाते हैं।
जव दस हजार वस्तुए अपने अद्वय रूप में देख ली जाती हैं,
तो हम अपने मूल उद्गम पर लौट आते हैं,
और वहां निवास करते हैं, जहां हम सदा से हैं।"

यह कितना आश्चर्यजनक है कि तात्त्विक परिस्थिति और अभिव्यक्ति में कुछ भेद होते हुए भी पातजल योग-सूत्र मे इसी प्रकार समाधि की अवस्था मे आत्मा या चितिशक्ति के स्व-रूप मे स्थित होने की अवस्था वर्णित की गई है। "तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।" कवीर साहव ने अपने अन्दर विचार करते-

करते अन्त मे जहा अपना घर बनाया था, (जिसकी ओर इशारा करते हुए वे 'उत घर' कहते हैं और जिसकी तुलना मे इस दुनिया को 'अघर', पर-घर या परदेश बतलाते हैं ('इत अघर'), वह वास्तव मे वही अपना मूल निवास जान पडता है, जहा ध्यान-अनुभव के अनुसार हमे लौटना और विश्राम करना है, इसे प्रपचित करने की यहा आवश्यकता प्रतीत नही होती। 'जहा के सो तहां जाइ' मे यह पूरी तरह स्पष्ट है। सम-रूप 'ध्यान'-वाणी है 'उत्पत्ति को वापिस, मूल उद्गम को वापिस!' कबीर का 'आदि विचार' भी यही है जिसे उनके अनुसार कोई 'बिरला' ही कर सकता है। 'बिरला आदि विचार।' और फिर कबीर और ध्यान-सम्प्रदाय के साधक ही क्या, अपने आदि मे, निज रूप मे, अपने मूल मुकाम मे, तो हम सबको ही, अपने-अपने ढंग से, पहुचना है और वहा जाकर विश्राम करना है, क्योकि वही एक जगह वास्तव मे अपनी है और इस जगत् मे, इस परदेश मे, तो हम अज्ञानवश भटक कर आ गये हैं। मध्य-युगीन उड़िया कवि चैतन्यदास ने (जो बौद्ध धर्म से प्रभावित थे और जिन्होने शून्य को ब्रह्म के पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त किया है) शून्य को साधक का 'निज घर' बताया है। 'शून्य हिं ताहार अठई निज घर।' यह वस्तुतः 'ध्यान' वाणी ही है। तथता, बुद्धता यही है और यही मन का सार भी है।

अब अपने मूल मुकाम, मूल उद्गम, पर पहुचे हुए, शून्य को प्राप्त, ब्रह्म को प्राप्त, व्यक्ति की क्या दशा होती है और संसार को वह किस दृष्टि से देखता है? इसे ध्यानी सन्त हेकुयिन् (१६८५-१७६८ ई०) के शब्दो मे इस प्रकार रखना ठीक होगा :

"यह धरती ही (उसके लिए) पुण्डरीक-लोक बन जाती है,
और यह शरीर ही बुद्ध है!"

छठा परिच्छेद

ध्यान-सम्प्रदाय और भारतीय साधना

बाह्य वस्तुओं से परावृत्त होकर मन जब अन्तर्मुख होता है और गूढ अन्तर्सत्ता की खोजबीन करने लगता है तो यह कार्य पृथ्वी के चाहे जिस खण्ड मे हो और किसी भी समय हो, अपने आरम्भ, विकास और परिणति मे कुछ न कुछ समान नियमो का अनुसरण अवश्य करता है। कम से कम उसकी अनेक समानताएं होती हैं। बाहरी परिस्थितिया भिन्न होती हैं, समाज भिन्न होता है, देश-काल भिन्न होते हैं, परन्तु मूल अनुभव एक होता है। इसीलिये आध्यात्मिक अनुभव या गूढवाद का कोई समाज नही होता, भूगोल नही होता, इतिहास नही होता, विशिष्ट संस्कृति नही होती। आध्यात्मिक अनुभवो को समझने और उनको एक दूसरे से मिलाने मे यदि इस एक बात को हम ध्यान मे रक्खें तो किसी एक साधना-प्रणाली पर दूसरी के ऋण को दिखाने की उतावली हम नही कर सकते। अनुभव पर किसी का आयत्त नही है। जिसके हृदय मे वह होता है, उसका वह है। तुलनात्मक पौर्वापर्य स्थापित करना चाहे इतिहास का काम भले ही माना जाय, परन्तु उससे साधना मे तिल भर भी सहायता मिल सकेगी, ऐसी आशा नही की जा सकती। फिर भी इतिहास की हम सर्वथा उपेक्षा भी नही कर सकते। उसको स्वीकार करके ही और उसके योगदान को महत्वपूर्ण मानकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। इतिहास देश और काल तथा कार्यकारणभाव पर टिका है। यह ठीक है कि उसका लोक अधिकतर कामना-लोक है और उसका घात-प्रतिघात सब कामना-जनित है। फिर भी सामाजिक धरातल पर, सामूहिक रूप मे, कर्म-फल का नियम उसमे प्रतिफलित है। इसलिये उसका समझना कभी-कभी साधको के लिए भी आवश्यक और महत्वपूर्ण हो जाता है। इतिहास के घटना-प्रवाह और उसमे निहित कारण-कार्य-शृखला को देखकर मन मे स्वाभाविक रूप से निर्वेद पैदा होता है, जिससे आगे स्थिति विराग और विशुद्धि की है। इस प्रकार सारा इतिहास अनित्यता पर प्रवचन बन जाता है। व्यक्तिगत और सामूहिक रूप मे वह मनुष्य-समाज मे कर्म-फल का निर्मम उपदेष्टा है। इस दृष्टि से वह साधना मे सहायक भी हो सकता है।

'ध्यान' और बौद्ध धर्म

ध्यान-सम्प्रदाय मूलत एक भारतीय साधना थी। अत उसके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होना अनिवार्य है। बौद्ध धर्म का तो वह एक सम्प्रदाय ही है। बौद्ध धर्म—महायान बौद्ध धर्म—के इस सम्प्रदाय का सम्पूर्ण बौद्ध धर्म की रूपरेखा मे क्या स्थान है, मूल बुद्ध-धर्म की साधना के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, उसके ध्यान से इसके ध्यान की क्या समानताए या असमानताए हैं, बुद्ध की मूल शिक्षाओ के सरक्षण के साथ-साथ इसमे क्या नयी प्रतिक्रियाए भी सन्निहित हैं और किस प्रकार एक भिन्न मानसिक बनावट वाली जाति के द्वारा बुद्धानुभव को अपने अनुकूल बनाने का यह प्रतिफलन है, आदि प्रश्न महत्वपूर्ण है और स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा रखते है। यहा केवल इतना कहा जा सकता है कि ध्यान-सम्प्रदाय मे बौद्ध धर्म का सार या हृदय रक्खा हुआ है, क्योकि यह उसके अनुभव-पक्ष का विकास है। बुद्ध ने क्या कहा, इस पर यहा जोर नही है। बुद्ध ने बोधि-वृक्ष के नीचे और अपने शेष जीवन मे क्या अनुभव किया, इसे वह स्वयं अपने हृदय मे, मन मे, अनुभव करना चाहता है। इसलिये वह बुद्ध-ज्ञान का सीधा सप्रेषण है। इसीलिये उसे 'बुद्ध-चित्त सम्प्रदाय' या तथागत का 'हृदय' भी कहा गया है। ध्यान-सम्प्रदाय मानता है कि बुद्ध-धर्म का सार अपने मन को पहचान कर बुद्धत्व प्राप्त कर लेना है। अतः उसमे बौद्ध धर्म की साधना का चरम विकास हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है।

बुद्ध ने धर्म या सत्य को 'प्रत्यात्मवेदनीय' कहा था। 'पच्चन्तवेदनीयो धम्मो।' उनका कहना था कि धर्म का अनुभव प्रत्येक शरीर मे होना चाहिये। ध्यान-सम्प्रदाय इसी को लेकर चलता है। ध्यानी साधक का हृदय ही बुद्ध का हृदय है और वही बोधि का साक्षात्कार होना चाहिये। यदि ऐसा नही होता तो शाक्यमुनि की ऐतिहासिक बोधि-प्राप्ति हमारे किसी काम की नही है। बुद्ध जब तक बाहर के हैं, वे इतिहास के हैं, परन्तु जब हम उन्हे अपनी आत्मा मे पैंठा लेते हैं तो वे हमारे अपने बन जाते हैं, आध्यात्मिक बन जाते हैं। ध्यान-सम्प्रदाय के बुद्ध यह आध्यात्मिक बुद्ध ही है। इसी उद्देश्य को सामने रखकर ध्यान-सम्प्रदाय के आधारभूत ग्रन्थ 'लकावतार-सूत्र' मे तथा महायान के अन्य सामान्य ग्रन्थो मे शाक्यमुनि के ऐतिहासिक अस्तित्व और उनके ऐतिहासिक उपदेशो तक का निषेध कर दिया गया है। कहा गया है कि "बुद्ध-वचन वचन ही नही हैं" ("अवचनं बुद्धवचनमिति") और बोधि-प्राप्ति से लेकर निर्वाण मे प्रवेश करने के समय तक तथागत ने कही किसी को कोई उपदेश नही दिया। "यस्या रात्र्यामधिगमः यस्या च परिनिर्वृत्ति। एतस्मिन्नन्तरे नास्ति मया किंचित् प्रकाशितम्।" ये वाणिया

अन्दर के बुद्ध के रहस्य को समझने और प्रज्ञा की गहरी अगमता को दिखाने के लिए ही कही गई हैं। हुइ-नेंग् ने इसी तत्व को समझाते हुए एक ऐसे व्यक्ति से, जिसने अनेक वार सद्धर्म-पुण्डरीक-सूत्र को पढा था, परन्तु जिसे उसका वास्तविक मर्म प्रकट नही हुआ था, कहा था, "यदि तुम केवल इतना विश्वास कर सको कि बुद्ध कोई शब्द नही बोलते, तो 'पुण्डरीक' स्वय तुम्हारे मुख मे ही खिलेगा !" बौद्ध साधना ध्यान-सम्प्रदाय मे आकर पूरी तरह अन्तर्मुखी और अ-शब्द बन गई है।

भगवान् बुद्ध ने एक बार कहा था कि 'मैं वेडे की तरह पार होने के लिए धर्म का उपदेश करता हू, पकड कर रखने के लिए नही।" "कुल्लूपमं खो भिक्खवे धम्म देसिस्सामि सन्तरणट्ठाय नो गहणट्ठाय।" ध्यान-सम्प्रदाय मे बुद्ध के धर्म के इस स्वरूप को जितना अच्छी प्रकार समझा गया है, उतना बौद्ध धर्म के अन्य किसी सम्प्रदाय मे नही। वह अपने उपाय-कौशल्य से नाव बनाता है और उतनी ही कुशलता से पार हो जाने के बाद उसे छोड भी जाता है। यही कारण है कि कुछ पहुचे हुए ध्यानी सन्तो ने सूत्रो और शास्त्रो के पठन-पाठन और स्वय बुद्ध के 'शरीर' (मूर्ति आदि) आदि के सम्बन्ध मे भी मौज मे आकर ऐसी बाते कह दी हैं या उनके प्रति ऐसा व्यवहार प्रकट कर दिया है जो प्रारम्भिक विद्यार्थियो को उनका उपहास जैसा या श्रद्धा के अभाव का द्योतक जैसा लगता है। परन्तु बात इसके बिलकुल विपरीत है। उनके जैसी बुद्ध के ज्ञान की उच्चता और उनके प्रति उच्च निष्ठा दिखाने वाली कोई वस्तु ही वास्तव मे सम्पूर्ण बौद्ध धर्म मे नही है और स्वय बुद्ध के उपदेशो और आदेशो के वह अनुगत भी है।

पालि साहित्य से ही कुछ उदाहरण ले। वक्कलि बुद्ध के रूपकाय मे अनुरक्त था। उससे बुद्ध ने यही कहा कि जिस प्रकार उसका शरीर गन्दगी से भरा है, उसी प्रकार उनका (बुद्ध का) शरीर भी है। फिर उसे देखने से क्या लाभ ? तथागत के धर्मकाय को देखना चाहिये, जो उनका वास्तविक रूप है। "जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है; जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।" जहा धर्म या धर्मकाय से अलग तथागत को देखते, किसी को भी ध्यान के स्वामी देखते हैं, उस पर अपना डडा लेकर पिल पडते हैं। इसमे वे (अपने ढंग से) बुद्ध के शासन का अनुसरण ही करते है। एक दूसरा उदाहरण लें। बुद्ध के परिनिर्वाण के समय उनके सभी शिष्य उनके दर्शनार्थ आ रहे थे। परन्तु एक शिष्य एकान्त गुफा मे जाकर ध्यान लगा रहा था। वह दर्शनार्थ नही आया था। जब कुछ अन्य शिष्यो ने उसकी शिकायत-सी करते हुए यह बात

शास्ता के सामने कही तो उन्होने उन सबको उस एकान्त ध्यानी शिष्य का ही अनुसरण करने को कहा और उसे ही अपने शासन का सर्वोच्च अभ्यासी बताया। बुद्ध के रूपकाय के प्रति श्रद्धा भी आवश्यक है, परन्तु ध्यान उससे उच्चतर कर्तव्य है। ध्यानी सन्त धक्का-सा देते हुए कभी-कभी इस सत्य को हमारे हृदय के ऊपर उतारना चाहते हैं।

यही बात शास्त्रो और सूत्रो के महत्व के सम्बन्ध मे भी है। कभी-कभी वे इसका तिरस्कार कर देते है। वह भी केवल धक्का देने के लिए। वैसे स्थविर-वाद की साधना तक मे भी धार्मिक ग्रन्थो के पठन-पाठन का गौण और प्राथमिक महत्व ही स्वीकृत है। सयुत्त-निकाय के सज्झाय-सुत्त मे हम एक ऐसे भिक्षु को देखते हैं जो पहले बहुत स्वाध्याय किया करता था और 'धर्मपदो' को पढा करता था, परन्तु अब उसने ऐसा करना छोड़ दिया है। जब उससे इसका कारण पूछा जाता है, तो वह कहता है कि जब तक उसे वास्तविक वैराग्य नही हुआ था तब तक उसका मन 'धर्मपदो' को पढने की ओर लगा रहता था, परन्तु अब उसे इसकी आवश्यकता नही रह गई है। सचमुच ऐसा लगता है कि यह भिक्षु तो 'ध्यान' का विद्यार्थी ही था। हम पहले (तीसरे परिच्छेद मे) युग्-चिआ त-शिह् (जापानी भाषा मे उच्चारण 'योका डेशी') के 'बोधि-गीत' का परिचय दे चुके हैं। उसकी पहली ही पक्तिया हैं, "क्या तुम ध्यान के इस विद्यार्थी को देखते हो ? वह सब कुछ भूल चुका है, जो उसने याद किया था···।" ऐसा लगता है कि योका डेशी का यह ध्यान का विद्यार्थी कही सज्झाय-सुत्त का उपर्युक्त भिक्षु ही तो नही है ? बौद्ध धर्म सर्वत्र एक है और उसका रस सर्वत्र एक है—विमुक्ति-रस। ऐसे अनेक उदाहरण है जिनसे विदित होता है कि अनुभवहीन विद्वानो से बुद्ध उनका अधिक आदर करते थे जिनमे विद्वत्ता भले ही न हो, पर अनुभव हो। धम्मपदट्ठकथा मे एक कथा है कि एक बार दो मित्रो ने बुद्ध की शरणागति ली। उनमे से एक वृद्ध था और पढ लिख नही सकता था। उसे बुद्ध ने ध्यान की विधि बतला दी और उस पर चलते हुए उसने अर्हत्व का साक्षात्कार कर लिया। दूसरा विद्वान् था। उसने सम्पूर्ण बुद्ध-वचनो को याद कर लिया और एक महान् उपदेशक बन गया। एक दिन यह विद्वान् भिक्षु अपने वृद्ध मित्र से मिलने गया। बुद्ध समझ गये कि यह पण्डित भिक्षु अपने साथी वृद्ध भिक्षु को झमेले मे डालेगा। इसलिये वे स्वय भी वहा पहुच गये। बुद्ध ने पहले पण्डित भिक्षु से दार्शनिक महत्व के कुछ प्रश्न पूछे जिनके उसने सन्तोषजनक उत्तर दे दिये, परन्तु जब बुद्ध ने उससे 'मार्ग' के सम्बन्ध मे तथा स्रोत आपन्न होने के समय के अनुभव के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछे तो वह उत्तर न दे सका, क्योकि

इनका कोई व्यक्तिगत अनुभव उसे नही था। परन्तु जब वही प्रश्न बुद्ध ने उस अपढ वृद्ध भिक्षु से पूछे तो एक के बाद एक वह उनके सीधे उत्तर दे गया, क्योकि उसे केवल उन अवस्थाओ को ही तो बतलाना था जिनमे होकर वह स्वय गुजर चुका था और जिनका उसे अपने प्रत्यक्ष अनुभव से ज्ञान था। बुद्ध ने इस अपढ वृद्ध भिक्षु की प्रशंसा की। इस पर जब पण्डित भिक्षु के शिष्य कुछ खिन्न होने लगे तो बुद्ध ने उनसे कहा—तुम्हारा गुरु उस व्यक्ति के समान है जो दूसरो की गायें चराता है और यह अपढ़ भिक्षु उसके समान है जिसकी अपनी गाये हैं और जो पंच गोरसो का सेवन करता है। इस प्रकार बुद्ध-शासन मे अनुभव विद्वत्ता से सर्वत्र बडा है। एक उदाहरण और लें। चूल पन्थक चार महीने मे भी एक गाथा याद नही कर सका था, परन्तु उसे आश्वासन देते हुए बुद्ध ने उससे कहा था, "पाठ नही कर सकने के कारण मेरे शासन मे कोई अयोग्य नही होता।" बुद्ध ने उसे सरल ध्यान-विधि बताई, जिसके परिणाम-स्वरूप उसने ज्ञान प्राप्त किया। बुद्ध अपने इस शिष्य का बडा आदर करते थे। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय जो शास्त्रीय पठन-पाठन को अधिक महत्व नही देता, तो यह बुद्ध-शासन के अनुगत ही है और अनुभव को प्रथम स्थान देने के कारण ही है। छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् के शब्दो को हम यहां उद्धृत किये बिना नही रह सकते। उन्होने कहा है कि, "जो अपने मन को नही जानता, उसके लिए बौद्ध धर्म को सीखने का कोई उपयोग नही है।" ध्यानी साधक इसी बात पर जोर देते हैं कि सबसे पहले हमे अपने मन या स्व-भाव को जानना चाहिये। फिर सब ग्रन्थो की संगति लग जायगी, सब शास्त्र समझ मे आ जायेंगे। 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' को लक्ष्य कर हुइ-नेंग् ने सम्पूर्ण शास्त्रो के ही प्रति ध्यान-सम्प्रदाय की दृष्टि को कितनी अच्छी प्रकार व्यक्त कर दिया है, जबकि उन्होने तीन हजार बार इस सूत्र का पाठ करने वाले और फिर भी इसका मर्म न समझने वाले एक भिक्षु से अपनी अपूर्व व्यंजनात्मक भाषा मे कहा कि जो व्यक्ति बिना अर्थ को समझे पाठ करता है, वह सूत्र के द्वारा 'घुमाया जाता है', परन्तु अभ्यास के साथ-साथ पाठ करने वाला व्यक्ति स्वयं सूत्र को 'घुमाता है।'

"जब हमारा मन मोह के अधीन होता है, तो
'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' हमें घुमाता है;
परन्तु प्रबुद्ध मन से हम स्वय 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' को घुमा देते हैं।"

ऐसा लगता है कि हुइ-नेंग् (६३८-७१३ ई०) के समय मे ही कुछ छिछले ध्यानी लोग अनुचित रूप से शास्त्रो और सूत्रो की अवहेलना करने लगे थे और

इनको महत्व देने वाले लोगो को वे 'शास्त्रीय अधिकार के नशे के आदी' बताते थे। हुइ-नेंग् इस प्रवृत्ति को अच्छा नही मानते थे, ऐसा उन्होने अपने शिष्यो को दिये गये अन्तिम निर्देशो मे स्पष्ट कर दिया है। ऐसे लोगो की भर्त्सना करते हुए उन्होने अपने शिष्यो से कहा, "तुम लोगो को जानना चाहिये कि सूत्रो की बुराई करना एक गम्भीर अपराध है और इसका दुष्परिणाम सचमुच बडा भयकर होगा।"[1]

भारतीय विधि से आसन लगाकर ध्यान करना उपयोगी है और ध्यानी साधक उसका उपयोग करते हैं। स्वयं छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्) को (जिन्होने ध्यान-सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट चीनी रूप दिया) हम एक बार प्रवचन आरम्भ करने से पूर्व अपने श्रोताओ से यह कहते देखते है, "अब हम भारतीय विधि से बैठे।"[2] परन्तु यह भी निश्चित है कि ध्यान के लिए वे इसे अनिवार्य नही मानते थे। एक बार जब उनसे इस सम्बन्ध मे पूछा गया तो उन्होने अपनी विलक्षण शैली मे कहा, "जिन्दा आदमी बैठता है और (सब समय) लेटता नही। मुर्दा लेटता है और बैठता नही। अपने इस भौतिक शरीर पर हम पालती मारकर बैठने का भार डालकर क्यो उसे पीडित करें?" इसमे बुद्ध-शासन के विपरीत कुछ नही है। किसी भी अवस्था मे हो, चित्त एकाग्र होना चाहिये, क्योकि चित्त को ही सत्य का साक्षात्कार करना है। इस सम्बन्ध मे उपदेश देते हुए हुइ-नेंग् कहते हैं, "धर्म का साक्षात्कार मन को करना होता है और यह आसन मारकर बैठने की स्थिति पर निर्भर नही करता।" यह उल्लेखनीय है कि ध्यान की उत्तरी शाखा या 'क्रमवृत्य' सम्प्रदाय (जिसके प्रवर्तक हुइ-नेंग् के गुरु भाई भिक्षु शेन्-सिउ थे) आसन लगाकर ध्यान करने पर कुछ अधिक जोर देता है। कुछ भी हो, सब समय आसन लगाकर बैठना ध्यान का पर्याय नही होता, इसे समझाने के लिए ध्यानी सन्त कभी-कभी हमारी पीठ पर तडाक से डंडा जमाने के लिए तैयार खडे दिखाई देते हैं और कभी-कभी सिर्फ आसन लगाने वालो को आश्रम से बाहर भी निकाल देते हैं, क्योकि उनका कहना है कि ऐसे आसन लगाये तो पत्थर की मूर्तिया ही उनके यहा अधिक है।[3]

जैसा हम पहले कह चुके हैं, ध्यान-सम्प्रदाय मूलत· एक भारतीय साधना थी। परन्तु उसका विकास चीन और जापान मे हुआ। अत· इन देशो की प्रकृति

१ दि सूत्र ऑव वे लेंग् (हुइ-नेंग्), पृ० ११३।

२. वहीं, पृ० ५३।

३. ध्यानी गुरु ववजन् (१२७७-१३६० ई०) ने इसी प्रकार फटकार कर एक आगन्तुक भिक्षु को आश्रम से बाहर निकाल दिया था।

के अनुकूल उसमें अनेक परिवर्तन हुए। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय को हम भारतीय धर्म-साधना का, पूर्वेशिया की प्रकृति के अनुरूप, मनोवैज्ञानिक परिणाम ही कह सकते हैं। यह अक्सर कहा जाता है कि हुइ-नेंग् ने ध्यान-सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट चीनी स्वरूप प्रदान किया। यह कहना इस अर्थ मे ठीक है कि हुइ-नेंग् ने ध्यान-सम्प्रदाय को चीन का अपना धर्म बना दिया और उसके सम्बन्ध मे लोगो की यह धारणा न रही कि यह कोई विदेशी धर्म-साधना है। इसका कारण यह था कि हुइ-नेंग् पूरे अर्थों मे एक अनुभव-सम्पन्न महात्मा थे और उन्होने चीनी मानस की पूरी भूमिका मे ध्यान-सम्प्रदाय की व्याख्या की, जिससे चीनी जनता के हृदय मे ध्यान-सम्प्रदाय ने जड़ें जमा ली और वह उनकी अपनी साधना-विधि बन गई। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय के इस चीनीकरण की विधि मे भारतीय तत्व सर्वथा नि शेष नही किये गये और न भारतीय बौद्ध धर्म के साथ उसका सम्बन्ध ही विच्छिन्न हो गया। ऐसा समझना गलत होगा। स्वयं हुइ-नेंग् ने 'मच-सूत्र' मे यह स्वीकार किया है कि जो कुछ उन्होंने सिखाया है, वह सब बोधिधर्म के द्वारा सिखाये गये मूल सिद्धान्त ही हैं। इसी 'सूत्र' मे उन्होंने और भी स्पष्टतापूर्वक जोर देते हुए कहा है कि "यह उपदेश अतीत के धर्मनायको की परम्परा से चला आया है और यह कोई मेरे द्वारा आविष्कार किया हुआ सिद्धान्त नही है।" इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ध्यान-सम्प्रदाय का जैसा उपदेश हुइ-नेंग् ने दिया उसमे मूल भारतीय धारा से कोई आधारभूत परिवर्तन नही किये गये थे, भले ही उसमे चीनी मानस के अनुकूल बनाने के लिए चीनी सास्कृतिक तत्वो का सम्मिश्रण किया गया हो, जो अनिवार्य था। छठे धर्मनायक ने अपने द्वारा भाषित 'सूत्र' मे जगह-जगह 'विमलकीर्ति-निर्देश सूत्र' और 'बोधिसत्त्व-शील-सूत्र' जैसे महायान-सूत्रो से उद्धरण दिये हैं और "वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता के तो वे एकान्त भक्त थे ही। एक बार किसी आगन्तुक ने, जो कुछ शंकाओ के समाधान के लिए हुइ-नेंग् के पास आया था, हुइ-नेंग् की एक व्याख्या को सुनकर यह मत प्रकट किया कि उन्होंने 'सूत्र' के विपरीत व्याख्या की है, इस पर हुइ-नेंग् ने उससे कहा था, "मैं ऐसा करने का साहस नही कर सकता, क्योकि मैं बुद्ध भगवान् की हृदय-मुद्रा का उत्तराधिकारी हूं।"[1] अत चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय की वास्तविक रूप से जड़ जमाने वाले और उसे चीनी साधको की अपनी साधना बनाने वाले अनुभवी महात्मा हुइ-नेंग् पूर्वकाल से चली आती हुई ध्यान-परम्परा के एक विनम्र अनुगामी थे

---

[1] दि सूत्र ऑव वे-लॅंग् (हुइ-नेंग्), पृष्ठ ६६।

और उससे अलग जाना ठीक नही समझते थे, ऐसा उनके द्वारा भाषित 'सूत्र' से स्पष्ट प्रकट होता है। हुइ-नेंग् के शिष्य युग्-चिआ त-शिह् (जापानी भाषा मे योका डेशी) ने भी साक्ष्य दिया है कि सोकी (हुइ-नेग् का निवास-स्थान) मे जिस ज्ञान को उन्होने पाया, वह "बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म के अलावा और कुछ नही है।" अत. हुइ-नेग् के बाद ध्यान-सम्प्रदाय मे चीनी मनोविज्ञान के अनुकूल जो भी परिवर्तन हुए, वे वहा बुद्ध-शासन की चिरस्थिति के लिए महत्व-पूर्ण थे, परन्तु साथ ही मूल परम्परा से वह विच्छिन्न हो गया हो, ऐसा नही कहा जा सकता। बुद्ध-धर्म मे अपूर्व निष्ठा दिखाते हुए युग-चिआ त-शिह् (योका डेशी) ने ही कहा है "चाहे सूर्य ठण्डा हो जाय और चन्द्रमा गरम, परन्तु कोई असुर या राक्षस बुद्ध-धर्म के परम सत्य को नष्ट नही कर सकता।" बुद्ध-धर्म से अलग करके ध्यान-सम्प्रदाय को देखना वस्तुत. भारी मूर्खता ही है।

ध्यान-सम्प्रदाय के कुछ सन्तो ने कही-कही ऐसी बातें अवश्य कह दी हैं, जो यह भ्रम पैदा करती है कि कदाचित् धर्म—बौद्ध धर्म—को भी उन्होने कही छोड़ तो नही दिया है। उदाहरणतः तग् काल का एक ध्यानी भिक्षु (जोशु—७७८-८९७ ई०) कहा करता था कि "यदि तुम 'बुद्ध' शब्द का उच्चारण करो तो उसके बाद अपने मुह को अच्छी तरह से धो डालो।" इसी प्रकार एक अन्य भिक्षु कहता था, "मैं एक शब्द बिलकुल नही सुनना चाहता, वह है 'बुद्ध'।" इसी प्रकार एक अन्य ध्यानी सन्त (त-कुआन्) का प्रकरण है। एक बार इस ध्यानाचार्य से एक भिक्षु ने पूछा, "क्या आप कभी 'बुद्ध' नाम का जप करते हैं ?" "नही, कभी नही !" "क्यो नही करते ?" "क्योकि मुझे भय है कि कही मेरा मुह गन्दा न हो जाय ?" एक अन्य विनोदी ध्यानी सन्त ने अपने शिष्य से कहा था, "जहां बुद्ध हो, वहा से होकर जल्दी गुजर जाओ; जहा बुद्ध न हो, वहा मत ठहरो।" ये मन की मौजें हैं जिनमे ध्यान का चरम लक्ष्य तो निहित है ही, सन्तो के मौजी स्वभाव की भी ये वाणियां द्योतक हैं। वे यहा दक्षिण दिशा मे ही 'उत्तरी ध्रुव' को दिखाना चाहते हैं। यह भी कहना चाहते हैं कि अपनी सब बाधाओ को हटा दो, किसी बाधा को अपने मार्ग को अवरुद्ध न करने दो। परन्तु कुछ विद्वानो ने सोचा है कि यहा चीनी मानस बौद्ध धर्म के प्रति विद्रोह कर रहा है।[1] यह ठीक नही है। चीनी मानस बौद्ध धर्म के प्रति विद्रोह नही कर रहा, वह शाक्यमुनि की उन शिक्षाओ का सर्वोत्तम रूप से अनुगमन कर रहा है, जो

---

१. डा० हु-शिह् का मत तो है कि सम्पूर्ण ध्यान-सम्प्रदाय ही बौद्ध धर्म के प्रति चीनी विद्रोह है। यह मत ठीक नहीं है।

मज्झिम-निकाय के कुल्लूपम-सुत्तन्त में निहित हैं, जहां बुद्ध ने कहा है कि प्रयोजन पूरा होने के बाद धर्म को भी छोड़ा जा सकता है, अधर्म की तो कोई बात ही नही। चतुर्थ परिच्छेद में हम देख ही चुके हैं कि जापान के प्रत्येक ध्यानागार मे बुद्ध के 'शरीर' की पूजा की जाती है, उनको श्रद्धापूर्वक नमन किया जाता है और यह विश्वास प्रकट किया जाता है कि बिना बुद्ध की शक्ति के हम इस भव-सागर को पार नही कर सकते। ध्यान की साधना मे अनेक साधक बुद्ध के नाम का जप करते हैं और इस प्रकार 'सटोरी'-अनुभव प्राप्त करते हैं, यह भी हम चतुर्थ परिच्छेद मे देख चुके हैं। भला बुद्ध का निराकरण भी क्या बौद्ध धर्म के किसी सम्प्रदाय मे सम्भव है ? ध्यान-सम्प्रदाय मे तो बिल्कुल भी नही। आधुनिक काल के सम्भवतः सबसे बड़े ध्यानी चीनी महात्मा और उपदेशक ह्सु-युन् (जिनका देहान्त अभी सन् १९६० मे १२० वर्ष की आयु मे हुआ है) बुद्ध के नाम के जप का उपदेश देते थे। जब उनसे कोई पूछता कि ध्यान-सम्प्रदाय क्या है, तो वे उत्तर-स्वरूप कहते थे "कौन मेरे सामने बुद्ध का नाम ले रहा है ?" अनेक ध्यानी सन्त बुद्ध के नाम का जप करते हैं। अतः बुद्ध या बौद्ध धर्म का निराकरण ध्यान-सम्प्रदाय मे हुआ है, ऐसा सोचना भारी मूर्खता है। हां, यह बात अवश्य है कि अनासक्ति का पूर्ण अभ्यास ध्यानी सन्तों ने किया है, शून्यता को पूरे रूप मे समझा है, इसलिये द्वन्द्व की भाषा को समझने मे अभ्यस्त साधारण लोगो के लिए उनके प्रतीयमान विरोधी कथनो को समझना सदा सम्भव नही होता। हमे यह समझ ही लेना चाहिये कि ध्यानी सन्त जब 'पूर्व' कहते हैं तो उसका अर्थ 'पूर्व' नही होता और जब वे 'पश्चिम' कहते हैं तो उसका अर्थ 'पश्चिम' नही होता। जैसा हम अभी कह चुके हैं, वे हमे दक्षिण की ओर मोड़ते हैं और वही उत्तरी ध्रुव दिखाना चाहते हैं। सत् और असत् के अद्वैत को न समझने के कारण ही ध्यान-सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे भ्रान्ति हो गई है, जिसका निराकरण आवश्यक है।

बौद्ध आचार-तत्व का निराकरण ध्यान-सम्प्रदाय मे नही है, बल्कि शून्यता के उच्चतर सत्य के प्रकाश मे उसे देखने का प्रयत्न है। बोधिधर्म और चीनी सम्राट् वू-ति के सलाप से यह बात प्रकट हो जाती है। शेन्-सियु के ऊपर हुइ-नेंग् को जो तरजीह दी गई, उसका भी कारण यही है। एक हृदय को दर्पण की तरह साफ रखने पर जोर देता था, दूसरे ने सहज रूप से अनुभव कर लिया था कि शून्यता को जब देख लिया जाय तो दर्पण पर मैल जम ही कैसे सकता है ? ध्यान-सम्प्रदाय उसी तरह काय-विशुद्धि और चित्त-विशुद्धि का अभ्यास करता है जैसे कि स्थविरवाद या बौद्ध धर्म के अन्य

सम्प्रदाय। वह केवल शून्यता-ज्ञान या अद्वय-ज्ञान के प्रकाश मे उसे एक मस्ती भरी अभिव्यक्ति और प्रदान कर देता है, यह उसकी विशेषता है। ध्यान-सम्प्रदाय मे सत्य-प्राप्ति की प्रक्रिया को लेकर 'युगपद्' और 'क्रमवृत्य', ये दो विचारणाए प्रचलित हैं, यह हम पहले (द्वितीय परिच्छेद मे) देख चुके हैं। यहां यह कह देना अप्रासगिक न होगा कि बुद्ध-धर्म के मूल रूप मे इन दोनो प्रक्रियाओ की ही स्वीकृति है। मज्झिम-निकाय के 'गणक-मोग्गल्लान-सुत्तन्त', 'रथविनीत-सुत्तन्त', 'चूल-राहुलोवाद-सुत्तन्त' तथा पालि त्रिपिटक के अन्य अनेक अशो से यह प्रकट होता है कि बुद्ध के धर्म मे क्रमिक शिक्षा (अनुपुब्बसिक्खा) तथा क्रमिक साधना (अनुपुब्बकिरिया) का विधान था। बुद्ध क्रमश मुक्ति सिखाते थे और उनके मार्ग मे साधक क्रमश प्रगति करता था। "पापुणे अनुपुब्बेन सब्बसयोजनक्खय"[1] परन्तु साथ ही बाहिय दारुचीरिय जैसे बुद्ध के अनेक शिष्य भी थे, जिन्होने बुद्ध से उपदेश सुनकर तत्काल ही ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बाहिय दारुचीरिय को तो "क्षिप्र अभिज्ञा प्राप्त करने वालो मे श्रेष्ठ" ('खिप्पाभिञ्ञाण अग्गो') ही कहा गया है। इस प्रकार आकस्मिक ज्ञान-प्राप्ति का भी पूरा विचार यहा रक्खा हुआ है। राहुलोवाद-सुत्त (चूल-राहुलोवाद-सुत्तन्त) का उपदेश सुनते ही राहुल को अर्हत्व की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु इस सुत्त का उपदेश ही बुद्ध राहुल को तब देते हैं जब उसके लिए उनकी पूरी तैयारी वे देख लेते हैं। अतः क्रमिक अभ्यास और आकस्मिक ज्ञान-प्राप्ति मे सामंजस्य है। इस सामंजस्य के दर्शन हमे 'थेरीगाथा' मे भी होते हैं। उत्तमा एक सप्ताह भर तक एक आसन से बैठकर ध्यान करती है। आठवें दिन जैसे ही वह ध्यान से उठती है और अपने पैर फैलाती है कि तत्काल उसका अज्ञानान्धकार छिन्न हो जाता है। "अट्ठमिया पादे पसारेसिं तमोक्खन्ध पदालिय।" ज्ञान का उन्मेष एक सहसा अनुभव के रूप मे हुआ, परन्तु पहले की गई साधना बेकार गई, यह कौन कहेगा ? बुद्ध का स्वय बोधि का अनुभव इसमे प्रमाण है, और ध्यान-सम्प्रदाय भी इस तथ्य से पूर्ण अवगत है। यह उल्लेखनीय है कि मूल बुद्ध-धर्म की शमथ और विदर्शना की भावना ध्यान-सम्प्रदाय के ध्यान मे गृहीत है। यह हम शूरगम-समाधि-सूत्र मे देख चुके हैं। हुइ-नेंग् के शिष्य म-त्सु 'शमथ के महान् स्वामी' कहलाते थे और युग्-चिआ त-शिह् (जापानी भाषा मे 'योका डेशी') ने भी, जो हुइ-नेंग् के शिष्य थे, शमथ और विदर्शना की भावना विशेष रूप से की थी। यह बात अवश्य है

---

१. "क्रमश सब सयोजनों का क्षय प्राप्त करना चाहिये।" अलीनचित्त-जातक।

कि शम की अपेक्षा कुछ व्यावहारिकता पर ध्यान-सम्प्रदाय मे जोर है और इस कारण उसका सामाजिक उपयोग भी अधिक किया जा सका है। यह वस्तुतः चीनी प्रतिभा और प्रकृति का अपना योगदान है जिसे उसने ध्यान-सम्प्रदाय को दिया है। शमथ और विदर्शना के अभ्यासी ध्यानी सन्त भी हैं, परन्तु उससे प्राप्त शक्ति को वे कर्मयोग मे अधिक प्रयुक्त करते हैं। यही कारण है कि ध्यान-सम्प्रदाय के विहारो मे श्रम-निष्ठा अधिक पाई जाती है। जो साधना केवल ध्यानाभ्यास को लेकर चलेगी, उसे इस खतरे से सावधान रहना ही पडेगा कि कही ध्यान खाली चिन्तन, निकम्मेपन और आलस्य का पर्याय न बन जाय। इस खतरे को समझते हुए ही और प्रज्ञा के महत्व की ओर इगित करते हुए ही सातवी-आठवी शताब्दी के एक महान् ध्यानी सन्त (हुआई-जंग्—म-त्सु के गुरु और हुई-नेंग् के शिष्य) ने कह दिया था कि केवल ध्यानाभ्यास करते रहने से बुद्धत्व प्राप्त करने की आशा उसी प्रकार बेकार है, जिस प्रकार ईंट को घिस-घिस कर उसे दर्पण बनाने की चेष्टा। ध्यानाभ्यास को निठल्लेपन के खतरे से बचाने के लिए ध्यानी साधक इतने अधिक व्यग्र दिखाई पड़ते हैं कि सुज़ुकी ने एक जगह सम्भवतः इसी बात को ध्यान मे रखते हुए यहां तक कह दिया है कि ध्यान-सम्प्रदाय ध्यान नही है, बल्कि प्रज्ञा है।[1] परन्तु ऐसा कहना वस्तुतः बनता नही है। ध्यान और प्रज्ञा पूरे बौद्ध धर्म मे एक-दूसरे के पूरक है, अन्योन्याश्रित हैं। स्वयं छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्) ने समाधि (ध्यान) को प्रज्ञा का सार और प्रज्ञा को ध्यान की क्रिया कहा है और उनका सम्बन्ध प्रकाश और दीपक का सम्बन्ध बताया है। "दीपक प्रकाश का सार है और प्रकाश दीपक की क्रिया।" यही सम्बन्ध समाधि और प्रज्ञा का है। दोनो का अभ्यास साथ-साथ चलना चाहिए। हुइ-नेंग् ने ही 'मच-सूत्र' मे कहा है, "मूल, विशुद्ध उपदेश प्रज्ञा और समाधि को साथ-साथ अभ्यास करने का ही है।" अतः उनमे भेद करना वस्तुत. बनता नही है। ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार सच्ची अचलता वह है जिसे चल मे ही ढूढ़ा जाय। उसका कहना है कि जो कमल आग मे खिलेगा, उसके फिर कुम्हलाने का भय नही है। इसलिए जगत् के व्यवहारो को ध्यानी साधक स्वीकार करते हैं, पूरी तरह स्वीकार करते हैं और उनके अन्दर ही परमार्थ की खोज करते हैं। चतुर्थ परिच्छेद मे हम देख चुके हैं कि अनेक बुद्धकालीन स्थविरों और स्थविरियो को भी 'सटोरी' जैसे अनुभव हुए थे। 'कोआन्' भी कर्मस्थानो (ध्यान-विषयो) के

१. जेन् एण्ड जापानीज़ बुद्धिज़्म, पृष्ठ ३।

चीनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुकूल विकसित रूप ही हैं। अत ध्यान-सम्प्रदाय के बीज मूल बुद्ध-धर्म मे विद्यमान है।

'ध्यान' . अशब्द सिद्धान्त

ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि मोटे रूप मे बौद्ध धर्म का विकास दो शाखाओ मे हुआ। एक शाखा मे बौद्ध धर्म के शेष सब सम्प्रदाय हैं और दूसरी मे केवल ध्यान-सम्प्रदाय। पहली शाखा को हम 'उपदेश-शाखा' कह सकते हैं, क्योकि बौद्ध धर्म के प्राय. सब सम्प्रदाय जो इसमे आते हैं, बुद्ध के मुख से नि सृत उपदेशो पर आश्रित हैं, फिर चाहे उनमे कितनी ही पारस्परिक विभिन्नताएं क्यो न हो। उन सबके अलग-अलग मान्य सूत्र और शास्त्र हैं जिन पर वे आधारित हैं। ध्यान-सम्प्रदाय इन सबसे अलग है और वह एक अलग ही परम्परा है। वह बुद्ध के शब्दो पर आधारित नही, बल्कि उसका विश्वास है कि वह बुद्ध के मन या हृदय का सीधा सप्रेषण है, जिसमे जीवन के रहस्यो की कुजी विद्यमान है। बौद्ध धर्म के अन्य सब सम्प्रदायो से यह एक विलक्षण सम्प्रदाय है जो बुद्ध के मुख की ओर नही देखता, बल्कि उनके हृदय और चित्त से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और सच्चे अर्थों मे एक अ-शब्द सिद्धान्त है। यदि कबीर की भाषा का प्रयोग हम कर सकें तो बौद्ध धर्म के शेष सब सम्प्रदाय 'लेख' हैं और ध्यान-सम्प्रदाय की गणना 'अ-लेख' मे की जायगी। जिस प्रकार 'लेख' मात्र 'अलेख' मे समा जाता है, उसी प्रकार बौद्ध धर्म के अन्य सब सम्प्रदाय 'ध्यान' मे समा जाते हैं, ऐसा हम कह सकते हैं। "लेख समाना अ-लेख मे।" त्रिपिटक या अन्य स्रोतो से, ग्रन्थ मात्र से, जो बुद्ध के मन्तव्यो को जानकर ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे बुद्ध के मुख से उत्पन्न पुत्र हैं, जबकि ध्यान के द्वारा बुद्ध को अपने अन्दर देखने वाले साधक बुद्ध के हृदय से उत्पन्न हैं, औरस पुत्र हैं, ऐसा भी हम कह सकते है। सम्पूर्ण बौद्ध धर्म के प्रसंग मे ध्यान-सम्प्रदाय के स्थान के अनुमापन के लिए, हम समझते हैं, इतना विवेचन यहा पर्याप्त होगा। अब हम ध्यान-सम्प्रदाय और वेदान्त—अद्वैत वेदान्त—के तात्त्विक सम्बन्ध पर आते हैं।

'ध्यान' और अद्वैत वेदान्त

पीछे के परिच्छेदो मे ध्यान-सम्प्रदाय का जो विवरण दिया जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि अद्वय सत्य का अनुभव उसका प्राण है। 'ध्यान' के अभ्यासी पूरे रूप मे 'अनानात्वचारी' हैं। उनके लिए सर्वनिर्विकल्प ज्ञान ही परम सत्य

है। अद्वय सत्य की बात इतनी बार ध्यान-सम्प्रदाय मे आती है कि हम चकित हुए बिना नही रह सकते। और बौद्ध धर्म का केवल ध्यान-सम्प्रदाय ही अद्वयवादी नही है। पूरा महायान अद्वय धर्म है। इस बौद्ध अद्वैतवाद का वेदान्तिक अद्वैतवाद से क्या ऐतिहासिक और तात्त्विक सम्बन्ध है, यह समस्या हमारे सामने आती है। भारतीय दर्शन की इसे मैं सबसे महान् और गम्भीर समस्या मानता हूं। इसमे कोई सन्देह नही कि कुछ उपनिषदें बुद्ध-काल से प्राचीन हैं। परन्तु अद्वैत वेदान्त का जो विकास बाद मे हुआ, वह पूरे उपनिषदो के स्रोत पर ही आधारित नही है। उस पर पूर्वकालीन महायान साहित्य और दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है। परन्तु यह स्थान उसके विवेचन का नही है। "बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन" के द्वितीय खण्ड मे लेखक ने इस पर विस्तार से विचार किया है। यहां केवल ध्यान-सम्प्रदाय को ध्यान मे रखकर ही कुछ कहना ठीक होगा। सबसे पहली बात यह है कि ध्यान-सम्प्रदाय का अद्वैत 'अद्वैतसिद्धि' या 'खण्डनखण्डखाद्य' का अद्वैत नही है, बल्कि 'योग-वासिष्ठ' और कुछ हद तक गौडपाद के 'आगमशास्त्र' का अद्वैत या अद्वयानुभव है। तार्किक पद्धति के द्वारा प्रमाण दे-देकर नही बल्कि गहरे आत्म-चिन्तन और आत्मानुभूति से, जिसे ध्यान-सम्प्रदाय की परिभाषा मे प्रज्ञा या महाप्रज्ञा कहा जाता है, ध्यान-योगी इस सत्य तक पहुंचते हैं। अद्वैत सत्ता के प्रमाण मे उनका कहना है, "एक है, तभी दो की सत्ता है।" द्वैत ही अद्वैत के होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। यह बात भारतीय दर्शन मे भी आई है। अद्वैत वेदान्त मे अधिकतर सत्तात्मक प्रश्न की दृष्टि से अद्वैत का निरूपण है, साधक के पथ मे जो कठिनाइया आती हैं और चित्त मे जो द्विधात्मक प्रश्न और विकल्प उठते हैं, उनके प्रशमन के लिए उसके पास 'गीता' और 'योग-वासिष्ठ' जैसे कुछ-एक ग्रन्थो के अलावा और कुछ अधिक नही है। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय का तो पूरा साहित्य ही इस दृष्टि से साधको के लिए विशेष रूप से उपयोगी है और उनकी साधना-प्रगति में क्रियात्मक सहायता देने वाला है। यहा केवल 'सत्ता' का अद्वैत ही नही, बल्कि 'रास्तो' या 'यानो' का भी अद्वैत है और यह निर्विशेष घोषणा की गई है कि "बुद्ध-स्वभाव अद्वयता है।"[१] जहा तक तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध है, ध्यान-योगी वेदान्तियो की तरह केवल अद्वयवादी ही नही, अजातिवादी भी हैं। "न जन्म है, न मृत्यु है, यह परम सिद्धान्त है," ऐसा डिण्डिम वेदान्त से भी अधिक निर्भय और शक्तिशाली रूप में ध्यान-सम्प्रदाय मे उद्घोषित हुआ है। लका-

१. दि सूत्र ऑव वे-लॅंग् (हुइ-नेग्), पृ० २५।

वतार-सूत्र मे हमे अजातिवाद का विस्तृत निरूपण मिलता है और यह निश्चित है कि वह गौडपाद से पूर्व की रचना है। लकावतार-सूत्र के सिद्धान्तो की ही नही, उसकी पूरी भाषा की छाप गौडपाद के 'आगमशास्त्र' पर है, इस तथ्य से वे लोग भी इन्कार नही कर सकते जो गौडपाद के दर्शन को मूल रूप से केवल उपनिषदों मे ही खोजना चाहते हैं। गौडपाद के ही प्रायः समकालिक छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्) के सामने जब युग्-चिश्रा त-शिह् (योका डेशी) ने चिर जन्म-मरण की समस्या को गुरुतर रूप से महत्वपूर्ण बताया था, तो धर्म-नायक ने उनसे झट कहा था, "तो तुम अजाति के सिद्धान्त का साक्षात्कार कर जीवन की क्षणभगुरता की समस्या को हल क्यो नही कर लेते ?" वेदान्त का अजातिवाद भी केवल मनुष्य की इस आवश्यकता के लिए उत्पन्न हुआ है। परन्तु इससे भी गहरे जाकर हम तो अद्वैत वेदान्त के साथ 'ध्यान' के सम्बन्ध को देखना चाहते हैं।

ध्यान-सम्प्रदाय मे शून्यता परम सत्य है और उसके सच्चे रूप को समझने के लिए अद्वय सत्य का उपयोग है। विना वस्तुओ के अद्वय सत्य को समझे शून्यता की स्थापना या उसका निषेध दोनो ही गलत होगे। ऐसी घोषणा तृतीय धर्मनायक सेंग्-त्सन् ने की थी, यह हम द्वितीय अध्याय मे देख चुके हैं। उनका कहना था कि विना अद्वैत को समझे सत्ता का निषेध करना उसका स्वीकार करना मात्र होगा और शून्यता का स्वीकार करना स्वय उसके निषेध मे पर्यवसित हो जायगा। अत शून्यता को समझने के लिए पहले अद्वय सत्य को समझना आवश्यक है। ध्यान-सम्प्रदाय की मान्यता है कि इन्द्रियां, मन, शरीर कुछ भी क्रिया नही कर सकते, यदि शून्यता न हो। ससार का कोई व्यवहार सम्भव नही होगा, यदि शून्यता न हो। कोई प्रमाण प्रमाण नही रह जायगा, यदि शून्यता न हो।

सत् और असत्

सम्पूर्ण माध्यमिक दर्शन की दृष्टि से हम यहा विस्तृत विवेचन मे नही जा सकते, परन्तु केवल ध्यान-सम्प्रदाय की दृष्टि से ही यह कहना जरूरी है कि उसका शून्य अभाव नही है। सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन के शून्य को जो अभाव या उच्छेद का पर्याय मान लिया गया है, वह बडी भारी गलती हुई है और उसका प्रतिवाद स्वयं ही शकर-पूर्ववर्ती महायान सस्कृत ग्रन्थो के प्रकाशन से हो गया है। जहा तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि वह शून्यवादी है, परन्तु उसकी शून्यता अभाव या पूर्ण निषेध नही, वह

सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध नही और न उसमे सम्पूर्ण व्यवहारो का ही उच्छेद है। सम्पूर्ण व्यवहार सम्भव ही शून्यता से बनते हैं, ऐसा उसका सोचने का ढंग है। और फिर वह शून्यता मे रमते रहने से भी आगाह करता है। सभी विकल्पो और द्वैतो के परे जाने पर इतना जोर भारतीय दर्शन मे अन्यत्र कही नही दिया गया। ध्यानी साधक अपने मूल घर को लौटने और वहा विश्राम करने की बात कहते हैं। यह उनके द्वारा सम्भव नही, जो जगत् को अप्रतिष्ठ बताते हैं।

सत् की निषेधात्मक व्याख्या को लेकर कोई साधना आगे नही बढ सकती। ध्यान-सम्प्रदाय इस बात पर जोर देता है कि 'है' से ही कुछ मिलता है, 'नही' से कुछ नही। देखिए, युग्-चिआ त-शिह् (योका डेशी) ने किस मनोरजक ढंग से इस सत्य को रक्खा है :

जब यह 'हां' है तो एक नागा लड़की भी एक क्षण
में बुद्धत्व प्राप्त कर लेती है,
परन्तु जब यह 'न' है तो परम विद्वान् ध्यानी
आचार्य (ज़ेन्शो) भी जीवित अवस्था में ही नरक में गिरता है।

शून्यता के स्वरूप और उद्देश्य के सम्बन्ध मे इतना कुछ ध्यानी सन्तो ने कहा है कि उससे हमे उसके अभावात्मक होने के सम्बन्ध मे सन्देह के लिए अवकाश ही नही रह जाता। कितनी स्पष्टतापूर्वक युग्-चिआ त-शिह् (योका डेशी) ने 'बोधि-गीत' मे कहा है :

शून्यता का अर्थ है एकपक्षीय न होना,
न शून्य, न अशून्य,
यही तथागत-ज्ञान का सच्चा रूप है।

ध्यानी सन्त सत्य को सदा सत् और असत् के विचारों से अतीत मानते हैं। उन्हें जितना भय शाश्वतवाद से है उतना ही उच्छेदवाद से भी। आन्तरिक शून्यवाद या उच्छेदवाद को वे पानी मे डूबना कहते हैं, तो शाश्वतवाद या वस्तुओ के प्रति आसक्ति को आग की लपटो मे पडना मानते हैं, इसलिये दोनो से ही साधको को आगाह करते हैं। "मुझे यही भय है कि कही तुम्हारा मार्ग तुम्हें उच्छेदवाद (असत्) और शाश्वतवाद (सत्) के गड्ढे मे न गिरा दे।"

इस प्रकार अन्ततः ध्यानी सन्त सत् और अ-सत् दोनो से अतीत हैं और जिस अन्तिम चित्त-अवस्था मे वे पहुंचते हैं, उसमे शून्य और अ-शून्य दोनो के ही विचार लुप्त हो जाते हैं:

> जब सत् और अ-सत् दोनो ही अलग हटा दिये जाते हैं,
> तो शून्यता और अ-शून्यता के विचार भी लुप्त हो जाते हैं।

छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्) ने भी, जो शकर से कम-से-कम सौ वर्ष पूर्व हुए, बार-बार इस बात से अपने शिष्यो को आगाह किया कि वे शून्य से तात्पर्य अभाव से न मान बैठें। एक बार प्रवचन देते हुए उन्होने कहा था, "विज्ञ श्रोताओ! जव तुम मुझे शून्य की बात कहते सुनते हो तो एकदम खालीपन के विचार मे मत पडो। ऐसा करने से तुम विनाश के मिथ्या सिद्धान्त मे गिर जाओगे। यह वहुत महत्वपूर्ण है कि इस विनाश के मिथ्या सिद्धान्त मे हम न पड़ें।" इस प्रकार यह वहुल रूप से सिद्ध है कि शून्य ध्यानी साधको के लिए अभावात्मक या विनाशात्मक नही है।

ब्रह्म और अजात

वेदान्त जिसे 'ब्रह्म' कहता है, वह ध्यान-सम्प्रदाय के लिए 'अ-जात' है। जिस प्रकार वेदान्ती कहते हैं कि इस ससार की उत्पत्ति, स्थिति और लय जहां से होते हैं वह ब्रह्म है, उसी प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय यह मानता है कि इस ससार की उत्पत्ति, स्थिति और लय जहां से होते हैं, वह 'अ-जात' है। एक कहता है कि जगत् की प्रतिष्ठा ब्रह्म है, दूसरा कहता है अ-जात है। यह अ-जात ही निषेधात्मक रूप से शून्यता है और स्वीकारात्मक रूप मे यही तथता, भूततथता या बुद्ध-स्वभाव है। इस प्रकार यही तथता या सर्वधर्मशून्यता ध्यान-सम्प्रदाय के लिए परमार्थ है, परिनिष्पन्न सत्य है। दूसरे शब्दो मे यही तथागत का 'धर्मकाय' कहलाती है। इस प्रकार वेदान्त के 'ब्रह्म' से बौद्ध 'अ-जात' या 'तथता' का भेद करना कठिन हो जाता है, क्योकि दोनो ही निरपेक्ष सत्य हैं। परम निर्विकल्प ज्ञान हैं। ध्यान सम्प्रदाय का 'मूल मन' या 'एक मन' वेदान्त का विराट् आत्मा है, जो विशुद्ध है, अविकारी है और सम्पूर्ण कार्यकारणभाव से अतीत है। एक सवसे बडी आश्चर्यजनक वात तो यह है कि इस सम्बन्ध मे जो समस्या वेदान्त के सामने आई है, वही बिलकुल ध्यान-सम्प्रदाय के सामने है। वास्तव मे तो यह समस्या वेदान्त या ध्यान-सम्प्रदाय की ही नही है, मानवीय

चिन्तन के हर युग मे यह आधारभूत समस्या विभिन्न रूपो मे आई है कि ब्रह्म यदि निर्गुण, निर्विकार है, तो यह सगुण और विकारी सृष्टि उससे किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ? शांकर वेदान्त का सम्पूर्ण मायावाद इसी जिज्ञासा के समाधान पर आधारित है। चीनी शूरंगम-समाधि-सूत्र मे भी यह समस्या आई है। ध्यान-सम्प्रदाय मे इस संप्रश्न को इस प्रकार रक्खा गया है, "विशुद्ध, निर्विकार मूल से पर्वत, नदियां और महापृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गईं।" जब यह प्रश्न ग्यारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के एक ध्यानी गुरु (रोया एकाकु) से पूछा गया, तो उत्तर-स्वरूप उसने इस प्रश्न को ही प्रश्नकर्ता के सामने दुहरा दिया, "विशुद्ध निर्विकार मूल से पर्वत, नदियां और महापृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गईं ?" ब्रह्म और सृष्टिकर्तृत्व की समस्या को लेकर वेदान्त ने जो लम्बे विवेचन किये है, उनसे कितना प्रभावशाली है यह प्रश्न को ही उत्तर बनाकर लौटा देना ! इसका अभिप्राय है कि उत्तर देने वाले को विकल्प मे पड़ना इष्ट नही है। वेदान्त के विद्या और अविद्या के सारे लम्बे विवेचन केवल विकल्प के ही विस्तार हैं, जो निर्विकल्प की अभिव्यक्ति करने मे असफल हैं। इस सम्बन्ध मे कबीर वेदान्त की अपेक्षा ध्यान-सम्प्रदाय के अधिक समीप हैं, क्योंकि अपने 'साहब' या 'कर्ता' के सम्बन्ध मे वे भी विकल्प नही करते और केवल कहते है "तू जैसा है तैसा रहे" और "कर्ता की गति अगम है" या "ऐसा लो नहि वैसा लो" आदि। "तू जैसा है तैसा रहै" और "ऐसा लो नहि वैसा लो" मे मुझे बिलकुल 'भूततथता' की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। परन्तु 'अजन' और 'निरजन' को लेकर कबीर साहब उस ध्यानी सन्त के और भी बिलकुल समान है जिसने प्रश्न को उत्तर बनाकर लौटाते हुए कहा था, "विशुद्ध, निर्विकार मूल से पर्वत, नदियां और महापृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गईं ?" निरजन (अंजन रहित) के मूल से यह अंजन (जगत्) का पसारा कैसे फैल गया ? "अवधू निरंजन जाल पसारा। स्वर्ग पताल जीव मृत मण्डल तीन लोक विस्तारा।" कैसे ? कबीर साहब कहते हैं, "अजन माहि निरजन रहियै।" ध्यान-सम्प्रदाय का उत्तर भी बिलकुल यही है—चल मे ही अचल को देखो। और यह अचल ही सत्य है। विशुद्ध, निर्विकार मूल ही पर्वत, नदियो और महापृथ्वी मे रूपान्तरित है। और ऐसा होते हुए भी वह उनसे अतीत है—"राम निरंजन न्यारा रे, अजन सकल पसारा रे।' या "याही थें जे अगम है सो वरति रह्या संसार।" इस गहरी भूमिका से कुछ नीचे उतर कर यदि हम 'निरजन' शब्द पर विचार करें तो बौद्ध सिद्धो ने तो इसका प्रयोग किया है और उनसे ही सम्भवतः कबीर को मिला, परन्तु ध्यानी सन्तो की वाणी मे (जहा तक मैं उसका अध्ययन कर सका हूं) यह शब्द

नही मिलता, परन्तु अंजन और निरजन का पूरा विचार मिलता है। ध्यान-सम्प्रदाय के विवेचन मे हम देख चुके हैं कि वहा तथता के विषय मे यह कहा गया है कि वह कही न आती है और न जाती है। जो आती है और जाती है, वह माया है। कबीर साहब ने इसे यो रक्खा है "अजन आवै अंजन जाइ। निरजन सब घट रह्या समाइ।" ध्यान-सम्प्रदाय भी इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है कि जो आता है और जाता है वह अंजन है और जो न कही आता और न जाता है वह निरंजन है, तथागत है। जैसा हम आगे देखेंगे, भारतीय 'धर्म-सम्प्रदाय' 'निरजन' के विचार मे सन्त-मत और ध्यान-सम्प्रदाय के साथ है। जिस ध्यानी सन्त ने प्रश्न को लौटाकर ही उत्तर दिया था, वह यदि वैसा न कर कबीर साहब की उपर्युक्त वाणी को ही कह देता, तो उसका अभिप्राय तो बिलकुल वही होता, परन्तु यह उसके लिए सम्भव नही था, क्योकि सुग्-काल ९६०-१२७८ ई० है और कबीर साहब का जीवन-काल पन्द्रहवी शताब्दी है। सब पसारा अजन है, इस अजन मे ही निरंजन भासित होता है, उसमे ही व्याप्त है, इसे प्रकट करने के लिए ध्यान-सम्प्रदाय की यह उपमा है कि जैसे जल मे चन्द्रमा। चन्द्रमा जल के अन्दर भी है और साथ ही वह उससे न्यारा भी है। बाहर होते हुए भी अन्दर, अन्दर होते हुए भी बाहर। युग्-चिआ त-शिह् (योका डेशी) के महत्वपूर्ण शब्दो को हम पहले उद्धृत भी कर चुके हैं—"एक ही सत्यता, सर्वस्पर्शी, अपने अन्दर सब सत्यताओ को समेटे हुए है; एक ही चन्द्रमा का प्रकाश पडता है, जहा कही भी जल का विस्तार है और जल के अन्दर के सब चन्द्रमा एक ही चन्द्रमा मे समाश्लिष्ट हैं।" "युग् चिआ-त-शिह् का समय आठवी शताब्दी है। अत जब कबीर (पन्द्रहवी शताब्दी) 'जल मे व्यंब प्रकासै' कहते हैं तो इसके ऐतिहासिक निष्कर्षों को हम भली प्रकार समझ सकते हैं। कबीर का यह भाव वेदान्तिक प्रतिबिम्बवाद से न आकर ध्यान-सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थ 'लकावतार-सूत्र' की अ-लिखित परम्परा से आया है, यह हम पाचवें परिच्छेद के अन्त मे प्रकट कर चुके हैं। इस प्रकार 'निर्गुण' और 'ध्यान' को तत्व-मीमासा के सम्बन्ध मे बिलकुल एक ही बात कहनी है।

ऐसा लगता है कि अद्वैत-निष्ठा मे ध्यान-सम्प्रदाय भारतीय वेदान्त से भी कही-कही आगे बढ गया है। सम्भवतः यह उसके शून्यतावादी दर्शन और सभी प्रकार के विकल्पो के पूर्ण निषेध के कारण है। भारतीय वेदान्त मे निर्विशेष अद्वैत है, विशिष्ट अद्वैत है, शुद्ध अद्वैत है, द्वैत अद्वैत है। अद्वैत की ये विभिन्न कोटिया क्या द्वैत को ही सिद्ध नही करती ? क्या ये अन्तत द्वैत के समर्थन

के रूप नही हैं ? फिर यह व्यवहार-सत्य है, यह परमार्थ-सत्य है ! यह सत् है, यह असत् है ! क्या यह सत्य का द्वैत नही है ? ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। यहां भी मिथ्या जगत् के ऊपर ब्रह्म का सत्यत्व खड़ा किया गया है। इस प्रकार की अनुभूति रखने वाले को अभी पूरी अद्वैत-निष्ठा प्राप्त नही हुई है। ध्यानी साधक इस स्थिति से अतीत हैं। वे एक अद्वैत के सामने दूसरा अद्वैत खड़ा नही करते, एक सत्य को अतिक्रमण कर दूसरे सत्य तक पहुचने की बात नही करते, बल्कि द्वैत मे ही अद्वैत को देखते हैं, व्यवहार मे ही परमार्थ को खोजते है। दूसरे शब्दो मे जो संसार है, वही उनके लिए निर्वाण है। इस प्रकार बिना द्वैत को स्थापित किये वे उसका अतिक्रमण कर देते हैं। न व्यावहारिक क्षेत्र मे, न तात्त्विक चिन्तन मे, वे किसी प्रकार पक्ष-विपक्ष की स्थापना करते हैं। कबीर के समान उनके लिए यह साधारण जनोचित अज्ञान ही है। "पखा पखी के पैखरो सब जगत भुलाना।" तर्क-वितर्क से विमुक्त, पक्ष-विपक्ष से दूर, हद और बेहद से अतीत, यही वास्तविक अतीत और परम दर्शन है। वेदान्त अनेक को घटा-घटा कर अन्त मे एक मे लाकर उनको रख देता है। 'एकमेवाद्वितीयम्' से आगे वह नही जाता। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय पूछता है— अनेक को घटा-घटा कर तुमने एक मे समाविष्ट कर दिया, अब इस एक को घटाकर तुम कहां से जाओगे ? इसी को वह दूसरी तरह भी रखता है—सब वस्तुए अन्त मे एक मे लीन हो जाती हैं। परन्तु इस एक का भी अन्तिम निलय कहा है ? इस एक को भी कहा लीन होना होगा ? वेदान्त एक पर—अद्वैत पर—रुक गया है। ध्यान-सम्प्रदाय ने साहसपूर्वक उसके पार भी झाकने का प्रयत्न किया है। धर्मगुरु ताओ-वू का यह कहना ठीक ही था, "एकत्व को भी जब पकड़ा जाता है, तो वह लक्ष्य से दूर चला जाता है।" इसलिए ध्यान-साधना कहती है, "इस एक को भी तुम मत पकडो।" इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय की सत्य-निष्ठा वेदान्त से अधिक उग्र और धुर सत्य (शून्य) तक जाने वाली है। इससे भी धुर वह तब चली जाती है, जब वह शून्य मे भी रमने को नही कहती। "आन्तरिक शून्य मे भी मत रमो।"

अब हम ध्यान-सम्प्रदाय की साधना और तत्त्वज्ञान को मध्यकालीन निर्गुनिये सन्तो की साधना और उनके दार्शनिक विचारो के साथ मिलाकर कुछ देखेंगे। इस सारे विवेचन मे हमे इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखना चाहिए कि ध्यान-सम्प्रदाय का स्वर्ण-युग सातवी शताब्दी ईसवी से लेकर तेरहवी शताब्दी तक है, जबकि कबीर का जीवन-काल पन्द्रहवी शताब्दी है और निर्गुणवादी सन्तो की परम्परा को उनसे एक-दो शताब्दी पूर्व ही ले जाया

जा सकता है। यह एक साधारण ऐतिहासिक तथ्य है कि मध्यकालीन निर्गुण-वादी सन्त कई-एक वातो मे नाथ-पन्थी योगियो के माध्यम से बौद्ध सिद्धों के उत्तराधिकारी थे और नाथ-पन्थ भी बौद्ध धर्म का ही एक रूप था। ध्यान-सम्प्रदाय के साथ मिलान करने पर यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। हम यहा इस सत्य से इन्कार नही करते कि सन्तो की मूल साधना वैष्णव है। इसमे विलकुल भी सन्देह नही है। वे राम नाम के एकान्त उपासक हैं, बुद्ध की शरणागति की बात बिलकुल उनके सबदो या साखियो मे नही आती। इसलिये वे मुख्यत वैष्णव भक्त साधक हैं, यह बात समझ कर ही हम उन पर बौद्ध धर्म के प्रभाव की वात कह सकते हैं या उनकी साधना के साथ बौद्ध धर्म या उसके किसी सम्प्रदाय के सम्वन्ध को दिखा सकते हैं। जिस समय सन्त-साधना भारत मे फल-फूल रही थी, बौद्ध धर्म भारत मे प्राय नि शेष हो चुका था। अत सन्तो की वाणियो मे, विशेषत कबीर की वाणी से, कुछ क्षीण और विस्मृत प्रतिध्वनिया ही बौद्ध धर्म की साधना की मिलती हैं। बाद के सन्तो मे वे और भी कम होती गयी हैं और बौद्ध धर्म के प्रभाव के लक्षण भी क्षीण होते गये हैं। वस्तुत सन्त-साधना पर बौद्ध धर्म का जो प्रभाव आया है, वह एक अज्ञात और प्राय विस्मृत साधना-परम्परा के रूप मे मौखिक रूप से नाथ-पन्थियो के माध्यम से आया है और उसका रूप साधनात्मक और तात्त्विक ही है, जिसके धागो को पकड कर हम बौद्ध साधना के साथ सन्तो की साधना के सम्वन्ध को कुछ स्पष्टतापूर्वक समझ सकते हैं।

'ध्यान' और बौद्ध सिद्ध

ऐतिहासिक क्रम से बौद्ध सिद्धो, नाथपन्थी योगियो और निर्गुनिये सन्तो के साथ ध्यान-सम्प्रदाय के सम्वन्ध की मीमासा हम करेंगे। ध्यान-सम्प्रदाय छठी शताब्दी ईसवी से चीन मे और उसके बाद जापान मे प्रवाहित हुआ और उससे पहले भारत मे उसकी एक अज्ञात परम्परा थी, जिसके प्रतिनिधि रूप बोधिधर्म ने इस सम्प्रदाय को चीन मे स्थापित किया। तान्त्रिक बौद्ध धर्म का उदय महायान के उत्तरकालीन विकास के रूप मे करीब छठी शताब्दी से ही हुआ, जिसका अन्तिम प्रतिनिधित्व बौद्ध सिद्ध करते हैं। तान्त्रिक साधना या मन्त्रयान के रूप मे एक स्वतन्त्र बौद्ध सम्प्रदाय चीन और जापान मे प्रचलित है। बौद्ध सिद्धो के साथ वास्तव मे उसी की तुलना की जा सकती है; ध्यान-सम्प्रदाय का तान्त्रिक साधना से कुछ भी सम्बन्ध नही है। ध्यान-सम्प्रदाय एक अत्यन्त विमल और गम्भीर आत्म-चिन्तन की परम्परा पर आश्रित साधना-पथ है।

विनय-पिटक के नियम उसके भिक्षुओ पर लागू हैं और वे उनका कडाई से पालन करते हैं। मांस-भक्षण तक नही करते। तान्त्रिक बौद्धो की गुह्य साधनाओ की गन्ध भी वहा नही है। चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास मे हम पढते हैं कि एक बार एक निरंकुश चीनी सम्राट् ने ध्यान-सम्प्रदाय के एक भिक्षु के सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि वह उसकी पुत्री के साथ विवाह कर ले। जब भिक्षु ने इसे स्वीकार नही किया तो सम्राट् ने उसे मरवा डाला। अन्तिम क्षण मे भिक्षु ने सम्राट् से कहा, "चार महाभूतो से मेरा आरम्भ से ही कोई सम्बन्ध नही रहा है। इन पंच स्कन्धो ने आपको धोखा दिया है, एक शरीर का भ्रम आपको दिलाते हुए। आपकी तलवार मेरे सिर को उसी प्रकार काट सकती है, जैसे यह वसन्त-वायु इस पेड से इसकी फूल-पत्तियो को गिराती है।" कहां इतनी उच्च आचार-साधना और कहा बौद्ध तान्त्रिको की चाण्डालिनों, शवरियो और डोम्बिनियो सम्बन्धी अरुचिकर प्रतीकवाद ! बौद्ध सिद्धो के दोहो और चर्यापदो को पढने से विदित होता है कि उनमे बौद्ध धर्म और उसके साहित्य की एक दूर की प्रतिध्वनि ही है, उसके मूल रूप से उनकी अवगति या सम्बन्ध सीधा और साक्षात् नही है। ऐसा भी लगता है कि बुद्ध के मूल नीतिवादी साधना-दर्शन को, जिसे सचमुच ही 'कठिन यान' की संज्ञा दी गई थी, जब उत्तरकालीन भारतीय बौद्ध भिक्षु अपने जीवन मे निभा नही सके और अपने स्वीकृत धर्म की निगाह मे ही गिरने लगे, तो उन्होने किसी प्रकार समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए अपनी भोगवादी दृष्टि को ही एक दर्शन का रूप दे डाला, उसे 'सहज यान' की सज्ञा दी और तिलोपा ने तो भोग-सेवा को एक नुस्खे का ही रूप दे डाला। "जिम विस भक्खइ विसहि पलुत्ता। तिम भव भुजइ भवहि ण जुत्ता।" अर्थात् "जिस प्रकार विष के भक्षण करते रहने से मनुष्य विष के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार भव का भोग करने से मनुष्य फिर भव मे युक्त नही होता।" इस नई दृष्टि से बौद्ध धर्म के नैतिक आदर्शवाद का क्या सम्बन्ध है ? यह तो एक प्रकार उसके प्रति विद्रोह है। जो 'कठिन' था, उसे 'सहज' या स्वाभाविक बनाने का उद्योग है। जो विषय-सेवन तथोक्त सिद्धो के जीवन मे चल रहा था, उसी को दार्शनिक समर्थन देने का उद्योग है। हम जानते हैं कि इस उद्योग को कबीर ने प्रशसनीय नही माना। इसलिये उन्होने कहा—

"सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।।"

और इसीलिये उन्होंने सिद्धो को केवल माया के खेल खेलने वाला ही बताया। "सिध चौरासी माया महिं खेला।" बौद्ध सिद्ध अपने सहजवाद के समर्थन मे मध्यममार्ग को रखते थे, परन्तु कबीर ने बतला दिया कि वास्तविक 'मधि' को समझने मे वे षट्दर्शनो के समान ही असफल रहे हैं। "मधि कौ अग" मे ही वे कहते है, "षट् दरसन ससै पर्‍या औ चौरासी सिद्ध।" इस प्रकार वास्तविक मध्यम मार्ग के सम्बन्ध मे कबीर बौद्ध सिद्धों से दूसरी प्रकार से सोचते हैं और नैतिक आग्रह उनकी विशेषता है। वस्तुतः कबीर ने नैतिक दृष्टि से शाक्तो की जो घोर निन्दा अनेक जगह की है ('साकत सुनहा दोनो भाई'), उसमे काफी हद तक तथोक्त बौद्ध तान्त्रिक मतवादी भी सम्मिलित हैं। "जैन बौद्ध औ साकत सेना" मे भी यही ध्वनि है। (यह उल्लेखनीय है कि जैन धर्म मे भी तान्त्रिकता इस समय घुस गई थी)। कबीर तो क्या, स्वय गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने भी कलि-काल के 'सिद्ध' और 'योगी' पुरुषो का जो परिचय दिया है, उसमे भक्ष्याभक्ष्य का खाना उनका एक मुख्य लक्षण बतलाया गया है, "...... भच्छाभच्छ जे खाहिं। तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर।" इस प्रकार बौद्ध सिद्धो के अनाचार की विगर्हणा प्रसिद्ध है। यह कितना आश्चर्यजनक है कि नीतिवादी निर्गुनिये वैष्णव सन्तो का जो सहज था, सहज ही ऐन्द्रिय वासनाओ के बन्धन और आसक्ति से ऊपर उठना था, 'सहज' समाधि प्राप्त करना था, 'सहज शून्य' मे रमना था, वही साधना का लक्ष्य ध्यान-सम्प्रदाय के साधको का भी है। इस प्रकार बौद्ध होते हुए भी ध्यान-सम्प्रदाय अपनी 'सहज' साधना के सम्बन्ध मे बौद्ध सिद्धो की अपेक्षा सन्तो के अधिक निकट है और नैतिक नियमो मे कभी शिथिलता का प्रदर्शन नही करता। कबीर साधक के लिए जीवन को चलाने के लिए आवश्यक वस्तुओ का उपभोग आवश्यक मानते थे। तभी तो उन्होंने कहा है, "जपीए नामु जपीए अनु।" और भगवान् से दो सेर चून (आटा), आध सेर दाल, पाव भर घी और कुछ कपड़े-लत्ते मागे हैं। ध्यानी-साधक भी इनके महत्व को जानते हैं और इनका उचित उपयोग बुरा नही मानते। हम पहले देख चुके हैं कि जब एक ध्यानी साधक से पूछा गया कि तुम क्या अभ्यास करते हो, तो उसने उत्तर दिया, "जब मुझे भूख लगती है तो मैं खा लेता हूं, जब मैं थक जाता हूं तो सो जाता हू।" इसी प्रकार जब एक अन्य ध्यानी सन्त से पूछा गया था कि 'ताओ' (परम सत्य) क्या है, तो उसने कहा था, "तुम्हारा दैनिक जीवन!" कबीर की 'सहज' जीवन-साधना बिलकुल यही थी।

यद्यपि साधना के मोटे रूप मे ध्यान-सम्प्रदाय का बौद्ध तन्त्र-यान या सहज-यान से कुछ भी सम्बन्ध नही है, दोनो के मार्ग अलग-अलग हैं, फिर भी बौद्ध सम्प्रदाय होने के नाते दोनो मे अनेक समानताएं हैं, साधना की कुछ विशिष्ट बातों मे और अभिव्यक्ति मे भी। ध्यान-सम्प्रदाय मे मन्त्रो के जप का वैसे विशेष महत्त्व नही माना जाता, वह ज्ञान और कर्म-योग का मार्ग है। परन्तु फिर भी उसके मूल ग्रन्थ लंकावतार-सूत्र मे एक परिवर्त (परिच्छेद) धारणी के रूप मे है, जो मन्त्रयान की ही एक प्रवृत्ति है। शूरंगम-समाधि-सूत्र मे भी 'मण्डल' है, जो तान्त्रिक धर्म की प्रवृत्ति के ही सूचक हैं। इसी प्रकार जापान के ध्यान-सम्प्रदाय के ध्यानागारो में प्रतिदिन 'प्रज्ञापारमिताहृदय-सूत्र' का पाठ किया जाता है, जिसके अन्दर महामन्त्र है "गते गते परगते परसगते, बोधि, स्वाहा।" इसी प्रकार कई अन्य मन्त्रो का पाठ ध्यानागारो मे किया जाता है। एक का उदाहरण है, "ओम् स्व्य स्व्य, स्व्यहि स्व्यहि, ज्वाला ज्वाला, प्रज्वाला प्रज्वाला, तिष्ठ तिष्ठ।" निश्चयतः यह मन्त्रयान का ही प्रभाव है, जो 'शिगोन्' नाम से चीन मे आज भी प्रचलित है। सुग्-काल (९६०-१२७८ ई०) मे ध्यान-सम्प्रदाय पर मन्त्रयान का प्रभाव पडा, जिसके चिह्न जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय पर आज तक पाये जाते हैं। ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य मे अनेक ऐसे रूपकों और प्रतीको का प्रयोग किया गया है जो बौद्ध सिद्धो के साहित्य मे भी हमे उसी या कुछ परिवर्तित रूप मे मिलते हैं। स्वयं 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' मे 'वज्र' शब्द का प्रयोग 'मन के सार' के प्रतीक रूप मे किया गया है।[1] अन्य अनेक शब्द-प्रयोगो के सम्बन्ध मे हम नाथ-योगियो और निर्गुनिये सन्तो को भी साथ लेते हुए कुछ विचार आगे करेंगे। इस प्रकार इन सब बातो को देखते हुए ऐसा निश्चयत. कहा जा सकता है कि बौद्ध सम्प्रदायो के रूप मे और इन दोनो के उदय-काल को देखते हुए ध्यान-सम्प्रदाय और बौद्ध तान्त्रिक योग मे समानताएं हैं और हो सकती हैं। हम पहले (पाचवें अध्याय मे) देख ही आये हैं कि दोनो का ही दार्शनिक आधार बौद्ध धर्म के विकास की वह अवस्था है जो निर्वाण और ससार को, क्लेश और बोधि को, एक अज्ञानी जन और बुद्ध को अभिन्न मानने की ओर प्रवण है और जिसमें अद्वैतवाद को उसके निश्चित निष्कर्षो तक ले जाया गया है। प्रोफेसर चेन्-चि चङ् ने डॉ० डब्ल्यू० वाई ईवेन्स वैन्ट्ज़ द्वारा सम्पादित 'टिबेटन योग एण्ड सीक्रेट

---

१. दि सूत्र ऑव वे-लेंग् (हुइ-नेंग्), पृष्ठ ९५।

डॉक्ट्रिन्स'[1] मे अपनी 'योग-सम्बन्धी-टीका' (योगिक कमेण्टरी) लिखते हुए कहा है कि "ध्यान-सम्प्रदाय और तन्त्र-यान, दोनो के अपने व्यक्तिगत अनुभव और अध्ययन से मुझे पता चलता है कि ध्यान-सम्प्रदाय और महामुद्रा की विकसित तान्त्रिकता की शिक्षाए समान हैं।"[2] निश्चय ही यह कहना बहुत अधिक है। ध्यान की प्रक्रिया महामुद्रा के तान्त्रिक योग और उसकी गुह्य साधनाओ से कुछ भी सम्बन्ध नही रखती। दोनो बिल्कुल भिन्न मार्ग हैं, एक बौद्ध नीतिवाद से बिलकुल लगा हुआ ध्यान-मार्ग है, दूसरा उससे बिलकुल विपरीत दिशा मे जाकर साधना करने वाला। प्रोफेसर चेन्-चि चङ् का यह कहना भी कि "ध्यान-सम्प्रदाय गूढ महामुद्रा है, जबकि महामुद्रा प्रकट ध्यान", लक्ष्य से बहुत दूर का कथन मालूम पडता है। कोई निष्पक्ष विचारक उनके इस कथन से इस हद तक सहमत नही हो सकता। फिर भी ध्यान-सम्प्रदाय और बौद्ध तान्त्रिक-धर्म के सम्बन्ध मे प्रोफेसर चेन्-चि चङ् ने जो कुछ भी उपर्युक्त ग्रन्थ मे अपनी "योगिक कमेण्टरी" में पृष्ठ तेतीस-इकतालीस में कहा है वह विचार करने योग्य है और उससे ध्यान-सम्प्रदाय और बौद्ध तन्त्र-यान के ऐतिहासिक सम्बन्ध पर प्रकाश पडता है।

इस सम्बन्ध मे एक बात और। तान्त्रिक बौद्ध धर्म के महान् आचार्य पद्मसम्भव की तिब्बती भाषा मे लिखी एक साधना-पुस्तक मिली है, जिसे 'दि टिबेटन बुक ऑव दि ग्रेट लिबरेशन' शीर्षक से डॉ० डब्ल्यू० वाई० इवेन्स वैन्त्ज ने अग्रेजी मे सम्पादित किया है।[3] (अनुवादक अन्य विद्वान् हैं)। इस पुस्तक मे 'एक मन' के ज्ञान के द्वारा निर्वाण के साक्षात्कार की प्रक्रिया का वर्णन है। निश्चयत यह मूल प्रक्रिया ही ध्यान-सम्प्रदाय और विशेषत उसके आचार्य हुआङ्-पो की है। एक विशेष बात जो हमे यहा मिलती है, यह है कि 'एक मन' के अन्य नाम इस पुस्तक मे दिये गये हैं, जिनमे एक 'महामुद्रा' भी है।[4] इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के साथ तान्त्रिक बौद्ध धर्म के सम्बन्ध के लक्षण मिलते हैं, जो कुछ हद तक अनिवार्य भी हैं, क्योकि दोनो ही बौद्ध सम्प्रदाय हैं। इस प्रकार इस बात की भी संगति मिल जाती है कि जिन अनेक बातो मे निर्गुणपन्थी साधक बौद्ध सिद्धो की साधना के ऋणी हैं, उन बातो मे ध्यान-सम्प्रदाय से भी उनकी समानता है। बोधिधर्म ५२० या ५२६ ई० मे चीन

---

१ ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लदन, १९५८ (द्वितीय सस्करण)।

२ पृष्ठ पैंतीस-छत्तीस।

३. ऑक्सफर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १९५४।

४ पृष्ठ २०१।

गये और पद्मसम्भव ७४७ ई० मे तिब्बत। दो शताब्दियो के व्यवधान से बाहर जाने वाले ये दोनो भारतीय बौद्ध आचार्य साधना के कुछ समान तत्वो को लेकर गये हो, तो इसमे कोई आश्चर्य नही है और जिन देशो मे ये गये वहां कुछ भिन्न-भिन्न रूप से उनका विकास हुआ हो, तो यह भी समझा जा सकता है। ध्यानी साधक हुआङ्-पो के प्रवचनो के अग्रेजी अनुवादक जोह्न ब्लोफेल्ड (चु-चन्) ने हुआङ्-पो के साधना-मार्ग की समानता पद्मसम्भव के ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थ मे वर्णित साधना-मार्ग से दिखाई है।[1] अत. सूक्ष्म साधना के सम्बन्ध मे ध्यान-सम्प्रदाय की बौद्ध तन्त्र-यान से भी कुछ समानताए अवश्य हैं और हो सकती हैं, जिनका तात्त्विक अध्ययन आवश्यक है।

'ध्यान' और नाथ-पन्थ

तान्त्रिक बौद्ध धर्म, नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थी साधना, यह पूरी की पूरी कडी ध्यान-सम्प्रदाय के समान "शास्त्रो से बाहर एक विशेष संप्रेषण" है। यह बात बड़े महत्व की है और इन साधना-धाराओ की अनेक समानताओं की इस तथ्य से बड़ी सन्तोषजनक व्याख्या हो जाती है। बौद्ध सिद्धो का तो कुछ कहना ही नहीं, गुरु गोरखनाथ और कबीर आदि सन्तो ने भी परम्परागत शास्त्रीय परम्परा से अपने को प्राय. अलग ही रक्खा है। उन्होंने कही-कही इस परम्परा के प्रति तिरस्कार-बुद्धि भी प्रदर्शित की है। गुरु गोरखनाथ 'उलटि वेद' की बात कहते हैं और कबीर ने तो कहा ही है कि "लोक वेद कुल की मरियादा यहै गले मे फांसी।" स्वानुभूत सत्य से बड़ी उनके लिए और कोई गवाही नही है और उसे प्राप्त करने के पश्चात् ही वे 'आगम-निगम' के झूठा होने की घोषणा कर देते हैं। "कहै कबीर मन मनहिं समाना, तब आगम निगम झूठ करि जाना।" यह कितना सार्थक है कि "मन मनहिं समाना" की साधना बिलकुल ध्यान-सम्प्रदाय की साधना ही है, क्योकि सापेक्ष, व्यक्तिगत मन की निरपेक्ष, समष्टिगत मन मे समाने की बात ध्यान-सम्प्रदाय मे—केवल ध्यान-सम्प्रदाय मे—प्रभावशाली ढंग से कही गई है और दो मनो का सिद्धान्त उसका अपना है, जिसमे एक मन व्यक्तिगत है, दूसरा निरपेक्ष जिसे 'मन का सार' कहा गया है और परम सत्य का रूप दिया गया है। कबीर ने इन्हें क्रमश: 'इन मन' ('यह मन') और ('उन मन' ('उस मन') कहा है। इस पर हम विस्तार

---

१. दि जेन् टीचिंग ऑव हुआङ्-पो ऑन् दि ट्रांसमिशन ऑव माइण्ड, पृ० ९ (अनुवादक की भूमिका)।

से बाद मे आयेंगे। यहा केवल शास्त्रो से बाहर की परम्परा पर विचार कर रहे हैं। कबीर ने कहा है कि अज्ञानी होने की अवस्था मे ही उन्होने 'लोक और वेद' का अनुगमन किया, परन्तु जब गुरु ने आगे से आकर उन्हें स्वानुभूत ज्ञान रूपी दीपक हाथ मे दे दिया, तो उन्होने 'लोक-वेद' को छोड दिया। "पाछै लागा जाइ था, लोक वेद के साथि। आगै थैं सतगुरु मिला, दीपक दीया हाथि।" उपनिषद् के ऋषि के समान ("प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा") कबीर ने समझ लिया था कि कर्मकाण्डमय धर्म जर्जर बेडा है। कबीर उसमे डूबने वाले ही थे कि गुरु ने मौज मे आकर कृपा की और वे फडाक से उस पर से कूद पडे और उबर गये। "बूडे थे परि ऊबरे, गुरु की लहरि चमकि। भेर्‌या देखा जरजरा, तब ऊतरि परे फरंकि।" 'कागद की लेखी' बात को कबीर कदापि प्रमाण मानने को उद्यत नही हैं। गोस्वामी तुलसीदास, जो 'श्रुति-सम्मत' भक्ति-मार्ग को मानने वाले थे, गुरु गोरखनाथ और कबीर की इस प्रवृत्ति को इसीलिये शुभ नही मानते थे और इसीलिये उन्होने इन दोनो की वेद-विरोधी प्रवृत्ति की भर्त्सना भी की है। गोरखनाथ ने जिस योग को जगाया, उसके सम्बन्ध मे उनका कहना है कि उसने लोगो के हृदय से भक्ति को भगा दिया है और अनायास ही लोगो को वेद के आदेशो से छल लिया है: "गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग, निगम नियोग ते सो केलि ही छर्‌यो सो है।" इसी प्रकार साखी-सबदी कहने वाले निर्गुण-पन्थी साधुओ से भी वे इसीलिये खिन्न हैं कि वे "निन्दहिं वेद पुरान।" इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ दोनो ऐसी साधना-धारा से सम्बन्धित थे जो ध्यान-सम्प्रदाय के समान बिलकुल "शास्त्रो से बाहर एक विशेष सप्रेषण" थे। अत. स्वभावत. इन सब साधना-धाराओ के समान स्रोत की कल्पना की जा सकती है, जो आदिम काल से ही भारतीय साधना के इतिहास मे किसी न किसी रूप मे उसकी मूल धारा से एक भिन्न परम्परा के रूप मे दृष्टिगोचर होती रही है। यदि वेद की परम्परा को हम 'ब्राह्मण्य' की परम्परा कहे, तो इसको हम आसानी से 'श्रामण्य' की परम्परा कह सकते हैं। बौद्ध धर्म और जैन धर्म इस 'श्रामण्य' की परम्परा के ही रूप हैं। ध्यान-सम्प्रदाय यद्यपि बौद्ध धर्म का ही एक सम्प्रदाय है, परन्तु वह बौद्ध शास्त्रो को भी प्रमाण-रूप ग्रहण नही करता और इसीलिये उसकी भी कुछ अन्य बौद्ध सम्प्रदायो द्वारा उसी प्रकार भर्त्सना की गई है, जिस प्रकार नाथ-योगियो या निर्गुणपन्थी साधुओं की गोस्वामी तुलसीदास जी के द्वारा। चीन और जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास से यह बात भली प्रकार ज्ञात हो जाती है, जहा अन्य सम्प्रदायाचार्यों ने ध्यान-गुरुओ के बौद्ध ग्रन्थो को भी न मानने की भर्त्सना

की है। भारत मे ध्यान-सम्प्रदाय के अट्ठाईसवें धर्मगुरु वोधिधर्म के समय तक ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा गुरु-शिष्य क्रम से विलकुल अज्ञात रूप मे चलती रही, इस वात की भी समानता नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ की साधना-धाराओ के स्रोतो की खोज करने पर देखी जा सकती है। वे विलकुल मौखिक रूप मे गुरु-शिष्य क्रम से आई हुई साधना-धाराए हैं, जिनका परम्परागत शास्त्रीय धारा से समानान्तर रूप मे विभिन्न अस्तित्व रहा है।

नाथ-पन्थ के सम्बन्ध मे एक विशेप वात और। नाथ-पन्थ वस्तुत: बौद्ध धर्म का ही एक रूप है, भग्न रूप! इस वात को हिन्दी साहित्य के अध्ययन मे वहुत कम समझा गया है। न तो हिन्दी साहित्य के आदि-काल सम्वन्धी विवरणो मे और न नाथ-पन्थ पर लिखे गये स्वतन्त्र विवरणो मे इस वात की सम्यक् अवगति दिखाई पडती है कि नाथ-पन्थ का वौद्ध धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वौद्ध तान्त्रिक साधना के साथ नाथ-पन्थ के कुछ समान आचार्य या गुरु हैं, इस सामान्य तथ्य की स्वीकृति अवश्य की जाती है, परन्तु विवेचनों मे सब बातो को पुराणो आदि की पृष्ठभूमि मे ही व्याख्यात करने का प्रयत्न किया जाता है। यह पद्धति इन साधनाओ के इतिहास के अनुकूल नही है। हिन्दी साहित्य के आदि-काल की वौद्ध पृष्ठभूमि है, इसे अधिक प्रशस्त रूप मे दिखाये जाने की आवश्यकता है। हिन्दी साहित्य का प्रथम शृखलावद्ध इतिहास जिन आलोचक-शिरोमणि ने लिखा, वे 'रागात्मक' तत्व के पीछे इतने पागल थे और 'अन्त.साधना' से इतने चिढे हुए कि उन्हें इन दोनो मे कोई सम्वन्ध ही नही नजर आता था। न मालूम वे कैसे विचारक थे और भारतीय साधना, साहित्य और संस्कृति की क्या व्यापक व्याख्या उन्हे मान्य थी? उनके वाद हिन्दी साहित्य मे, विशेषत आदि-काल और नाथ-पन्थ के सम्वन्ध मे जिनकी दुन्दुभी वजती है, वे मूल वात को छोड़कर अवान्तर प्रसंगो और शाब्दिक ववंडरो मे जाने मे इतने दक्ष हैं कि जिस वस्तु को वे स्वयं नही समझते उसे ही दूसरो को समझाना चाहते हैं। हा, हमसे अधिक नाथ-पन्थ को वगाली विद्वानो ने समझा है। वंगला साहित्य के भी आदि-काल की वौद्ध पृष्ठभूमि है और इसे उन्होंने हमसे अधिक सुनिश्चित और स्पष्ट रूप से समझा है और उसका मूल्यांकन भी किया है। आचार्य दिनेशचन्द्र सेन ने स्पष्टतापूर्वक स्वीकार किया है कि नाथ-पन्थ वौद्ध धर्म का ही एक रूप है।[1] उन्होने इस बात पर वल दिया है कि मध्यकालीन वैष्णव वंगाली कवियो के काव्यो मे, विशेपत. धर्म-मगलो मे,

१. हिस्ट्री आंव वगाली लेग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ३४ (द्वितीय सस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५४ ई०)।

मीननाथ, गोरक्षनाथ, हाडीपा और कालूपा का उल्लेख बौद्ध सन्तो के रूप मे ही किया गया है।[1] आदि-कालीन उडिया साहित्य से भी इसी प्रकार के महत्वपूर्ण साक्ष्य हमे मिलते हैं। इन सब की संगति मे ही हिन्दी नाथ-साहित्य का अध्ययन किया जा सकता है और उसके मूल स्रोतो को इसी दिशा मे समझा जा सकता है।

इस महत्वपूर्ण बात की ओर अभी विद्वानो का ध्यान बिलकुल नही गया है कि 'नाथ' बुद्धो का एक सामान्य नाम है और इससे भी अधिक यह महत्वपूर्ण बात कि नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ का प्राण-स्वरूप जो स्वानुभववेद्य ज्ञान है (शास्त्र-प्रमाणत्व के विरोध मे) उसे ही उपदेश करते 'नाथ' (बुद्ध) एक ऐसे ग्रन्थ मे दिखाये गये हैं, जो ईसा की दूसरी और पाचवी शताब्दियो के बीच की रचना है अर्थात् उन सब पुराणो और हठयोगी ग्रन्थो से पूर्व की जो पौराणिक रूप से शिव आदि के साथ नाथ-पन्थ का सम्बन्ध दिखाते हैं। लङ्कावतार-सूत्र[2] मे आया है—"यं देशयन्ति वै नाथा प्रत्यात्मगतिगोचरम्"। इस परम्परा से नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित हैं, उनके अतिरिक्त तत्व बाद के हैं। यह भी सोचना चाहिये कि यदि पुराणो के प्रकाश मे ही हमे गोरखनाथ और कबीर को समझना है तो इन महात्माओ की युग-युगो से चली आती हुई शास्त्रो से बाहर की परम्परा का क्या होगा और शास्त्र-प्रमाणत्व के विरोध मे उनके सरल अनुभव-ज्ञान का सारा इतिहास कहाँ चला जायगा ?

अस्तु, हम पहले (लङ्कावतार-सूत्र के विवेचन मे) और अभी ऊपर देख चुके हैं कि ध्यान-सम्प्रदाय मे स्व-सवेद्य ज्ञान ही सब कुछ है। "तुम्हें दूसरे के द्वारा इस (सत्य) को नही खोजना चाहिये।" बोधिधर्म ने यह बात शैन्-क्वाग् से कही थी और यह ध्यान-सम्प्रदाय की जान है। यह बात सन्त-साधना से बिलकुल मिलती है, जिसके लिए भी सबसे सच्ची साखी आंख की ही है। "साखी आंखी ज्ञान की।" 'आखो की देखी' अर्थात् स्वानुभूत सत्य ही निर्गुनिये सन्तो के लिए सबसे बडी गवाही है। कबीर की साखियो मे एक "परचा कौ अग" है। अन्य सन्तो ने भी 'परचा' या 'परिचै' की बात बार-बार कही है। गुरु गोरखनाथ ने भी इन शब्दो का प्रयोग बहुत किया है। यह परिचय सत्य

---

१. हिस्ट्री ऑव बंगाली लेंग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ३२ (द्वितीय संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५४ ई०)

२ पृ० ५४-५५।

का स्व-संवेद्य ज्ञान ही है, उसका सीधा आत्मगत परिचय ही है। हम पीछे ध्यान-सम्प्रदाय की साधना का विवेचन करते समय देख चुके हैं कि सत्य का यह सीधा परिचय ध्यानी साधकों के लिए कितना महत्वपूर्ण रहा है और इसके अभाव मे शास्त्रज्ञानसम्पन्न विद्वान् भी कितने हास्य के विषय बनाये गये हैं। हमने देखा है कि फू नामक एक जापानी बौद्ध भिक्षु निर्वाण-सूत्र पर प्रवचन करता हुआ धर्मकाय की व्याख्या कर रहा था। उसे देखकर यग्-चाउ नामक ध्यानी साधु को हँसी आ गई। विद्वान् भिक्षु को सन्देह हुआ कि उसने कोई गलत व्याख्या की है। इसलिये प्रवचन के बाद वह अपनी गलती समझने के लिए उस ध्यानी सन्त के पास गया। ध्यानी सन्त ने उसे बताया, "तुम्हारी व्याख्या मे कोई दोष नही था। मैं यह देखकर हँसा कि जिस वस्तु का तुम विवेचन कर रहे हो, उसका प्रत्यक्ष, सीधा ज्ञान तुम्हे नही है।" फू जैसे ही किसी पण्डित को प्रवचन करते देखकर कबीर को भी हँसी आ गई थी और उन्होने कहा था, "पढि पढि पण्डित वेद बखानै। भीतर हूती बसत न जाणै।" जिसको स्वयं अनुभव नही, वह मर्म को नही समझा सकता। "परचै बिना मरम को पावै।" अत: पहले 'परिचय' प्राप्त करना चाहिये, बाद मे अर्थ विचारना चाहिये, तो अर्थ मिल जाता है। "अनभै ह्वै तौ अर्थ विचारै।" यही बात बिलकुल छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् ने कही थी, यह हम पहले देख चुके हैं। अत स्वानुभव पर अत्यधिक जोर देने मे निर्गुण-पन्थ और 'ध्यान'-मत दोनो समान हैं। इस सम्बन्धी अभिव्यक्ति मे भी भारी समानता है। ध्यानी सन्त स्वानुभव को पानी पीने के समान बताते हैं। "जो पानी को पीता है, वह उसके स्वाद को जानता है।" कबीर साहब अधिक तीव्रतापूर्वक इसी बात को यों रखते हैं—"यदि तुम्हारा पैर आग पर पड़ा है, तो तुम आग के जलाने के स्वभाव को समझ सकते हो। जब तक आग पर पैर नही पड़ता, तब तक केवल 'आग', "आग' कहने से आग जला नही सकती।" "आगि कह्या दाझै नहीं जे नही चपे पाइ।" स्वानुभव बिना सब कुछ ज्ञान छूंछा है, निरर्थक है। कबीर का यह कहना कि उन्होंने अपने अनुभव से संसार को पार किया है "अनभै उतर्या पार" बिलकुल किसी ध्यानी सन्त के मुख से निकली वाणी मालूम पड़ती है और इसी प्रकार "करत विचार मनहिं मन उपजी" वाणी बिलकुल ध्यान-सम्प्रदाय की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है, जो "अपने स्वभाव के अन्दर देखना और बुद्धत्व प्राप्त कर लेना" पर जोर देती हैं। ध्यान-सम्प्रदाय के समान सम्पूर्ण सन्त-साहित्य भी अनुभव का विस्तार ही है। "अनुभव की बात कबीर कहैं" यह एक कबीर-वाणी है। इसे बिलकुल ध्यान-वाणी माना जा सकता

है। कबीर मानते हैं कि जो कुछ उन्होने कहा है सब 'साखी' या साक्ष्य है। "साखी कहै कबीर।" सम्पूर्ण 'ध्यान'-साहित्य भी केवल 'साखी' मात्र है।

गुरु-महिमा और साखी

एक महत्वपूर्ण समानता की बात और भी इन सब साधना-धाराओ मे मिलती है, जो "शास्त्रो से बाहर एक विशेष सप्रेषण" मानी जा सकती है। वह है गुरु-महत्व की बात। यद्यपि गुरु-महिमा की बात श्रुतियो मे भी आई है और कहा गया है कि "उसको जानने के लिए गुरु के पास ही जाना चाहिये" ("तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्"), परन्तु यह गुरु-महत्व वहा फिर भी सीमित है, शास्त्र-महत्व के द्वारा। ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान को जानने के लिए हमे गुरु के पास जाना चाहिये, परन्तु उस ब्रह्म के सम्बन्ध मे प्रमाण तो शास्त्र ही है ("शास्त्रयोनित्त्वात्")। अत. परम्परावादी वैदिक धारा मे हमे सर्वत्र शास्त्र-महिमा मिलेगी। गीता मे भी शास्त्र-विधि के उत्सर्ग को अच्छा नही माना गया है और 'शास्त्रविधानोक्त' को जानकर ही कर्म करने का आदेश दिया गया है। परन्तु जो साधनाए सत्य के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार के शास्त्र-प्रमाण को स्वीकार नही करती और न शास्त्र-परम्पराओ से ही अपने को बाधती हैं, उनके पास सत्य को या स्वानुभव को परखने की क्या कसौटी है और उनकी परम्परा मे एकसूत्रता लाने वाला तत्व क्या है? निश्चयत. गुरु-शिष्य के क्रम से सत्य या स्वानुभव का सप्रेषण ही। अत. हम देखते हैं कि 'साखी' का यहा विशेष महत्व है, और वह परम्परावादी धारा के 'शास्त्र' के ही प्राय: समान है। जो स्वानुभव एक सन्त को हुआ है, वह सच्चा है या मिथ्या, इसका प्रमाण क्या है? प्रमाण है कि उसका कोई साखी बने, गवाही बने, अर्थात् ऐसा कोई सन्त मिले, या गुरु मिले, जो अपने अनुभव के आधार पर गवाही दे सके कि तेरा अनुभव सच्चा है। अनेक सन्तो ने इसी प्रकार पिछले सन्तो की साख भरी है और वे स्वयं दूसरो के लिए गवाही बने हैं। सन्तो की 'साखी' का यही वास्तविक मर्म है। कबीर साहब गुरु गोरखनाथ की गवाही देते हुए कहते हैं, "साखी गोरखनाथ ज्यूं अमर भये कलि माहि।" हम जानते हैं कि काण्हपा ने भी इसी प्रकार अपने पूर्व गुरु जालन्धरापा की गवाही दी थी। और यह गवाही इसी प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय मे भी बडी आवश्यक और महत्वपूर्ण मानी गई है। हम पीछे तीसरे परिच्छेद मे देख चुके हैं कि किस प्रकार युग्-चिआ त-शिह् (योका डेशी) हुइ-नेंग् से अपने अनुभव के बारे मे साखी या गवाही लेने गये थे और उस पर उन्होने उनके अनुभव की सही लगवाई थी। हुइ-नेंग् के एक शिष्य ने, जिनसे

युग्-चिग्रा त-शिह् की मुलाकात हुई थी, उनसे कहा था कि ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा मे प्रथम बुद्ध (भीष्मगर्जितेश्वर) के समय से ही यह बहुत आवश्यक माना गया है कि अपने अनुभव की साखी करने वाला कोई (गुरु) होना चाहिये और उसकी बात मानकर ही वे हुइ-नेंग् के पास गये थे और उन्हें अपना गुरु बनाया था। आज भी ध्यान-सम्प्रदाय की साधना मे गुरु का बहुत महत्व माना जाता है और जब तक कोई साधक अपने अनुभव का अभ्यनुमोदन गुरु से नही करवा लेता, या दूसरे शब्दो मे उसकी साखी नही ले लेता, उसका अनुभव प्रामाणिक नही माना जाता। किसी का अनुभव कितना ही मौलिक या गुरु से भिन्न हो सकता है, इस सम्बन्ध मे बौद्ध ध्यान-सम्प्रदाय बहुत उदार है और वह यह भी मानता है कि बिना गुरु की सहायता के भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है (जबकि भारतीय सन्त-मत मे गुरु-महिमा का कुछ अतिवाद-सा है)। परन्तु गुरु की गवाही फिर भी बहुत आवश्यक और महत्वपूर्ण मानी गई है, और वह ली जाती और दी जाती है। इस प्रकार 'साखी' की परम्परा वहा आज तक जीवन्त रूप मे विद्यमान है।

'ध्यान' और निर्गुण-साधना

हम पहले ध्यान-सम्प्रदाय के विवरण-प्रसग मे देख चुके हैं कि किस प्रकार एक धर्मनायक द्वारा दूसरे धर्मनायक को चीवर प्रदान करके धर्मनायकत्व का अधिकार दिया जाता था। इसके सम्बन्ध मे 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' मे कहा गया है, "जब धर्मनायक बोधिधर्म प्रथम बार चीन मे आये तो अधिकतर चीनियो का उनमे विश्वास नही था, इसलिये गवाही के रूप मे यह चीवर एक धर्मनायक से दूसरे धर्मनायक को प्रेषित किया जाता है।"[1] इस प्रकार यह गवाही या साखी का तत्व ध्यान-साधना मे छठी शताब्दी ईसवी से ही प्रचलित है, अर्थात् मध्यकालीन भारतीय साधना के कम से कम सात-सौ आठ सौ वर्ष पूर्व से।

'अंग' का अभिप्राय

एक प्रासगिक बात इस सम्बन्ध मे और। कबीर और अन्य सन्तो की साखिया 'अंगो' के रूप मे वर्गीकृत हैं, यथा "परचा कौ अग", "ज्ञान-विरह कौ अंग", "कुसंगति कौ अग", आदि। यदि 'साखी' का अर्थ साक्षी होना या गवाही

१. दि सूत्र ऑव वे-लेग् (हुइ-नेंग्), पृ० २०-२१।

देना है तो उनको इस सन्दर्भ मे 'अगो' के रूप मे वर्गीकृत करने का क्या अभिप्राय है ? मैं समझता हूं इसे अब तक कोई विद्वान् स्पष्ट नही कर सका है। इस लेखक को लगता है कि बौद्ध प्रयोग इस सम्बन्ध मे हमारी सहायता कर सकता है। आचार्य बुद्धघोष (पांचवी शताब्दी ईसवी) ने 'अग' शब्द का प्रयोग कारण के अर्थ मे 'विसुद्धिमग्ग' के द्वितीय परिच्छेद मे किया है। "अंगं ति कारणं वुच्चति।" पालि तिपिटक मे भी 'अंग' शब्द का प्रयोग कारण के अर्थ मे किया गया है।[1] यदि इस बौद्ध अर्थ को हम यहा प्रयुक्त करें तो साखियो को 'अगो' के रूप मे विभक्त करमे का रहस्य खुल जाता है। भिन्न-भिन्न 'कारणो' से यहां साखी दी जा रही है। जिस-जिस कारण से जो-जो साखी या गवाही दी जा रही है, उसका उल्लेख उस शीर्षक मे कर दिया गया है। इस प्रकार साखियो को 'अंगो' के रूप मे विभाजित करने की यह व्याख्या समझी जा सकती है। यह सम्भव नही है कि सन्तो ने अभिज्ञान-पूर्वक इसका प्रयोग किया हो (और यह विभाजन हुआ भी बाद मे), परन्तु एक मौखिक और शास्त्रो से भिन्न गुरु-शिष्य क्रम से संप्रेषण होने के नाते यह शब्द उपर्युक्त अर्थ मे सन्त-परम्परा मे आ गया हो, यह असम्भव नही है।

एक अन्य प्रयोग भी 'अग' शब्द का कबीर की साखियो मे हुआ है और वह भी आश्चर्यजनक रूप से बौद्ध प्रयोग ही है। एक साखी है :

निरवैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
विषिया सू न्यारा रहै, सन्तनि का अंग एह॥

"यह सन्तो का अग है" ('सन्तनि का अग एह') यह बिलकुल बौद्ध प्रयोग है। 'विसुद्धिमग्ग' के द्वितीय परिच्छेद मे ही इसके समानान्तर पालि प्रयोग है धुतग, अर्थात् धूतांग अर्थात् अवधूताग। इसका अर्थ है अवधूत का व्रत, नियम या अभ्यास। इतना ही नही, पाशुकूलिकाग (पाशुकूलिक होने का व्रत, नियम या अभ्यास), त्रैचीवरिकांग, एकासनिकाग, आरण्यकाग, वृक्षमूलिकाग जैसे तेरह प्रयोग वहा आये हैं। वैदिक परम्परा के साहित्य मे इस प्रकार का प्रयोग मुझे अब तक कही उपलब्ध नही हुआ है। कितना स्पष्ट है—'यह पांशुकूलिक का अग है', 'यह वृक्षमूलिक का अंग है' और इसी के सुर मे सुर मिलाकर कबीर साहब यह कहते हैं, "यह सन्तो का अग है"—'सन्तनि

---

१. देखिये विशेषत सोणदण्ड-सुत्त (दीघ• १।४) तथा कूटदन्त-सुत्त (दीघ १।५)।

का अंग एह'। 'शास्त्रो से बाहर' की परम्परा मे मौखिक रूप से शब्दो के आगमन के ऐसे अनेक उदाहरण और भी मिलेंगे, ऐसा इस लेखक को विश्वास है।

"शास्त्रो से बाहर एक विशेष सप्रेपण" होने के अतिरिक्त ध्यान-सम्प्रदाय की एक दूसरी बडी विशेपता यह बताई गई है कि वह शब्दो और वर्णों पर कोई निर्भरता नही मानता। यह बात वास्तव मे पहली बात की ही पूरक है और नाथ-पन्थ और सन्त-मत की परम्परा मे भी पूरी तरह पाई जाती है। "बानी तेरे बहुत बने पकवाना" की बात कहने वाले कबीर इसे सम्भवतः ध्यान-सम्प्रदाय के साधको से भी अधिक अच्छी तरह जानते हैं। वे भी वस्तुतः 'अशब्द' ज्ञान के पुजारी हैं। 'बीजक' मे कबीर की वाणी है "बिनु अच्छर सुधि होई।" यह ध्यान-सम्प्रदाय की 'अशब्द' साधना का सर्वोत्तम विवरण ही है। कबीर साहब ने हरि-कथा को 'अनाहद बानी' कहा है। यह 'अशब्द ज्ञान' ही है। कबीर साहब ने कहा है कि साखी और सबदी भी उन्होंने अज्ञान की अवस्था मे ही कही हैं और अब जब उन्होंने कुछ जाना है, तो उनके लिए कुछ कहना शेष नही रह गया है। पुस्तकीय ज्ञान से कबीर कुछ बडी उपलब्धि आध्यात्मिक साधना मे नही मानते और उसे साधना से निम्न स्थान देते हैं। "पढिबा थैं भल योग"। उन्होने स्वय 'मसि-कागद' नही छुआ था और न कलम हाथ मे पकड़ी थी। इस सम्बन्ध मे उनकी तुलना छठे धर्मनायक हुइ-नेग् से पूरी तरह की जा सकती है जो निरक्षर लकडहारे थे और जिन्होने ही ध्यान-सम्प्रदाय की जड़ें मजबूती से चीनी-भूमि मे जमाईं और जिनके द्वारा भाषित 'सूत्र' कबीर की बानी के समान ही निर्व्याज आध्यात्मिक अनुभूतियो से भरा विश्व-साहित्य का एक महान् ग्रथ है। गुरु गोरखनाथ ने भी अध्ययन-अनुशीलन से बडा स्थान ध्यान को दिया है। वे जब यह कहते हैं कि 'ध्यान उपराति ग्रन्थ नाहीं' अर्थात् "ध्यान से ऊपर कोई ग्रन्थ नही है" तो वे निश्चयतः चीन या जापान के एक ध्यानाचार्य जैसे ही लगते हैं। शब्दो और वर्णों से व्यतिरिक्त सत्य के गूढ सप्रेपण पर नाथ-पन्थ और सन्त-मत मे इतना अधिक जोर है और इस सम्बन्ध मे उनकी इतनी अधिक बानिया हैं कि उन पर विस्तार करने की आवश्यकता प्रतीत नही होती।

'मनुष्य की आत्मा की ओर सीधा संकेत' और "अपने ही स्व-भाव के अन्दर देखना" ध्यान-सम्प्रदाय की विशेषताए बताई गई हैं। परन्तु ये वस्तुतः सभी अन्त-साधनाओ मे पाई जाती हैं, वेदान्त और योग मे भी और सन्तो की साधना आदि मे भी। बिना आत्मचिन्तन के साधना एक पग भी आगे नही

बढती, अत. उसका अभ्यास सभी दार्शनिक नयो मे बिंधा मिलेगा। फिर भी सन्तों की जैसी सत्य की सीधी पकड है, और व्यक्तिगत 'सुमिरन' और 'सुरति-निरति' पर उनकी साधना मे जो जोर है, उससे यह साधना ध्यान-सम्प्रदाय की साधना के बहुत समीप अनायास रूप से आ जाती है। कबीर ने जिस प्रकार ज्ञान प्राप्त किया, उसकी प्रक्रिया को सक्षेप मे बताते हुए उन्होने कहा है, "करत विचार मनहिं मन उपजी, ना कहू गया न आया।" यह "करत विचार मनहिं मन उपजी" की बात, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, ऐसी है जो किसी भी ध्यान-सम्प्रदाय के साधक के मुख से भी आसानी से निकल सकती थी। इसी प्रकार कबीर ने कहा है कि उन्होने अपनी बानियो मे 'आतम-साधन-सार' को ही समझाया है। ध्यान-सम्प्रदाय का मूल तत्व भी 'आतम-साधन-सार' ही है और इसके अलावा कुछ नहीं। कबीर ने ज्ञानी का लक्षण करते हुए बताया है कि अपने आप जो विचार करता है, वह ज्ञानी होता है। "आपु विचारै सो ज्ञानी होई।" उन्होने अन्यत्र भी कहा है कि अपने 'उनमान' से ही उन्होने सत्य को कुछ समझा है। दूसरो से भी वे यही कहते है "तू चलि अपने उनमान।" ये सब वाणिया बुद्ध के 'आत्म-शरण, आत्म-दीप' होने के उपदेश से मिलती हैं और ध्यान-सम्प्रदाय मे भी समान रूप से पाई जाती हैं। स्वानुभूति-प्रधान सभी साधनाओ मे तर्क को स्थान नही मिलता। ध्यान-सम्प्रदाय तो मानता है कि उसकी साधना मे ऐसा कुछ नही है, जिसके विषय मे तर्क किया जा सके। कुछ भी तर्क करना इसके उद्देश्य के विपरीत है। "बौद्धिकता और शब्द-परता, जितने ही ये अधिक होगे, उतने ही हम सत्य से दूर चले जाते हैं।" ऐसा ध्यान-सम्प्रदाय मानता है। वह हमे आगाह करता है कि "सरकडे के एक टुकडे को लेकर आकाश को नापना बन्द करो।" ये सब भावनाएं सम्पूर्ण मध्ययुगीन भारतीय साधना मे और विशेषत. निर्गुणपन्थी साधना मे अभिव्याप्त मिलेंगी।

ज्ञान और गरीबी

वैसे तो सभी साधक गरीबी का जीवन बिताते रहे हैं, परन्तु निर्गुणपन्थी साधुओ और ध्यान-सम्प्रदाय के साधको की यह एक विशेषता है। कितना साम्य है कबीर और छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् के जीवन मे! एक अपढ जुलाहा, दूसरा बिलकुल अपढ लकडहारा। जिस प्रकार एक को हम करघे पर ताना-बाना बुनते देखते हैं, उसी प्रकार दूसरे को बास की डाली साफ करते हुए और भिक्षु-अवस्था मे भी चावल कूटते हुए और ईंधन के लिए लकडी फाडते हुए! "कर गुजरान

गरीवी मे" दोनो का ही आदर्श है। चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास मे कई वार उस पर विपत्तिया आई और कई बार विरोधी सम्राटो का उसे कोपभाजन होना पडा, परन्तु इससे ध्यान-सम्प्रदाय का कोई विगाड नही हुआ। नदियो के तटो, वृक्ष-मूलो या पहाड़ियो पर झोपड़ियो मे निवास करते हुए इस सम्प्रदाय के भिक्षुओ पर विपरीत राजनीति का कोई प्रभाव नही पड़ सका और यही कारण है कि आज भी उनकी साधना विद्यमान है। निर्गुणपन्थी सन्तों और ध्यान-सम्प्रदाय के योगियो की साधनाएं गरीवी मे ही उत्पन्न हुई हैं और गरीवी मे ही फैली-फूली हैं। ज्ञान की वास्तविक परीक्षा भी गरीबी या अकिंचनता मे ही है।

जीविका के लिए कुछ न कुछ धन्धा करते हुए सत्य-साधना मे प्रवृत्त होना चाहिये, ऐसी सन्तो की मान्यता थी। अतः वे उन विरक्त साधुओ से भिन्न थे जो विलकुल घर को छोड देते है। "घर तजि अनत न जावै।" ऐसा निर्गुण-पन्थी सन्तो का कहना है। दादू, कवीर, रैदास आदि सवने कुछ-न-कुछ उद्योग करते हुए ही साधना की। कवीर साहव कितने मार्मिक ढंग से साधना के इस विमल रूप को प्रकट करते हैं। वे कहते हैं कि यदि केवल धन्धे मे ही मनुष्य पडा रहे तो वह धूल के समान हो जाता है, उसका जीवन निरर्थक है, परन्तु यदि कोई धन्धा न किया जाय, तव तो धूल भी हाथ नही लगती। इसलिये धन्धे मे ही ध्याना चाहिये, ध्यान करना चाहिये; जो ऐसा नही करते वे मूलतः विनष्ट ही है। "कवीर जे धन्धै तो धूलि। विन धधे धूलो नही। ते नर बिनठे मूलि जिनि धवे मे ध्याया नही।" निश्चयतः कवीर साहव यहां ध्यान-सम्प्रदाय की साधना को ही अनायास वाणी दे रहे हैं, जो भी विलकुल यही कहती है कि जो परिश्रम नही करता उसे रोटी खाने का अधिकार नही है। बौद्ध धर्म मे वस्तुतः आरम्भिक रूप मे भिक्षाचर्या की प्रतिष्ठा थी। इसे पूर्वेशिया की व्यावहारिक सभ्यता की बौद्ध धर्म को एक मौलिक देन ही समझना चाहिये कि उसने उसमे श्रम की प्रतिष्ठा की। महायान मे यह श्रम की नवीन प्रतिष्ठा सर्वत्र पाई जाती हैं। यह आश्चर्यजनक है कि यही वात भारतीय मध्ययुगीन सन्तो के जीवन मे भी पाई जाती है, जो भी प्राय. अधिकतर गृहस्थ थे और जीविका के लिए कुछ-न-कुछ धन्धा करना आवश्यक मानते थे।

'युगपद्' और 'क्रमवृत्य' साधना

'युगपद्' और 'क्रमवृत्य' सत्य-प्राप्ति की प्रक्रियाओ मे से दोनो की स्वीकृति हमे कवीर की वानी मे मिलती है। कही वे सहसा ज्ञान-प्राप्ति के अनुभव की

गवाही देते हुए कहते हैं कि यदि रच मात्र भी नाम की साधना की जाय, तो करोडो दुष्कर्म एक पल भर मे नष्ट किये जा सकते हैं और हरि की शरण मे आने पर करोड़ो कर्म (दुष्कर्म) एक पल भर मे नष्ट हो जाते हैं—"कोटि क्रम पेले पलक मे जे रंचक आवै नाउ…कोटि करम फिल पलक मे जब आया हरि की ओट।" यह वाणी छठे धर्मनायक की इस गवाही के बिलकुल समान है कि "कल्प-कल्पान्त तक भी यदि कोई मनुष्य मोह मे रहा हो, परन्तु एक बार ज्ञानोद्दीप्त होने पर वह एक पल भर मे ही बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।" तथा "प्रज्ञा की एक चिनगारी युगो से चली आती हुई अविद्या को नष्ट कर सकती है।" इसके साथ ही कबीर 'क्रमवृत्य' सत्य-प्राप्ति के तत्व को अपने मन को समझाते हुए कहते हैं कि "धीरे-धीरे रे मना धीरे सब कछु होइ।" गोस्वामी तुलसीदास जी 'क्रमवृत्य' सत्य-प्राप्ति को मानते जान पड़ते है। "तुलसिदास कह चिद विलास जग बूझत बूझत बूझै।" सामान्यत मध्यकालीन सन्तो की वानियो मे इन दोनो प्रक्रियाओ सम्बन्धी साक्ष्य देखे जा सकते हैं। परन्तु भारतीय साधना अधिकतर 'क्रमवृत्य' सिद्धि मे ही अधिक विश्वास करती है। बाउल सन्त भी गाते हुए सुने गये हैं "भवसागर होइवे पार धीरे-धीरे।"

'स्व-शक्ति' और 'पर-शक्ति' साधनाएं

आध्यात्मिक साधना मे स्व-पुरुषार्थ को मुख्य मानने वाली और पर-सहायता या भगवत्कृपा के अवलम्ब को मुख्यत: लेने वाली, ये दो साधको की श्रेणियां सर्वत्र मिलेंगी। इनमे आत्यन्तिक भेद तो नही है, परन्तु मुख्यता या गौणता की दृष्टि से यह भेद किया जा सकता है। मूल बुद्ध-धर्म, वेदान्त और योग की साधनाए साधक के अपने पुरुषार्थ पर अवलम्बित हैं। साधारणत. 'ज्ञान-मार्ग' कहा जाने वाला साधना-पथ पुरुषार्थवादी ही है, वह स्व-शक्ति का हामी है। दूसरा साधना-पथ स्व-शक्ति मे विश्वास नही रखता, उसे अपने बल का भरोसा नही रहता, वह पर-शक्ति की, किसी दूसरी शक्ति की, सहायता से जीवन के लक्ष्य को पूरा करना चाहता है। यह पर-शक्ति बुद्ध हो सकते हैं, राम हो सकते हैं, या अन्य कोई भी सगुण या निर्गुण रूप। ससार भर की धर्म-साधनाओ को इन दो मोटे रूपो मे बाटा जा सकता है। मध्यकालीन भक्ति-साधना सामान्यतः 'पर-शक्ति' साधना है। ईसाई धर्म भी ऐसा ही है। जापानी बौद्ध धर्म के सुखावती, जोदो और शिन्-शु सम्प्रदाय प्रबल रूप से 'पर-शक्ति' सम्प्रदाय हैं। एक परम शक्ति के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना यहा प्रधान है और केवल उसी की कृपा से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव मानी जाती हैं। जहा तक भारतीय साधना

का सम्बन्ध है, गोस्वामी तुलसीदास को इस 'पर-शक्ति' धर्म-साधना का सम्भवतः सबसे बडा साधक माना जा सकता है। "ताहि ते आयो सरन सवेरे। ग्यान विराग भगति साधन कछु सपनेहु नाथ न मोरे।...विष पियूष सम करहु अगिनि हिम तारि सकहु विनु वेरे।.. तुलसिदास यह विपति बाँगरो तुमहिं सो बनै निवेरे"—या "तुलसिदास प्रभु मोह-शृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे।" ये भावनाएं 'पर-शक्ति' साधना की प्राण है और उसकी चरम सीमा! कबीर मे भी यही रूप प्रधान है, यद्यपि 'स्व-शक्ति' का आभास भी उनमे कही-कही हैं। मीरा जी पूरी तरह पर-शक्ति साधिका है। वे बार-बार गिरिधर नागर को सम्बोधन कर कहती हैं, "थे बल उतर्‌या पार" ("हे प्रभु जी! तुम्हारे ही बल से मैं पार उतरी)"। जहा तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, वह मुख्यतः 'स्व-शक्ति' धर्म-साधना ही है, परन्तु 'पर-शक्ति' के सहारे के बिना उसका भी पूरा काम नही चलता, यह भी स्पष्ट है। अनेक ध्यानी साधक अमिताभ (बुद्ध) के नाम का जप करते हैं और उसे चित्त की साधना मे आवश्यक साधन मानते हैं। चीन और जापान के ध्यानागारो मे प्रतिदिन बुद्ध की स्तुति की जाती है और यह विश्वास प्रकट किया जाता है कि बिना बुद्ध की शक्ति की सहायता के हम इस भवसागर को पार नही कर सकते, यह हम पहले देख ही चुके है। बौद्ध धर्म का एक दूसरा सम्प्रदाय, जिसका नाम सुखावती सम्प्रदाय है, मुख्यतः 'पर-शक्ति' सम्प्रदाय है और मुक्ति के लिए अमिताभ के नाम के जप के अलावा और कोई साधन जानता ही नही। बारहवी-तेरहवी शताब्दी के जापानी महात्मा होनेन् और शिनरेन्, जो गुरु-शिष्य थे, और अमिताभ के नाम-जप के एकान्त प्रचारक, गोस्वामी तुलसीदास जी के बिलकुल समानधर्मा जैसे लगते हैं। "निज भुज बल भरोस मोहिं नाही" की भावना के साथ दोनो जगह एक परम सत्ता की तारक शक्ति मे दृढतम विश्वास है, सिर्फ इस अन्तर के साथ कि एक जगह वह 'पर-शक्ति' 'राम' नाम से सम्बोधित की गई है तो दूसरी जगह 'अमिताभ' के नाम मे। दोनो ने ही पापियो और दुःखियो को तारने का अमोघ व्रत लिया हुआ है और हमे केवल उनकी शरणागति लेनी है। "हठि हठि अधम उधारे" का व्रत अमिताभ ने भी राम के सदृश ले रक्खा है और राम भी अन्ततः अमित आभा वाले ही हैं। "सहज प्रकाश रूप भगवाना"। समाधि-साधन मे 'स्व-शक्ति' और 'पर-शक्ति' के प्राधान्य को लेकर जापान मे ध्यान-सम्प्रदाय की दो साधना-शाखाएं प्रचलित हैं, जो क्रमश 'जिरिकी' और 'तरिकी' कहलाती हैं। कुछ भी हो, नाम-साधन ध्यान-सम्प्रदाय के साधको को भी ध्यान के सहायक के रूप मे प्राप्त है, जो हमारी सम्पूर्ण मध्ययुगीन साधना

की मूल शक्ति भी है। इन सब बातों को देखकर ऐसा लगता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने जो 'नाम' को अगुण और सगुण के बीच 'सुसाखी' और 'चतुर दुभाषी' कहा है, वह उतने तक ही सीमित नही है, बल्कि 'नाम' बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म के बीच भी 'सुसाखी' है, भारत, चीन और जापान के साधको के बीच वह 'चतुर दुभाषिया' है, और इतना ही नही, पूर्व और पश्चिम की साधनाओ के बीच, हिन्दू धर्म, इस्लाम और ईसाई साधनाओ के बीच भी वह 'चतुर दुभाषिया' है। जहा तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, इस 'उभय प्रबोधक', चतुर दुभाषिये ने हमे सचमुच बडा सन्तोष और आश्वासन दिया है। हा, एक सूक्ष्म अन्तर यह अवश्य है कि सन्त-साधना के लिए 'सबद' सिद्धि है और 'सुरति' उसकी सहायक है। इस स्थिति को गुरु गोरखनाथ ने इस प्रकार दिखाया है : "सुरति सो साधिक, सबद सो सिधि।" ध्यान-सम्प्रदाय मे 'सबद' साधन मात्र है और 'सुरति' सिद्धि है। नाम-साधना ध्यान-सम्प्रदाय का अनिवार्य अग नही है, वह वहा साधन मात्र है साधक को 'सटोरी'(अस्थायी बोधि-अनुभव) प्राप्त कराने के लिए, जिसे साधक आवश्यकता के अनुसार प्रयोग करते है। मूल बुद्ध-धर्म मे 'स्मृति' एक अत्यन्त बलवती साधना है, ध्यान-सम्प्रदाय मे भी उसका कुछ-कुछ यही रूप है, परन्तु युग-युगो के साधको की असफलताओ के थपेडे खा-खाकर यह सन्त-साधना मे क्षीण हो गई है, दब-सी गई है और 'नाम' के अधीन होकर अपना गुजारा कर रही है।

'सब्द-सुरति-योग'

यहा मैं अपने एक विश्वास को और प्रकट कर दू। सन्तो ने 'सब्द-सुरति-योग' की साधना का वर्णन किया है। इससे मैंने यह समझा है कि वे 'सब्द' या 'नाम' की साधना को जो मुख्यत वैष्णव है, बौद्ध साधना-मार्ग की 'स्मृति' से जोड़ना चाहते है। 'स्मृति' काया, सवेदन, चित्त और मन के विषयो (धर्मों) सम्बन्धी चिन्तन, उनके अन्दर देखना और उनके सम्बन्ध मे निरन्तर जागरूकता बरतना है। बौद्ध साधना का यह प्राण है और 'ध्यान' मे भी गृहीत है। इस प्रकार निर्गुणवादी सन्त अपने 'नाम' को 'स्मृति' की साधना से जोडते है। ध्यानी सन्त 'स्मृति'-प्रस्थान का अभ्यास तो निरन्तर करते ही है, वे उसकी सहायता के लिए 'नाम' को भी प्रयुक्त करते हैं, 'नेम्बुत्सु' का भी सहारा लेते हैं, दूसरे शब्दो मे अमिताभ (बुद्ध) का नाम भी रटते हैं। इस प्रकार एक (निर्गुनिये) सन्त 'सब्द' को 'सुरति' के साथ जोडते हैं, तो दूसरे (ध्यानी सन्त) 'सुरति' को 'नाम' के साथ। इस प्रकार यह साधना-संगम हुआ है। यही एक साधन है, जिससे

बौद्ध साधक ही अपने श्रेष्ठतम प्रज्ञा के फल को प्राप्त नही करते, बल्कि वैष्णव जन भी इसी के सहारे बौद्ध साधनाओ—शमथ और विपश्यना—को दीपक हाथ में लिये उनके निर्वाण-पथ को प्रशस्त करते हुए अपने पास आते देखते हैं। यह गूढ सत्य केवल अनुभवगम्य ही है।

हठयोग

ध्यान-मत और सन्त-मत के सम्बन्ध का सन्धान करते-करते नाथ-पन्थ के साथ बौद्ध धर्म का सम्बन्ध दृढतर विदित होता है और प्रासंगिक रूप से ध्यान-सम्प्रदाय का भी। यह बात सर्वविदित है कि कबीर ने जिस साधु को 'योगी' या 'अवधू' या 'अवधूत' के नाम से बार-बार पुकारा है, वह नाथपन्थी योगी ही है। परन्तु योगी के रूप मे इस अवधूत के इतिहास की अभी आगे खोज नही की गई है। अधिकतर विद्वान्, जिन्होने नाथ-पन्थ की ऐतिहासिक गवेषणा की है, नव नाथो और चौरासी सिद्धो या अधिक-से-अधिक मध्यकालीन 'हठयोग-प्रदीपिका' तक ही गये हैं और उसके सूर्य-चन्द्र को मिलाने को ही हठयोग का सर्वस्व मानकर विवेचन करते रहे हैं। परन्तु, जैसा ऊपर से ही विदित होता है, यह एक कृत्रिम और उत्तरकालीन योग-स्थिति का विवरण-मात्र है जिसमे व्यावहारिक अर्थवत्ता कुछ भी नही है। हठयोग के मूल मे हमें एक सरल विधि अवश्य मिलेगी या मिलनी चाहिये, जिसमे 'हठ' शब्द के सरल अभिधार्थ का भी कुछ बोध हो। गोस्वामी तुलसीदास जी ने चातक की तरह 'हठ' कर राम नाम को जपने का उपदेश दिया "तुलसी हठ चातक ज्यो धरि कै।" या कहा "मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसै हौं।" हठयोग के मूल अर्थ मे ऐसा कुछ भाव अवश्य होना चाहिये। इस अर्थ मे तुलसीदास जी को हम एक प्रकार से 'हठयोगी' कहेंगे और यही मूल भाव 'हठयोग' मे होना चाहिये, सूर्य-चन्द्र मिलाने के कठिन, कृत्रिम और दूर के अर्थ निश्चय ही बाद के होने चाहिये। अब इतिहास मे ऐसा कौन-सा योगी हुआ है जिसने 'हठ' करके योग किया हो और सिद्धि प्राप्त की हो। इस प्रसंग मे सुनिये उन पुरुषोत्तम (बुद्ध) का 'ललित-विस्तर' मे यह संकल्प (अधिष्ठान):

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांस प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते॥

"इस आसन पर चाहे मेरा शरीर सूख जाय, चाहे मेरी त्वचा, हड्डियां और मांस

प्रलय को प्राप्त हो जायं, परन्तु जब तक मैं बोधि को प्राप्त नही कर लेता तब इस तक आसन से मेरा शरीर और मन नही डिगेगा।" यह था वह अधिष्ठान या दृढ सकल्प या 'हठ' जो उस अदम्य पुरुष ने 'वज्रासन' पर बैठकर और 'वज्र-समाधि' लगाते हुए किया था। इतिहास के प्रथम हठयोगी वस्तुतः भगवान् बुद्ध ही हैं। इस अर्थ मे दूसरे महान् हठयोगी मैं तुलसीदास जी को कहता हू, जिन्होने चातक की तरह हठ करके रामनाम को जपा। हठयोग के मूल अर्थ को मैं इसी रूप मे देखने का प्रस्ताव करता हूं, 'हठयोगप्रदीपिका' और उसके बाद की नाथ-पन्थ की व्याख्याएं, जिनका कुछ अनुगमन सन्तो तक ने किया, परवर्ती विकृत रूप मात्र हैं जिनकी व्यावहारिक उपादेयता न हम अपने शरीर पर घटित कर सकते हैं और न जिनका शरीर-विज्ञान से ही कुछ सम्बन्ध है। हां, विवेचन हम अनन्त काल तक करते रह सकते हैं, जिनसे सिवाय भोले-भाले पाठको को बहकाने के और कुछ भी लाभ होने वाला नही है और जो आज विचारकों के सामने हास्यास्पद मात्र ही है। यह अच्छा होगा कि 'चक्रो' के भेदन और उनकी साधना के परिणामस्वरूप पर-काय-प्रवेश और अजर-अमर होने आदि की बातें हम कम से कम करें। अदम्य सकल्प और उच्च मनोबल के विकास के रूप मे 'हठ' बोधिधर्म के जीवन और सम्पूर्ण ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास की एक विशेषता रही है और इसे ही उसका मौलिक, आदिम रूप माना जा सकता है। इस प्रसंग मे यह मनोरजक बात भी द्रष्टव्य है : कहा जाता है कि ध्यान का अभ्यास करते समय बोधिधर्म की आखो मे एक बार झपकी लग गई थी। तत्काल उन्होने अपनी पलको को काटकर धरती पर गिरा दिया ! यह है हठयोगी का वह रूप जो हमे छठी शताब्दी मे ध्यान-सम्प्रदाय के संस्थापक योगी बोधिधर्म के जीवन मे मिलता हैं और इस लेखक की यह धारणा है कि 'हठयोग' का यही मुल रूप होना चाहिये।

नाथ-पन्थ का उद्‌गम

हा, तो अवधूत जो नाथपन्थी साधु कहे गये हैं, उनका मूल अधिवास कहां है और उनकी उत्पत्ति कहा से दिखाई जा सकती है ? जहां तक बौद्ध धर्म का सम्बन्ध है, विद्वान् तान्त्रिक बौद्ध धर्म की 'अवधूती वृत्ति' तक ही उसका सन्धान पा सके हैं अर्थात् सातवी-आठवी शताब्दी ईसवी तक। इस सम्बन्ध मे लेखक का नम्र निवेदन यह है कि छठी-पाचवी शताब्दी ईसवी-पूर्व तक उनका इतिहास बौद्ध धर्म के साहित्य के सहारे जा सकता है। पालि तिपिटक मे बुद्ध के शिष्यो में कुछ ऐसे साधको के चिह्न विद्यमान हैं जो अवधूत-व्रतो ('धुतंगो') का अभ्यास

करते थे। अंगुत्तर-निकाय के एकक-निपात मे इस प्रकार के शिष्यो मे महा-काश्यप को अग्रणी बताया गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि बुद्ध के जीवन-काल मे, अर्थात् छठी-पाचवी शताब्दी ईसवी-पूर्व, अवधूत-साधना का एक रूप प्रचलित था और बुद्ध के कुछ शिष्य भी बुद्ध के शिष्य रहते हुए उनका अभ्यास करते थे। इस समय इस अवधूत-साधना का सम्बन्ध किसी विशेष सिद्धान्त या मत से नही हुआ था। बुद्ध-परिनिर्वाण के करीब एक सौ वर्ष बाद द्वितीय धर्म-सगीति वैशाली मे हुई। विनय-पिटक मे उसका जो विवरण दिया गया है, उससे विदित होता है कि उस समय अहोगग (अधोगग—हरिद्वार के समीप) पर्वत पर रहने वाले स्थविर सम्भूत साणवासि और पाठेय्य और अवन्ति-दक्षिणापथ के अन्य कई भिक्षु विभिन्न अवधूत-व्रतो के अभ्यासी थे। 'मिलिन्दपञ्हो' मे, जो ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी की या ईसवी सन् के आसपास की रचना है, अवधूत-व्रतो को बुद्ध द्वारा उपदिष्ट बताया गया है और उनके अभ्यास की प्रशसा की गई है। इस ग्रन्थ में (पांचवां परिच्छेद, अनुमान-प्रश्न) कहा गया है कि राजा मिलिन्द (मिनाण्डर) ने अनेक भिक्षुओ को गहन वन मे अवधूत-व्रतो का अभ्यास करते देखा। चतुर्थ शताब्दी ईसवी मे लङ्का मे लिखित 'द्वीपवश' (दीपवसो) मे कहा गया है कि इस समय लका द्वीप मे ऐसे स्थविर शोभायमान हैं जो अवधूत-व्रतो के आचरण से सम्पन्न हैं—"इदानि अत्थि थेरा'''धुतंगाचारसम्पन्ना'''सोभन्ति दीपलञ्जके।" १८।१-२। पांचवी शताब्दी ईसवी मे रचित 'विसुद्धिमग्गो' मे आचार्य बुद्धघोष ने तेरह अवधूत-व्रतो का उल्लेख किया है, जैसे धूलि-धूसरित (पाशुकूल) वस्त्रो को पहनना, वृक्षमूल-निवास, श्मशान-निवास, खुले आकाश के नीचे निवास, आदि, और समाधि की तैयारी के रूप मे इनकी उपादेयता दिखाई है। इतना ही नही, इस ग्रन्थ (द्वितीय परिच्छेद, धुतग-निद्देसो) मे अवधूत-व्रतो के अभ्यास के आधार पर, एक प्राचीन उद्धरण देते हुए, बुद्ध के शिष्यों का चार प्रकार से वर्गीकरण भी किया गया है। कहा गया है कि बुद्ध के कुछ शिष्य स्वयं अवधूत (धुत) थे, परन्तु अवधूत-व्रतो (धुतंग) का उपदेश वे नही करते थे। इस प्रकार के भिक्षुओ मे वक्कुल स्थविर का नाम दिया गया है। दूसरे प्रकार के भिक्षु वे थे जो स्वयं अवधूत नही थे, परन्तु 'धुतवादी' थे, अर्थात् अवधूत-व्रतो का उपदेश करते थे। इस प्रकार के भिक्षुओ मे उपनन्द स्थविर का नाम लिया गया है। तीसरे प्रकार के भिक्षु वे थे, जो न स्वयं अवधूत थे और न अवधूत-व्रतो के उपदेष्टा। इस प्रकार के भिक्षुओ मे स्थविर लालुदायी का नाम लिया गया है। चौथे प्रकार के भिक्षु वे थे जो स्वयं अवधूत भी थे और अवधूत-व्रतो के उपदेष्टा भी। इस प्रकार के

भिक्षुओ मे सारिपुत्र स्थविर का नाम लिया गया है। इस प्रकार बुद्ध के जीवन-काल से लेकर पाचवी शताब्दी ईसवी तक हमे बौद्ध धर्म मे अवधूत-साधना के उसके अगभूत रूप मे विद्यमान होने के साक्ष्य मिलते हैं और इसी समय से ध्यान-सम्प्रदाय उसके सूत्र को पकड लेता है, जिसका विकास चीन और जापान मे हुआ। यह एक अत्यन्त सार्थक बात है कि महाकाश्यप को अवधूत-व्रतो का एक श्रेष्ठ अभ्यासी पालि तिपिटक मे बताया गया है और ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार इन्ही महाकाश्यप को बुद्ध ध्यान-सम्प्रदाय के रहस्यात्मक ज्ञान का सप्रेषण करते हैं। इस प्रकार अवधूत-साधना और रहस्यात्मक ज्ञान महाकाश्यप के व्यक्तित्व मे एक हो गये हैं, जो इनके ऐतिहासिक एकीकरण का भी उद्गम-स्थल माना जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, एक अवधूत भिक्षु को बुद्ध से 'ध्यान' का रहस्यात्मक ज्ञान मिला, अवधूत-साधना का प्रकृत प्रस्थान-विन्दु यही है।

एक अन्य वड़ी महत्वपूर्ण बात भी महाकाश्यप के सम्बन्ध मे कही गई मिलती है। गृहस्थाश्रम मे उनकी पत्नी और बाद मे भिक्षुणी भद्रा कापिलायिनी ने अपने पति की साधना-सम्पत्ति के बारे मे बताते हुए 'थेरी-गाथा' मे उन्हे 'अभिञ्ञावोसितो मुनि' कहा है, अर्थात् 'अभिज्ञा मे पूर्णता-प्राप्त मुनि'। 'अभिज्ञा' का अर्थ है 'श्रेष्ठ ज्ञान' या 'विशेष ज्ञान', या दिव्य अ-मानुष, अनुभव, गूढ मानसिक शक्तियो की प्राप्ति। यह वास्तव मे गूढ ज्ञान ही है। यह मैं अपने मत के समर्थन के लिए ही नही कह रहा, बौद्ध साहित्य मे 'अभिज्ञा' शब्द के प्रयोग से यह बिलकुल स्पष्ट है। बौद्ध धर्म मे छह अभिज्ञाए मानी गई हैं, यथा ऋद्धिविध, दिव्य श्रोत्र, पर-चित्त-ज्ञान, पूर्वजन्म-ज्ञान, दिव्य चक्षु और आस्रव-क्षय-ज्ञान। मज्झिम-निकाय के महावच्छगोत्त-सुत्त मे ये विस्तार से वर्णित हैं। इनके स्वरूप से स्पष्ट है कि ये मिलकर विशेष या गूढ ज्ञान की पर्यायवाची हैं। अतः कोई आश्चर्य नही कि उपर्युक्त 'अभिञ्ञावोसितो मुनि' का अर्थ करते हुए श्रीमती रायस डेविड्स ने अपना अनुवाद इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "A seer is he of mystic lore profound" महाकाश्यप वास्तव मे गूढ, गहन, ज्ञान के स्वामी थे। अस्तु, स्थविरवाद परम्परा मे महाकाश्यप के गूढ ज्ञान के स्वामी होने के साक्ष्य हमे मिलते हैं और इससे आसानी से यह समझा जा सकता है कि ध्यान-सम्प्रदाय ने उन्हें ही अपने गूढ सन्देश का प्रथम वाहक क्यो बनाया ? बुद्ध के ये प्रभावशाली शिष्य, उनके दायाद पुत्र, जो स्थविरवादी परम्परा के अनुसार भी बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद सघ के नेता बने, अद्भुत रहस्यज्ञानी महात्मा थे, इसमे सन्देह नही।

बौद्ध धारा से भिन्न, प्रकृत वैदिक परम्परा मे, ऐतिहासिक रूप से खोज करने पर पता लगता है कि 'दत्त' या दत्तात्रेय सम्भवत. प्रथम अवधूत है। भागवत के एकादश स्कन्ध मे उनका उल्लेख आता है और वही वर्णित 'अवधूतोपाख्यान' तो प्रसिद्ध ही है। उनके नाम से सम्बद्ध 'अवधूत-गीता', भी मिलती है, जो यद्यपि बुद्ध के काल से काफी अर्वाचीन रचना है, परन्तु अनेक दृष्टियो से 'हठयोग-प्रदीपिका' जैसी रचनाओ से तो बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह खेदजनक ही है कि नाथ-सम्प्रदाय पर लिखने वाले विद्वानो ने अब तक इस पुस्तक के नाम तक का भी उपयोग नही किया है। हमारी दृष्टि से यह बात महत्वपूर्ण है कि आठ परिच्छेदो वाले इस ग्रन्थ मे बार-बार 'गगनोपम', 'निरजन' तत्व की चर्चा है और इसके आठवें परिच्छेद मे 'अवधूत' शब्द का अर्थ करते हुए यह बात कही गई है कि अवधूत का शरीर धूलि से धूसरित होता है। ('धूलिधूसरगात्राणि') और वह 'धूतचित्त' होता है। जैसा हम अभी देखेंगे, यह व्याख्या बौद्ध धर्म के अर्थ के समीप है और सम्भवतः उससे प्रभावित है। कबीर साहब ने अपने समकालीन योगियो के पाखण्डाचारो की निन्दा करते हुए उन्हें पूर्व योगियो की याद दिलाई है जिनमे एक 'दत्त' भी हैं। 'कब दत्ते मावासी गोरी।' महार्णव-तन्त्र मे भी दत्तात्रेय को नव नाथो मे एक माना गया है। अतः दत्त या दत्तात्रेय नामक एक प्रसिद्ध प्राचीन अवधूत महात्मा अवश्य हो गये हैं, जिनका पूर्ण ऐतिहासिक रूप अभी धूमिल ही है। पौराणिक विवरणो मे उन्हें अत्रि ऋषि और अनसूया का पुत्र बताया गया है और सत्य-युग से सम्बन्धित किया गया है। उन्हें 'आदि गुरु' और 'परम हस' भी कहा गया है। उपर्युक्त 'अवधूत गीता' के अतिरिक्त 'दत्तात्रेयोपनिषद्' भी उनकी रचना बताई जाती है। उनके नाम से सम्बद्ध एक रचना 'जीवन्मुक्ति-गीता' भी है, जो लुप्त है। गुरु गोरखनाथ की वाणियो मे भी दत्तात्रेय का उल्लेख आता है। इस प्रकार अवधूत कोटि के महात्माओ मे दत्त या दत्तात्रेय का स्थान महत्वपूर्ण है और उनका सम्बन्ध एक दूर के अतीत से है जिसकी ऐतिहासिक रूप-रेखा का स्पष्ट करना हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था मे कठिन है।

ऐसा लगता है कि 'अवधूत' शब्द मे अर्थापकर्ष हुआ है। पालि तिपिटक मे यह शब्द 'धुत' (संस्कृत 'धूत') के रूप मे आया है, जिसका अर्थ है वह परिशुद्ध व्यक्ति जिसने अपने सम्पूर्ण क्लेशो या मलो को धुन डाला है, हिला डाला है या मिटा डाला है। 'विसुद्धिमग्गो' (पाचवी शताब्दी ईसवी) मे उसकी इसी प्रकार व्युत्पत्ति की गई है 'धुतोति धुतकिलेसो वा पुग्गलो किलेसधुननो वा धम्मो।' अर्थात् "धुत का अर्थ है वह व्यक्ति जिसने अपने क्लेशो को धुन डाला

है, या क्लेशो को धुनने वाला पदार्थ या धर्म।" मूल रूप मे 'धुत' या 'धूत' शब्द से बोध ऐसे विमल साधु से ही होता होगा जो अरण्य, श्मशान या खुले मे रह कर अल्पेच्छता और तपश्चर्या का जीवन बिताता हो और प्राय पांशुकूल (फटे-चिथड़े, धूलि-धूसरित वस्त्र) पहनता हो। किसी प्रकार के सिद्धान्त-विशेष का सम्बन्ध उसके साथ इस समय नही था। बाद मे इस साधना मे औघडपन और लोक-विलक्षण बातो को दिखाने की प्रवृत्ति आ गई और तभी 'धुत' या 'धूत' नाम से पुकारे जाने वाले ये साधु 'अवधूत' कहे जाने लगे। श्रीमद्भागवत (एकादश स्कन्ध, सप्तम परिच्छेद) मे अवधूत को 'बालवत्' आचरण करते या जड, उन्मत्त और पिशाच के समान भी (जडोन्मत्तपिशाचवत्) व्यवहार करते दिखाया गया है। यह उस काल मे (जो निश्चयत. पांचवी शताब्दी ईसवी के बाद का ही है) अवधूतो की चर्या का चित्रण है। अपने मध्यकालीन साहित्य मे हम उनके इसी के कुछ और विकसित रूप का परिचय पाते हैं। "धूत कहौ अवधूत कहौ" यह जो गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने बारे मे कहा है, उसमे मुझे 'धूत' और 'अवधूत' शब्दो की यही भूली हुई प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

अन्य बातो से भी महाकाश्यप, जो ध्यान-सम्प्रदाय के प्रथम धर्मनायक हैं, महत्वपूर्ण हैं। सन्त-साधना के वे प्रथम अभ्यासी-से लगते है। एक तो यह बात कि सपत्नीक उन्होने ब्रह्मचर्य का अभ्यास किया, अर्थात् गृहस्थ-अवस्था मे ही उन्होंने ब्रह्मचर्य का जीवन बिताया और बाद मे पत्नी के सहित वे प्रव्रजित हुए और अध्यात्म-साधना मे एक दूसरे के सहायक हुए। 'अपदान' मे भद्रा कापिलायिनी के उद्गार से विदित होता है कि भिक्षुणी अवस्था मे ज्ञान-प्राप्ति के बाद उसे महाकाश्यप की कल्याण-मित्रता प्राप्त थी। यह बात बडी अद्भुत है और महाकाश्यप की महान् साधना की परिचायक है और साथ ही उन्हें सन्त-साधको के समीप भी लाने वाली है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि दीन और आतुर निम्न वर्ग के लोगो के प्रति वे विशेष रूप से अनुग्रहवान् थे। भिक्षाचर्या भी वे अक्सर ऐसे लोगो के यहा ही करते थे। सन्त-साधना की यदि कोई भी ऐसी विशेषता है जो उसे आसानी से दूसरी साधनाओ से अलग कर देती है, तो यह उसका कोई सिद्धान्तवाद नही बल्कि निर्णायक रूप से यह गरीबो और दु खियो के प्रति विशेष अनुग्रह-भाव ही है, जिसके मूर्तिमान् रूप महाकाश्यप पालि और संस्कृत बौद्ध धर्म दोनो की परम्पराओ के अनुसार थे। उदाहरणतः पालि ग्रन्थ 'उदान' के बोधिवर्ग मे हम महाकाश्यप को राजगृह के दरिद्र और नीच जाति के जुलाहो की गली मे भिक्षाटन करते देखते हैं और 'दिव्यावदान' मे उन्हें निश्चित रूप से 'दीनातुरग्राहकः' कहा गया है। एक अन्य

अवसर पर हम एक कोढी से उन्हें भिक्षा प्राप्त करते देखते हैं और इसमे उन्हें कोई घृणा नही होती। वैदिक युग के ऋषियो मे यह बात किसी भी ऋषि के सम्बन्ध मे विशेप रूप से कही हुई नही मिलेगी और न उसकी उत्तरकालीन परम्परा मे ही हमने किसी वैदिक ऋषि या साधु को गरीब जुलाहों की गलियो मे भिक्षाचर्या करते या उन पर विशेष अनुकम्पा करते देखा है। अलवत्ता, उपनिषदो के प्रतिनिधि ऋषि याज्ञवल्क्य जनक के दरवार मे गायो और धन के लिए जाते अवश्य देखे गये हैं। क्या सचमुच आर्य महाकाश्यप ही हमारे आदि सन्त नही हैं?—आर्य महाकाश्यप, जो ध्यान-सम्प्रदाय के प्रथम धर्मगुरु हैं और जिन्हें बुद्ध ने इतना सम्मान दिया जितना उन्होने अपने अन्य किसी शिष्य को नही दिया—अर्थात् अपना वस्त्र जिन्हें पहनने को दिया और जिनका वस्त्र स्वय बुद्ध ने पहना! ध्यान-सम्प्रदाय के आदि सन्त (और बुद्ध के उत्तराधिकारी पुत्र) महाकाश्यप को ही मैं प्रकृत सन्त-साधना का आदि सन्त मानता हूं।

'इन मन' और 'उन मन'

मन की साधना के स्वरूप को लेकर तो नाथ-योग, सन्त-मत और ध्यान-सम्प्रदाय और भी अधिक निकट हैं, इसे विस्तार से दिखाने की यहां आवश्यकता नही है। ध्यान-सम्प्रदाय के अपने विवेचन मे हम देख चुके हैं कि उसने दो मन माने हैं, एक व्यक्तिगत, परिच्छिन्न, सान्त मन और दूसरा सम्पूर्ण सृष्टि का सामूहिक, अपरिच्छिन्न या अनन्त मन, जिसे 'मन का सार', 'एक मन', 'तथता', 'बुद्धता', 'बुद्ध-स्वभाव' या 'शून्यता' भी कहा गया है। इन दोनों मनो की अभिन्नता ध्यान-सम्प्रदाय की साधना और तत्वज्ञान का आधार है। मन का यह दो प्रकार का स्वरूप-विधान विलकुल बौद्ध विचार है और श्रौत परम्परा में या भारतीय दर्शन की अन्य किसी परम्परा में यह ढूढने से भी न मिलेगा। किसी भी अन्य भारतीय दर्शन की योजना में मन का वह उठा हुआ धरातल नही है कि उसे ही परम सत्य के साथ एकाकार कर दिया जाय। मन—वृहत् मन—परम तत्व है, यह विचार अन्यत्र कही नही है। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय का यह एक आधारभूत सिद्धान्त है और अनेक ध्यानाचार्यों ने इसकी पुनरावृत्ति की है। उदाहरणतः हम पहले देख चुके हैं कि लंकावतार-सूत्र में 'चित्त बुद्धं वदाम्यहम्' की घोपणा है और तदनन्तर हुइ-के (४८६-५९३) ने अपने शिष्य सेंग्-त्सन् से कहा था, "मन ही बुद्ध है।"[1] हुइ-नेंग् के गुरुभाई शेन्-सियु

१. देखिये चौथे परिच्छेद में इस विषय सम्बन्धी हुइ-नेंग् के उद्धृत वचन भी।

का भी कहना था, "सब बुद्धो की शिक्षाए मूलतः मनुष्य के मन के अन्दर ही स्थित हैं।" इसी प्रकार म-त्सु (आठवी शताब्दी ई०) ने कहा था, "मन ही बुद्ध है, अन्य कोई नही।" शिह्-तो (७००-७९० ई०) ने भी कहा, "मन ही बुद्ध है, बुद्ध ही मन है।" इसी प्रकार हुआङ्-पो (नवी शताब्दी) का भी कथन है "मन के बाहर कोई बुद्ध नही है, बुद्ध से बाहर कोई मन नही है।" अन्य भी इस प्रकार के उदाहरण दिये जा सकते हैं। अब जब हम गोरख और कबीर को बार-बार मन की इस उच्च भूमिका की ओर निर्देश करते देखते हैं तो इसके स्रोत के सम्बन्ध मे हम बिलकुल विभ्रमित नही हो सकते। ऊपर जिन ध्याना-चार्यों के उद्धरण हमने मन के इस उच्च रूप के सम्बन्ध मे दिये हैं, वे पाचवी-छठी शताब्दी से लेकर नवी शताब्दी तक के हैं। गोरख का समय हम चाहे जितना पूर्व मानें, हमे यह मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त ध्यानाचार्यों मे जो सबसे बाद के हैं (अर्थात् हुआङ्-पो—नवी शताब्दी) उनसे दो-तीन शताब्दी कम से कम बाद गोरखनाथ आविर्भूत हुए। इस बात को ध्यान मे रखकर हम देखे कि गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि "यह मन सकती यह मन सीव। यहु मन पंच तत्त का जीव।" (जिसे जायसी ने हूबहू इस प्रकार रख दिया है, "यहु मन सकती यहु मन सीऊ।" गोरख मन को ही आदि और अन्त कहते हैं और मन मे ही सब सार को खोजते हैं, "मन आदि, मन अन्त, मन, मधे सार।" जिस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय में 'इस मन' (परिच्छिन्न, सान्त मन) और 'उस मन' (अपरिच्छिन्न, अनन्त मन) की बात है, बिलकुल उसी रूप मे वह गोरखनाथ को स्वीकार्य है। "यह मन लै जै उन मन रहै।" परिच्छिन्न, सापेक्ष मन का अपरिच्छिन्न, निर-पेक्ष मन से अभेद उन्हे परमार्थ रूप मे स्वीकार्य तो है ही, उसे बिलकुल ध्यान-सम्प्रदाय के समान शून्य से मिलाना भी वे नही भूले हैं। जब चेला उनसे पूछता है कि मन का क्या स्वरूप है, तो वे कहते हैं, "अवधू मन का सुनि रूप।" सच-मुच मन को लेकर गोरख और ध्यान-योगी बिलकुल एक हैं। अब निर्गुण साधना की ओर आइये। कबीर की साधना मे तो यह विचार भरा ही पड़ा है। "मन गोरख मन गोविन्दो, मन ही औघड होइ। जे मन राखै जतन करि तो आपै करता होइ।" "मेरा मन रामहि आहि।" कबीर बार-बार इस मन ('इन मन') और उस मन ('उन मन') की बात कहते हैं और उन दोनो की अभिन्नता को अपनी साधना का चरम लक्ष्य बताते हैं, जो बिलकुल बौद्ध विचार है और ध्यान-सम्प्रदाय का सर्वस्व है। देखिये—

"जव थै इन मन उन मन जाना"
अर्थात् "जव से इस मन ने उस मन को जाना"

और भी

"मन लागा उन मन्न सौं, गगन पहूंचा जाइ ।" ("यह मन उस मन से जा लगा और गगन (शून्य) मे जा पहुंचा")

और भी स्पष्टतः

"मन लागा उस मन्न सौं, उन मन मनहिं विलग्ग ।
लूण विलग्गा पांणिया, पाणीं लूण विलग्ग ॥

अर्थात् "जव यह मन उस मन से मिल गया तो वह मन भी इस मन से मिलकर एक हो गया । नमक पानी मे मिल गया और पानी नमक से मिलकर एकाकार हो गया ।" जिन्हे वौद्ध वेदान्त का ज्ञान नही है, वे कह सकते हैं कि यह शंकर का अद्वैत वेदान्त है, परन्तु सच्ची वात की ओर सकेत 'इन मन' और 'उन मन' के विचार करते हैं, जिन्हे शांकर वेदान्त मे क्या, सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मे अन्यत्र खोजना व्यर्थ है। हम एक जगह पहले (पांचवें परिच्छेद में) देख चुके हैं कि कवीर के "जल मे व्यव प्रकासै" का अधिक तर्कसम्मत सम्भावित स्रोत वौद्ध वेदान्त ही है, वाद का वेदान्तिक प्रतिविम्ववाद नही । कवीर मे दो मनो का विचार इतना अधिक है कि अधिक उद्धरणो की आवश्यकता नही है । फिर भी एक-दो और लीजिये .

"मन दीया मन पाइये, मन विन मन नहिं होइ
मन उन मन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ ।"

अर्थात् "जव तक हम अपने इस मन को नही देते तव तक हमे उस मन की प्राप्ति नही हो सकती । 'उन मन' के प्रति हमारी निष्ठा उसी प्रकार की होनी चाहिये जिस प्रकार की उस अंडे की होती है जिसे अलल पक्षी आकाश में देता है और जिससे वच्चा निकलकर फिर आकाश की ओर ही उड़ जाता है ।" यहा कवीर यही कहना चाहते हैं कि हमारे 'इन मन' को 'उन मन' के प्रति सदा लगे रहना चाहिये । कितना साफ उन्होने अन्यत्र भी कहा है :

"ऊठत बैठत कबहुं न बिसरै ऐसी तारी लागी ।
कहै कबीर यह उन मन रहनी सो परगट करि गाई ।"

इसी प्रकार :

"कहै कबीर मन मनहिं समाना ।"

इस पद मे यहा जो मन समाता है, वह परिच्छिन्न, सापेक्ष मन है और जिसमे यह मन समाता है, वह मन है अपरिच्छिन्न, निरपेक्ष । इस प्रकार यह पूरा बौद्ध विचार कबीर मे मिलता है । "उन मन मनुवा सुनि समाना" से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस निर्लेप मन मे यह सापेक्ष मन समाता है, वह वस्तुतः शून्य ही है । यही शून्य मे स्नान करना (सुनि असनान) भी है जिसका अनुभव कबीर ने किया है । सचमुच स्वयं कबीर ने भी इस विषय मे कोई सन्देह नही छोडा है कि मन के जिस वृहत् रूप को वे ले रहे है, परम सत्य के साथ उसे एकाकार कर रहे हैं और उसके साथ व्यक्तिगत, सान्त मन को मिलाने को साधना का उच्चतम रूप मान रहे हैं, वह वैदिक स्रोत से अलग और उससे ऊचा अनुभव है । उनका कहना है कि सनक, सनन्दन, जयदेव, नामदेव ने भी भक्ति की, परन्तु मन को उन्होने भी नही जाना । शिव, ब्रह्मा और ज्ञानी मुनि नारद हैं, परन्तु मन की गति को उन्होने भी नही जाना । ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण और शेष, इन सबने भी शरीर के अन्दर मन को नही देखा .

सनक सनन्दन जै देव नामां । भगति करी मन उनहुं न जाना ।।
सिव विरचि नारद मुनि ग्यानी । मन की गति उनहूं नहिं जानी ।।
ध्रू प्रहिलाद वभीषण सेषा । तन भीतरि मन उनहू न देखा ।।

कबीर साहब कुछ उल्लेख उन साधको का भी करते हैं, जिन्होने 'मन' को देखा है और हमे आश्चर्य नही करना चाहिये कि जिन नामो को कबीर ने लिया है, उनका सम्बन्ध इतिहास बौद्ध योग की धारा से ही स्पष्टतः जोड़ता है ।

गोरख भरथरी गोपीचन्दा । ता मन सौं मिलि करै अनन्दा ।।

'ता मन' अर्थात् 'उस मन' (पर मन) से मिलकर गोरख, भर्तृहरि और गोपीचन्द ने आनन्द प्राप्त किया है । और भी स्पष्ट करते हुए कबीर साहब

कहते हैं कि छह दर्शन और छियानवे पाखण्ड (दार्शनिक सम्प्रदाय) 'उस मन' को जानने के लिए आकुल हैं, परन्तु जान नही पाये हैं :

छह दरसन छ्यानवै पाखण्ड आकुल किनहूं न जान ।

कबीर का यह पर मन सम्बन्धी विचार और उसमे व्यक्तिगत मन को मिलाने की साधना वैदिक धर्म से व्यतिरिक्त उच्चतर स्रोत से आई है, तभी कबीर निर्भय होकर यह घोषणा कर सके हैं :

कहै कबीर मन मनहि समाना ।
तब आगम निगम झूठ करि जाना ॥

वेद-शास्त्रो को कबीर ने झूठा नही कहा ('वेद-पुरान कहा किन झूठा')। केवल इस उच्चतर सत्य की अपेक्षा मे उन्हें झूठा कहा है। मन का मन मे समाना उच्चतम आध्यात्मिक अनुभव है और वह वेदो या अन्य ग्रन्थो के अनुशीलन से प्राप्त नही होता :

कागद लिखि लिखि जगत भुलाना ।
मन ही मन न समाना ॥

ध्यानी साधक भी इससे अलग एक अक्षर भी क्या कहेंगे ? जो उन्होने कहा, उसी को छह-सात शताब्दियो बाद कबीर ने दुहरा दिया, उसकी गवाही दे दी। निश्चयत. कबीर साहब 'उस मन' के खोजी हैं जिसके ध्यानी साधक है और अन्यो को भी वे उसी को खोजने का उपदेश देते हैं :

'ता मन को खोजहु रे भाई !'

इस लेखक का विश्वास है कि चीन, जापान और कोरिया के लाखो 'ध्यानी' साधक जब यह जानेंगे कि भारत मे पन्द्रहवी शताब्दी मे एक ऐसा साधक हुआ है जो 'अकल' और निरंजन' के रूप मे मन का गवेषी था, तो कबीर के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ेगी, उनके गूढ आध्यात्मिक अनुभवो को वे अधिक जानना चाहेंगे और

कबीर की बानी पश्चिम मे जाने के बाद अब मध्य-एशिया और पूर्वेशिया मे भी निश्चयत जायगी और उसका वहा और भी अधिक आदर होगा।

हां, तो कबीर ने परम सत्य के रूप मे मन को देखा है और यह बौद्ध विचार है। ध्यान-सम्प्रदाय के साधको ने बौद्ध होने के नाते मन को बुद्ध कहा था। कबीर तो वैष्णव साधक थे, राम नाम के उपासक थे। वे क्या कहेंगे? बिलकुल वही जो कहना चाहिये। "मेरा मन सुमिरै राम कू, मेरा मन रामहिं आहि।" और भी स्पष्टत कबीर ने कहा है "अकल निरजन सकल सरीर। ता मन सौं मिलि रह्या कबीर।" जो मन 'सकल शरीरो' मे व्याप्त है, 'अकल' है, 'निरंजन' है, 'उसी मन' से कबीर साहब मिले हुए हैं। कोरी राजा! ज्ञानियो के चक्रवर्ती! तुम तो 'ध्यानियो' की पक्ति मे बैठे हुए हो, जिसमे महाकाश्यप, बोधिधर्म और हुइ-नेंग् बैठे!

विद्वानो ने कबीर द्वारा बहुल रूप से प्रयुक्त 'उन्मनि' या 'उन्मन' शब्द के प्रसगानुसार अनेक अर्थ सुझाये है, परन्तु यदि हम 'इस मन' ('इन मन') और 'उस मन' ('उन मन') के केन्द्रीय विचार पर ध्यान रखे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर 'उन्मन' या उन्मनि की अवस्था से केवल एक ही आध्यात्मिक क्रिया का बोध कराना चाहते हैं और वह है अपने व्यक्तिगत मन को अनन्त, निरपेक्ष मन के साथ मिला देना। इसी को कबीर 'उन्मनि ध्यान' कहते हैं, जिसे केवल अपने हृदय के अन्दर साक्षात्कार किया जा सकता है। "उन्मनि ध्यान घट भीतर पाया।" कबीर ने 'उन्मन' साधु का जिक्र किया है, जिससे भी तात्पर्य ऐसे साधक से है जिसने अपनी सान्त चेतना को अनन्त चेतना मे मिला दिया है। बहुत गहरी है 'उन्मनि' या 'उन्मन' की अवस्था! ध्यान सम्प्रदाय के साधक इसे अ-प्रकट ही रहने देना अधिक चाहेंगे, यद्यपि उनमे से कुछ ने उसे 'साधना-विहीन साधना' या 'अ-साधना द्वारा साधना' के रूप मे प्रकट भी कर दिया है, यह हम चौथे परिच्छेद मे देख चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि साधना अ-प्रकट है, जबकि वह कहती है "पैर पानी से नही भीगते", परन्तु वह 'घोषित' हो जाती है, जबकि वह कहती है कि "पानी पैरो को नही भिगोता।" कबीर भी इस प्रकट और अ-प्रकट के मर्म को जानते हैं। उनका भी मन्तव्य है कि 'उन्मनि' या 'उन्मन' की अवस्था अ-प्रकट है, गूढ है। परन्तु यदि उसे 'सहज समाधि' कह दिया जाय, तो वह जैसे 'परगट' कर दी गई है।

साधो ! सहज समाधि भली ।
जहं जहं डोलों सोइ परिकरमा जो कुछ करों सो सेवा ।
× × ×
कह कबीर यह उनमनि रहनी सो परगट करि गाई ॥

'उनमनि' को 'रहनि' (जीवन-विधि) बनाकर और उसे 'सहज समाधि' से मिलाकर कबीर ने उसे 'परगट' कर दिया है। "सो परगट करि गाई।" सचमुच यह महान् कार्य है। परन्तु 'ध्यान-योगी' यहां यही कहते दिखाई पडते हैं, "कबीर जी, आपने उसे 'घोषित' कर दिया है।"

मन की साधना बौद्ध धर्म का सर्वस्व है, इस पर यहां अधिक जोर देने की आवश्यकता नही है। भगवान् बुद्ध ने अपने महापरिनिर्वाण के अवसर पर अपने शिष्यो से कहा था "अपने चित्त की रक्षा करो" ("सचित्तमनुरक्खथ")। मेरा दृढ़ विश्वास है कि गुरु गोरखनाथ जब बार-बार कहते हैं कि "दिढ करि रापि आपना चीत" या "दिढ करि राखउ चीया" और कबीर साहब उसी की पुनरावृत्ति-सी करते हुए कहते हैं कि "जो मन राखे जतन करि" तो ये दोनो महात्मा बिलकुल अनजान मे उस अत्यन्त महिमाशालिनी साधना के प्रभाव की ही गवाही दे रहे हैं जो महायोगी शाक्यमुनि से उद्भूत हुई और एक ओर तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया, बाहरी मंगोलिया और साइबेरिया तक फैली और दूसरी ओर श्रीलका, बर्मा, थाई-देश, इन्दोनेशिया, लाओस और वियत-नाम तक और सब जगह अपने चित्त को सभालने की बात साधको से कहती गई, जिसके यदि इस सम्बन्धी वचनो को ही, जो इन देशो की भाषाओ मे प्रकटित हुए हैं, इकट्ठा किया जाय तो कई महाग्रन्थ भर जायगे। बुद्ध के ही देश के एक अल्प भूमिखण्ड की साधनाएं—नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ | यदि इस साधना-मार्ग से लाभान्वित हुईं, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

'सुरति' और 'निरति'

मन या चित्त की रक्षा के लिए तथागत ने 'स्मृति' का उपदेश दिया था। हम अपने मन की रक्षा कैसे करें ? बुद्ध का सक्षिप्त उत्तर होगा, "स्मृति को सामने उपस्थित रखकर।" ("परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा")। सन्तो ने बार-बार जो 'सुरति' का उपदेश दिया है, वह यह 'स्मृति' (पालि 'सति') ही है जो बौद्ध साधना की मेरुदण्ड है। बौद्ध साहित्य मे बार-बार साधक के लक्षणो के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि उसने स्मृति को सामने रक्खा हुआ है, उसकी

स्मृति उपस्थित है। थेरी-गाथा (गाथा २८०) मे रोहिणी भिक्षुणी बौद्ध श्रमणो के गुणो का गान करती हुई उनके विषय मे "एकग्गचित्ता सतिमन्तो" (एकाग्र चित्त, स्मृतिवान्) विशेष रूप से कहती है। इसी प्रकार चाला अपने लिए "सति उपट्ठपेत्वान भिक्खुणी भावितिन्द्रिया" कहती है और उपचाला भी अपने लिए "सतीमती चक्खुमती।" 'थेरगाथा' मे तो इस प्रकार के वर्णन और भी भरे पडे हैं, जिनकी गिनती करना मुश्किल है। बुद्ध भगवान् भी अपनी साधना का वर्णन जब कभी अपने शिष्यो के कल्याण के लिए करते थे तो सबसे पहले यही कहते थे, "उस समय मेरी अ-विस्मृत स्मृति उपस्थित थी।" ("उपट्ठिता सति असम्मुट्ठा") बोधिराजकुमार-सुत्त (मज्झिम. २।४।५) तथा भयभेरव-सुत्त (मज्झिम. १।१।४) मे बुद्ध ने इस प्रकार अपनी साधना का वर्णन किया है। योग के साधक भिक्षु को सर्वप्रथम 'स्मृति' से सम्पन्न होना चाहिये और बुद्ध स्मृति के साधक भिक्षु के प्रशसक हैं, यह बात लटुकिकोपम-सुत्त (मज्झिम. २।२।६),महातण्हासखय-सुत्त (मज्झिम. १।४।८),महाअस्सपुर-सुत्त (मज्झिम. १।४।९) तथा चातुम-सुत्त (मज्झिम. २।२।७) आदि मे इतनी अधिक बार आई है कि उसकी गणना करनी कठिन है। 'स्मृति' का साधारण, सक्षिप्त अर्थ है अपनी काया और मन के प्रत्येक व्यापार और क्रिया की निरन्तर जानकारी, जागरूकता और उनके सम्बन्ध मे सावधानी बरतना। समाधि की यह सबसे बडी आवश्यकता है। 'स्मृति' साधको की रक्षा करती है, जैसे कि वह उनकी पहरेदारनी हो। साधक की वस्तुत पहचान ही यह है कि वह 'स्मृतिमान्' हो। गुरु गोरखनाथ ने अपने योग की प्रक्रिया मे 'स्मृति' को भारी महत्व दिया है और बार-बार अपनी सबदियो मे और अन्यत्र इसका उल्लेख किया है। "सुरति गहौ संसा जिनि लागौ पूंजी हानि न होई।" इस उपदेश मे बौद्ध स्मृति का महत्व ही ध्वनित हो रहा है। परन्तु इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दो मे उन्होने 'सुरति' की साधना का उपदेश दिया है, जिससे उसके बौद्ध उद्गम के विषय मे कुछ सन्देह ही नही रह जाता। चेला पूछता है, "स्वामी कौंण मुषि बैंठै, कौंण मुषि चलै, कौंण मुषि बोलै, कौंण मुषि मिलै।" गुरु उत्तर देते हैं, "अवधू सुरति मुषि बैंठै, सुरति मुषि चलै; सुरति मुषि बोलै, सुरति मुषि मिलै।" कितनी व्यापक है 'सुरति' की यह साधना गोरखनाथ के योग-विधान मे! "सुरति को ही सामने रखकर बैठे, सुरति को ही सामने रखकर चले; सुरति को ही सामने रखकर बोले, सुरति को ही सामने रखकर मिले।" और निश्चयत. इतना ही व्यापक, बल्कि इससे भी अधिक व्यापक महत्व 'स्मृति' का बौद्ध साधना मे है। और दोनो एक हैं, इसका इससे बड़ा प्रमाण और क्या मिलेगा कि

वृद्ध सदा 'स्मृति' को सामने रखने की वात कहते हैं 'परिमुखं सतिं' और उसी का अज्ञात अक्षरश अनुवाद-सा करते हुए गुरु गोरखनाथ रट लगाते है, 'सुरति मुषि', 'सुरति मुषि'। इससे अधिक 'सुरति' के अर्थ-निर्धारण मे और क्या चाहिए ? स्मृति के चार प्रस्थान वौद्ध धर्म मे माने गये हैं, काया मे काया को देखना, वेदनाओ मे वेदना को देखना, चित्त मे चित्त को देखना और धर्मों (मानसिक विषयो) मे धर्म को देखना। इन चार स्मृति-प्रस्थानो को वुद्ध ने प्राणियो के लिए 'विशुद्धि का एकायन मार्ग' कहा है। "एकायनो अय भिक्खवे मग्गो सत्तानं विसुद्धिया···यदिदं चत्तारो सतिपट्ठाना।" इस प्रकार 'स्मृति' वौद्ध धर्म मे विशुद्धि का 'एकायन मार्ग' है। क्या आश्चर्य है कि गुरु गोरखनाथ स्मृति को विशुद्धि या शुचिता का पर्याय ही वताते हैं। मछीन्द्र-गोरख-वोध मे उन्होने कहा है, "सुरति सोचित।"

निर्गुणपन्थी सन्तो की वानियो मे भी "सुरति संभाल गाफिला" की चेतावनी वार-वार आई है, जो वौद्ध साधना के सन्दर्भ मे ही समझी जा सकती है। कवीर ने 'सुरति' को 'निरति' मे समाते देखा है और 'निरति' को 'निराधार' वताया है। "सुरति समाणी निरति मे निरति रही निरधार।" इसका कोई अर्थ ही स्पष्टतापूर्वक नही समझा जा सकता, जब तक कि 'सुरति' को हम वौद्ध 'स्मृति' और 'निरति' को निरोध-समापत्ति या निरोध-समाधि न मानें। 'स्मृति' के अभ्यास का पर्यवसान निरोध-समाधि मे होता है और इस समाधि का कोई आलम्बन नही होता। 'निरति' के जितने अर्थ आधुनिक विद्वानो के द्वारा सुझाये गये हैं, उनमे से किसी से यह स्पष्ट ही नही होता कि 'सुरति' 'निरति' मे प्रवेश कैसे करती है और 'निरति' 'निराधार' क्यो है ? परन्तु वौद्ध योग की परिस्थिति को ध्यान मे रखते हुए यदि इसे हम समझना चाहे तो सारी वात साफ हो जाती है। कवीर की 'निरति' का क्या अर्थ है, इसके लिए यदि उनके पूर्व के गुरु गोरखनाथ के इस सम्वन्धी विचार को हम पहले देखें, जिनसे कवीर निश्चयत: प्रभावित थे और कई वातों मे जिनकी परम्परा को उन्होने आगे वढ़ाया है, तो वात हमारी समझ मे आ सकती है। गोरखनाथ की एक वानी है 'मछीन्द्र गोरख-वोध' मे—'निरति निरालंभ'। इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण क्या होगा कि 'निरति' वस्तुत: चित्त की 'निरालम्व' स्थिति है जो पालि मे 'निरोध-समाधि' के रूप मे आती है और 'अ-प्रतिष्ठ चित्त' या शून्यतानुभूति के रूप मे जिसका साक्षात्कार हुइ-नेग् तथा अन्य 'ध्यानी' साधको ने किया, जिनका सम्वन्ध महायान की योग-धारा से है। इस रूप मे ही 'सुरति' का 'निरति' मे समा जाना समझा जा सकता है।

बौद्ध योग मे स्मृति के अभ्यास के बाद ही निरोध-समाधि की अवस्था है। आर्य अष्टागिक मार्ग मे भी सातवां स्थान स्मृति का है और आठवा समाधि का, जो अन्तिम है। इस प्रकार 'सुरति' 'निरति' मे समाती है। गुरु गोरखनाथ ने तो यहा तक कहा है कि 'सुरति' और 'सब्द' दोनो को ही मिटा कर साधक को 'निरति' मे रहना चाहिये। "दुहुं को मेटि निरति मे रहै।" कहने की आवश्यकता नही कि यह निरोध-समाधि या शून्यता के अनुभव मे ही शक्य है, जो सब कुछ को अपने अन्दर रखने की सामर्थ्य रखती है।[1]

१. 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' (द्वितीय भाग, पृष्ठ १०६१) में मैंने निरति को विरति बताया था। साधारण दृष्टि से ही मैंने उस समय विचार किया था। 'निरति' के गहरे आध्यात्मिक अनुभव के रूप का उस समय मुझे बोध नहीं था। जैसे-जैसे मैंने गोरख और कबीर को अधिक गहराई के साथ पढा और विचार किया तो मुझे लगता है कि निरति एक साधारण विरति की अवस्था नहीं, बल्कि परावृत्ति के अभ्यास से विकसित आध्यात्मिक अनुभव की वह सघन अवस्था है जिसे निरोध-समाधि या शून्यतानुभव से अभिन्न माना जा सकता है। शाब्दिक दृष्टि से भी 'निरति' शब्द का अर्थ लीन होना है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। "राम-नाम-जप-निरत सुजन पर करत छाह घोर घामो।" विनय-पत्रिका। इसी प्रकार थेरीगाथा (गाथा २०१) तक में "बुद्धो धम्म मे देसेसि तत्थ मे निरतो मनो" अर्थात् "बुद्ध ने मुझे धर्म का उपदेश दिया और उसमें मेरा मन लीन हो गया।" कबीर-साहित्य में यह शब्द 'इस' मन के 'उस' मन में लगने या परिच्छिन्न मन के अपरिच्छिन्न मन या शून्य में समाने या लीन होने के अर्थ में आया है। "निरति रही निरधार" से यह स्पष्ट है। ब्रह्म में लीन होना या राम में लीन होना अर्थ हम इसलिये नहीं ले सकते, क्योंकि उसे किसी प्रकार 'निरधार' नहीं कहा जा सकता। राम में लीन होने की तो कोई बात ही नहीं, ब्रह्म-समाधि भी किसी प्रकार 'निरधार' अवस्था नहीं कही जा सकती। उसमें 'ब्रह्म' आधार के रूप में विद्यमान रहता है। परन्तु 'शून्य-समाधि' सर्वथा 'निरधार' है, उसमें शून्यता का विचार भी लुप्त हो जाता है। ब्रह्मानुभूति और शून्यानुभूति में अन्तर ही यह है कि एक में आधार (ब्रह्म) बना रहता है, जबकि दूसरे में वह भी विलुप्त हो जाता है। वेदान्ती इसीलिये 'शून्य' से सन्त्रस्त होते रहे हैं। सूरदास ने "निरालम्ब मन चकृत धावै" में जिस भय की ओर सकेत किया है, उसे यद्यपि उन्होने निर्गुण ब्रह्म की उपासना से सम्बन्धित किया है, परन्तु वह पूर्णतः शून्य पर ही लागू है। सूरदास से पूर्व के वैष्णव आचार्यो ने शकर के ब्रह्म पर यही लाछन लगाया था कि उनके ब्रह्म, बौद्धों के शून्य जैसे लगते हैं। उन्हीं से प्रभावित होकर सूरदास ने निर्गुण ब्रह्मोपासना में 'निरालम्ब मन' होने की बात कही है, परन्तु वास्तव में वह बौद्ध योगियों की शून्य-समाधि या 'अ-प्रतिष्ठ चित्त' के सम्बन्ध में ही पूर्णतः ठीक कही जा सकती है। कबीर अधिक सग्राहक विचारक और साधक थे। उन्होंने राम को पाया था और इसे ही दूसरे शब्दो में हम यो कह सकते हैं कि उन्होने शून्य को पाया था। कबीर की वानी में यह बिलकुल सम्भव है। उनके ही मन की वाछा देखिये—"हम रामहि पावहिंगे सुनिहि माहि समावहिंगे।" राम में मिलना ही शून्य मे मिलना है। यही 'निरति' की अवस्था है, जिसमें सब कुछ समा जाता है, 'सुरति' भी, 'सबद' भी।

'सुरति' को कबीर ने ढेंकुली की उपमा दी है ('सुरति ढेंकुली'), लगन को रस्सी बताया है और मन को 'ढोलन हार', और कहा है कि इस प्रकार 'कंवल कुआ' से प्रेम-रस पीया जाता है। इस बात की कितनी अधिक समता इस बुद्ध-उपदेश से है कि जो (कायगता-) स्मृति का अभ्यास करते हैं, वे अमृत को पीते हैं और जो इसका अभ्यास नहीं करते वे अमृत से वंचित रह जाते हैं। बुद्ध ने कहा है कि जैसे पाताल तोड़ कुएं मे अजस्र जल की धारा निकलती है, वैसे ही आनन्द का अजस्र स्रोत उस साधक के हृदय मे फूट पड़ता है जो कायगता स्मृति का अभ्यास करता है और उससे उसके शरीर का कोई अंग अछूता नहीं रहता।[1] इतना परिपूर्ण है यह आनन्द! 'सुरति' सन्त-साधना मे भी अमृत-रस को पीने का एक महान् साधन मानी गई है। इसके द्वारा ही सन्त अपने घट मे अमृत-पान करते हैं। यह आध्यात्मिक अनुभव निश्चयतः बौद्ध साधना से ही सन्तों को प्राप्त हुआ है। 'चित्ते चित्तानुपश्यना' के रूप मे भी स्मृति का एक प्रस्थान बौद्ध साधना मे है। कबीर का 'मन मनहिं समाना' इसी का बिलकुल शाब्दिक अनुवाद है और अभ्यास मे भी वह बिलकुल वही चीज है। 'परावृत्ति' की साधना ध्यान-सम्प्रदाय मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और लंकावतार-सूत्र तथा बौद्ध संस्कृत ग्रन्थो मे उसका अनेक जगह उल्लेख हुआ है। विद्वानो ने उसके अर्थ की बड़ी मीमांसा की है। परन्तु इसे यदि हम बौद्ध अर्थ मे सर्वोत्तम रूप से समझना चाहें तो कबीर की केवल इस बानी के अर्थ को समझ लेना पर्याप्त होगा—"मन रे मनही उलटि समाना।" या "मन उलट्या दरिया मिला।" यही 'परावृत्ति' है। बाह्य विषयो से विमुख होकर चित्त के चित्त मे समाने को कबीर इतनी उच्च साधना मानते थे कि उसी को ध्यान मे रखकर वे अधिकारपूर्वक कह सके हैं कि "जब मन मनहिं समाना" तो "आगम-निगम झूठ करि जाना।" "अब मन उलटि सनातन हुआ" मे भी यही साधना-प्रक्रिया है। बौद्ध दर्शन मे चित्त की क्षणिकता का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। इसके अनुसार प्रत्येक क्षण चित्त के उदय और व्यय होते रहते हैं। कबीर एक जगह बिलकुल क्षणिक विज्ञानवादी के रूप मे पूछते हैं, "कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता काल्हि।" "वह मन कहा चला गया, जो मन कल था?" निश्चयत अनुभव-ज्ञानी कबीर के मन मे इस प्रकार के प्रश्न उठा करते थे, जिनका सम्बन्ध बौद्ध चिन्तन से है। सुरति की समस्या के सम्बन्ध में हम यहा आगे यह और कहना चाहेंगे कि ध्यान-सम्प्रदाय की

१. देखिये कायगतास्मति-सुत्तन्त (मज्झिम॰ ३।२।९); महासकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम॰ २।३।७), मिलाइये सौन्दरनन्द १४।४२।

साधना मे, जैसे कि सम्पूर्ण बौद्ध धर्म की साधना मे, बिना स्मृति के साधक को धूल भी नही मिलती और सन्त-साधना मे वही 'सुरति' के रूप मे रक्खी हुई है।

'स्मृति' की साधना का भारी महत्व भारतीय धर्म-साधना मे बौद्ध धर्म के अतिरिक्त और कही नही है और निश्चयत. वह सन्तो को वही से मिली है। इसका प्रमाण स्वय पातंजल योग-सूत्र मे भी मिलता है। योग-सूत्र मे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास को आवश्यक बताया गया है, जो बिलकुल बौद्ध साधना की पांच 'इन्द्रिया' या आध्यात्मिक शक्तिया हैं, जिनमे 'स्मृति' एक है। यद्यपि योग-सूत्र ने पारिभाषिक 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग नही किया है, परन्तु इसके स्थान पर एक अन्य सार्थक बात वहा कही गई है, जिसका भी वही अर्थ है। स्वयं सूत्र को ही देखिये "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्"(१।२०)। बिलकुल स्पष्ट है कि इन सबकी साधना 'इतरेषाम्' की है, वैदिक धारा से इतर, अन्य साधको की है। इन 'इतरेषाम्' से ही, बौद्ध ध्यानियो से ही, सन्तो ने इसे लिया है, इसमे लेशमात्र भी सन्देह करने की गुजाइश नही है।

एक निर्गुणपन्थी सन्त ने कहा है, "सुरति संभाल, गगरिया न छलकै।" इसे मैं तेलपत्त-जातक की सर्वोत्तम व्याख्या या उसका साराश कहता हू। इस जातक मे बुद्ध ने तेल के पात्र की उपमा देकर उपदेश दिया है। सक्षेप मे वह इस प्रकार है: एक स्थान पर एक अत्यन्त रूपवती जनपदकल्याणी का नाच-गान हो रहा था। जन-समूह उमडा पड रहा था उसे देखने के लिए! राजा ने जब यह बात सुनी तो अपने जेलखाने से एक कैदी को बुलवाया। उसकी बेडियां कटवाकर तेल से लबालब भरा एक पात्र उसके हाथ मे दे दिया गया। एक सिपाही को, जिसके हाथ मे नंगी तलवार थी, राजा ने आदेश दिया, "इस आदमी को वहा ले जाओ जहा जनपदकल्याणी का नाच हो रहा है। यदि लापरवाही के कारण यह एक बूंद भी तेल इस पात्र से गिरा दे, तो वही इसका सिर काट देना।" वह सिपाही तलवार उठाकर उस आदमी को वहां ले गया। मरण से भयभीत उस पुरुष ने एक बार भी आँख को तेल से हटाकर उस जनपदकल्याणी की ओर न देखा, क्योकि जरा भी तेल गिरता कि उसका सिर तलवार से कटकर धरती पर गिरता। तेलपात्र के सम्बन्ध मे उस सावधानी और जागरूकता को ही बुद्ध ने 'स्मृति' कहा है। अब अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता नही है कि "गगरिया न छलकै" मे तेलपात्र से एक बूंद भी न गिरने की बात कही गई है और 'सुरति' का संभालना तो 'स्मृति' का संभालना है ही। वस्तुत. यही विधि है जिससे बौद्ध साधना के

सर्वोत्तम तत्व वर्तमान हिन्दू धर्म मे समा गये हैं। यदि यह पूछा जाय कि भारत मे बौद्ध साधना अपने सर्वोत्तम रूप मे किस प्रकार हिन्दू धर्म मे समाविष्ट हुई है, तो केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि "सुरति सब्द मे लीन।" इस विधि को प्रकट कर दिखाना बहुत आवश्यक है और इससे सन्तों की साधना को अतिरिक्त महत्व मिलता है। उन्होने हमे 'सब्द' भी दिया और उसके साथ 'सुरति' भी दी। 'सब्द-सुरति' के 'जोग' की इतनी महान् साधना है कि उसके परिणामों को देखकर स्वयं कबीर साहब विस्मित हैं। "सुरति-सब्द मेला भया काल रह्या गहि मौन।" इस "सब्द-सुरति-जोग" के सम्बन्ध मे पहले भी कुछ निवेदन किया जा चुका है। केवल इस एक बात पर यहां कुछ जोर देना और आवश्यक है कि सन्तो की 'सुरति' या स्मृति या 'सुमिरन' अनित्यता और वैराग्य के चिन्तन के साथ-साथ हरि-स्मरण ही अधिक है। जैसा नानक देव ने कहा है, "सुमिरन कर ले मेरे मना। तेरी बीती जात उमरिया हरि नाम बिना।" बुद्ध की स्मृति पूर्णत. ध्यानमय है। उसे सन्तो ने हरि-स्मरण मे जोडा है। बुद्ध ने 'आनापान' अर्थात् श्वास के आने और जाने के साथ 'स्मृति' की साधना करने का उपदेश दिया था। उसे वैष्णव साधन मे नियोजित करते हुए कबीर साहब कहते हैं "सासौं सासा नाम जप।" अत. यही 'सुमिरन' हो गया है। साधना की इस नई विनियोजना को मैं भारतीय आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा प्रयोग और आविष्कार मानता हूं, जो अब तक हमारे सारे आध्यात्मिक इतिहास मे किया गया है।

कबीर ने बार-बार मन को मारने की बात कही है, "इस मन कू बिसमिल करूं", "मैमन्ता मन मारि रे", "मारू तो मन मृग कौं", "कबीर मारूं मन कू", "मन न मार्‌यां मन करि" आदि। बौद्ध साधना मे यह विचार बार-बार आता है। वज्रयानी सिद्धो की वाणियो मे भी यह बात बार-बार आई है, जिसको दुहराने की यहां आवश्यकता नही है। ध्यान-सम्प्रदाय मे भी यह बात आई है और मन की शिक्षा के क्रमिक विकास का जो विवरण हम चौथे परिच्छेद मे उसकी साधना-विधि के प्रसग मे दे चुके हैं, उसमे हम देखते ही हैं कि अन्त मे मनुष्य और बैल दोनो गायब हो जाते हैं। बैल अर्थात् हमारा मन। ध्यान-साधना का अन्तिम लक्ष्य यही है।

'मन बछौं'

इस बैल की बात पर ही मन ठहरता है। बैल की शिक्षा के रूप मे मन की शिक्षा का विधान हम पूरी तरह चौथे परिच्छेद मे देख चुके हैं। उसको यहा

दुहराने की आवश्यकता नही। केवल यही कहना चाहिये कि गुरु गोरखनाथ को भी इस बैल का पूरा पता था, तभी तो उन्होने उस बात को प्रकट कर दिया है जिसे ध्यानियो ने अन्तर्हित ही रक्खा है, अर्थात् 'मन बछौ', 'मन ही बैल' है। यह सर्वोत्तम शीर्षक है जो ध्यान-सम्प्रदाय की मन की शिक्षा सम्बन्धी दस तस्वीरो को दिया जा सकता है, जिनका उल्लेख हम पहले चौथे परिच्छेद मे कर चुके हैं। यद्यपि इस बैल की शिक्षा का पूरा क्रमिक विधान हमे गुरु गोरखनाथ की सबदियो मे नही मिलता, परन्तु एक दो अवस्थाए अवश्य मिलती हैं। उदाहरणतः चौथे परिच्छेद मे दी गई बैल के शिक्षण सम्बन्धी दस तस्वीरो मे से दूसरी तस्वीर मे बैल के नकेल डाली जाती है और उसके नीचे जो कविता दी गई है उसके आरम्भ का वाक्य है, "मेरे पास तिनको की बनी एक रस्सी है और इसे मैं उसकी नाक मे होकर डाल देता हूं।" बिलकुल इसी अवस्था को लक्ष्य कर गुरु गोरखनाथ कहते हैं, "सतना सातीडा समघावो" अर्थात् "इसकी नाक मे सत की रस्सी (सांतीड़ा) डाल दो।" ध्यान-सम्प्रदाय की पहले दी हुई तस्वीरो के अनुसार पाचवी तस्वीर मे बैल पूर्णत. पालतू बना लिया जाता है और "लडका अपने घर चल देता है और बैल धीरे-धीरे उसका अनुसरण करता है।" सम्भवतः इसी अवस्था को द्योतित करते हैं गुरु गोरखनाथ जबकि वे कहते हैं "सहज सुभावै बाखर लाई" अर्थात् "सहज, स्वाभाविक रूप से मैंने इस पशु को बाखर (घर) के अन्दर कर लिया है।" एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक बात हमे इस सम्बन्ध मे यह मिलती है कि गुरु गोरखनाथ ने जिस बैल के नकेल डाली है और उसे घर के अन्दर वे लाये हैं, उसका रग उन्होने सफेद (धौरा) बताया है। "मन पवना धोरी जोताओ" ("इस मन पवन रूपी धौरे बैल को जोत मे डालो")। मन को सफेद बैल कहने का विचार ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार तो बिलकुल ठीक है, परन्तु गोरखपन्थी हठयोग के अनुसार या अन्य किसी भारतीय दर्शन-साधना के अनुसार इसकी स्पष्ट व्याख्या नही की जा सकती कि यहा मन को सफेद रग का बैल कहने मे क्या विशेष सार्थकता है ? मन को सफेद बताने की कोई व्याख्या मध्यकालीन भारतीय धर्म-परम्परा मे नही मिलती। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय इस गुत्थी को सुलझा देता है। ध्यानी सन्त जिस मन-बैल की खोज कर उसके नकेल डालते हैं और उसे आगे शिक्षित करते हैं, वह पहले काले रग का होता है और शिक्षण मिलते-मिलते क्रमशः सफेद रग का होता जाता है और अन्त मे तो अपने अस्तित्व को ही लुप्त कर देता है। चौथे परिच्छेद मे बैल के शिक्षण-सम्बन्धी जिन दस तस्वीरो को हम दे चुके हैं, उनमे यही बात दिखाई पड़ती है और वहा निर्दिष्ट जितोकु और सेक्यो की

तस्वीरो मे भी यही बात साफ तौर पर दिखाई गई है—बैल का निरन्तर सफेद रग का होते जाना और अन्त मे गायब हो जाना। सफेद बैल शुद्ध मन का प्रतीक है और इसी अर्थ मे उसे गोरखनाथ ने प्रयुक्त किया है, जिसका स्पष्टीकरण 'ध्यान'-साहित्य—केवल 'ध्यान'-साहित्य, मे मिलता है। वहा बैल का निरन्तर सफेद रंग का होते जाना बहुत साभिप्राय है। इसके साथ ही यह तथ्य भी बहुत सार्थक है कि बौद्ध सिद्धो की वाणियो मे भी हमे यह विचार मिलता है। बौद्ध सिद्ध शुद्ध मन को निर्विषय और निरालम्ब मन बताते हैं और उनके मतानुसार यही मन शून्य-रूप और गगनोपम है, जिसकी समानता ध्यान-सम्प्रदाय के मन-बैल के अन्त मे गायब हो जाने से है, जिसकी चित्रात्मक अभिव्यक्ति 'ध्यान' ने की है। इस प्रकार गुरु गोरखनाथ ने जिस बैल की नाक मे 'सातीड़ा' डाला है, जिसे वे 'बाखर' के अन्दर लाये है और जिस 'धौरे' मन-पवन को उन्होंने जोत मे डाला है, वह वास्तव मे ध्यानी सन्तो की चरागाह मे चरने वाला बैल ही है जिसे उन्होने शिक्षित किया है, इसमे बिलकुल भी सन्देह नही है। यहां तक कह देना भी अप्रासगिक न होगा कि कबीर साहब ने भी मन को बैल का रूपक दिया है और उसको शिक्षित करने के सम्बन्ध मे कहा है, "घाटी चढत बैल इकु थाका चलौ गौनि छिटकाई।" ध्यान-सम्प्रदाय के मन बैल के शिक्षण की छठी-सातवी अवस्थायें, जिन्हें हम चौथे परिच्छेद मे दे चुके हैं, यह दिखाती हैं कि बैल को पालतू बनाने के पश्चात् रखवाला निश्चिन्त हो जाता है और उसे उसकी कोई चिन्ता नही रह जाती, क्योकि बैल अब पूर्णतः वश मे आ गया है। सातवी तो अवस्था ही है "यथेच्छकारिता।" बैल जैसा चाहे करे, उसके स्वामी रखवाले को अब उसकी कोई चिन्ता नही। वह पेड के नीचे बैठा बासुरी बजाता है और बैल उन्मुक्त होकर चरता है, वह जहां कही विचरे, चरे। सचमुच यही अवस्था है जिसे कबीर ने इन शब्दो मे द्योतित किया है, "रे मन जाहि जहां तोहि भावै। अब न कोई तेरे अकुस लावै।" कितनी समानता है कबीर के इस मन-सम्बन्धी सम्बोधन की उस उद्गार से जिसे 'ध्यानी' कवि ने छठी तस्वीर के नीचे दिया है, "अब किसी कोड़े की आवश्यकता नही रही, किसी प्रकार के नियन्त्रण की जरूरत नही रही।" बिलकुल एक भाव और एक ही शब्द हैं। मन को हाथी और अश्व के रूप मे चित्रित करने के तो और भी उदाहरण भारतीय साहित्य मे मिलते हैं, परन्तु बैल के रूप मे उसे रखना बौद्ध साहित्य की विशेषता जान पडती है। सिद्ध

ढेण्ढपा ने भी कहा है, "बलद बियाअल"।[1] मुझे तो ऐसा लगता है कि 'मनेर मानुष' ('मन का मानुष') का जो विचार बाउलो की साधना मे मिलता है, वह उस साधना का ही प्रभाव है जिससे ध्यान-सम्प्रदाय उद्भूत हुआ है। यह निश्चित है कि बाउलो की साधना अपने मूल रूप मे "शास्त्रो से बाहर एक विशेष सप्रेषण" है। अतः अनेक बातो मे ध्यान-सम्प्रदाय के साथ उसकी समानताएं दिखाई जा सकती हैं। कुछ भी हो, बैल के रूप मे मन की शिक्षा-सम्बन्धी जो तस्वीरें ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा मे पाई जाती हैं, वे सुग्-काल की अर्थात् दसवी और तेरहवी शताब्दियो के बीच की हैं अर्थात् ऐतिहासिक दृष्टि से वे नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ से कुछ पूर्व की हैं और अपने मूल विचार के लिए दोनो एक समान स्रोत (बौद्ध धर्म) की ओर सकेत करती हैं। मज्झिम-निकाय के महागोविन्द-सुत्तन्त मे भगवान् बुद्ध ने गोयूथ की रक्षा के सम्बन्ध मे कहा है और इसी निकाय के भद्दालि-सुत्तन्त मे अश्व-परीक्षा का तथा कन्दरक-सुत्तन्त में हाथी के शिक्षण का उल्लेख है। अतः ध्यान-सम्प्रदाय के समान गुरु गोरखनाथ और कबीर साहब के भी बैल और उनके शिक्षण-विधान किस स्रोत से आये हैं, इसके विषय में सन्देह नही रह जाता। प्रसिद्ध महायानी बौद्ध सस्कृत ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' (दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी) के तृतीय परिवर्त (परिच्छेद) मे क्रमशः श्रावक-यान, प्रत्येकबुद्ध-यान और महायान को मृग-रथ, अज-रथ और गो-रथ से उपमा दी गई है। इनमे गो-रथ अर्थात् बैल की जोडी से युक्त रथ (महायान) ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है और यही से यह सब विचार आगे चला है।

अन्त मे हम यहां यह भी कहेंगे कि हुइ-नेंग् (६३८-७१३ ई०) ने बुद्ध-यान को 'सफेद बैलो की गाडी'[2] के प्रतीक रूप मे रक्खा है, अतः बैल—धीरे बैल—का सारा प्रतीक बौद्ध स्रोत से नाथपन्थी और निर्गुणपन्थी सन्तो तक आया है, इसमे बिलकुल सन्देह करने की गुजायश प्रतीत नही होती।

सम्पूर्ण हिन्दी काव्य-साहित्य के इतिहास मे कबीर ही ऐसे विचारक हैं जिनकी वाणी का वास्तविक मनोवैज्ञानिक महत्व है, परन्तु इस पक्ष की ओर हिन्दी के विद्वानो का ध्यान बिलकुल नही गया है। ध्यान-सम्प्रदाय के साथ

१. सम्भवत बौद्ध सिद्धो से ही प्रभावित जैन मुनि रामसिंह (११०० ई०) थे, जिन्होंने पांच बैलों (ज्ञानेन्द्रियों) को रखाने की बात कही है "पचबलद्ध न रक्खइ" ("तू ने पांच बैलों को नहीं रखाया।") पाहुड दोहा।

२. दि सूत्र ऑव वे-लेंग् (हुइ-नेंग्), पृष्ठ ७२।

तुलना करने पर कबीर के मन सम्बन्धी विचारो का महत्व और रहस्य खुलता है। उनके मनोवैज्ञानिक अभिप्रायो का मनन और अध्ययन जरूरी है।

बोधिधर्म और योगी परम्परा

मध्ययुगीन निर्गुण-साधना को ध्यान मे रखते हुए जब हम ध्यान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते है तो अनेक नई बातें हमारे सामने आती हैं। स्वय बोधिधर्म के जीवन मे दो-एक बातें ऐसी हैं जो नाथ-साधना के स्रोतो के साथ ध्यान-सम्प्रदाय की एकात्मता की ओर सकेत करती दिखाई पड़ती हैं। उदाहरणत इस तथ्य की ओर ध्यान दीजिए. ध्यान-सम्प्रदाय के आदिम काल से ही चीन के और बाद मे जापान के चित्रकारो ने बोधिधर्म के चित्राकन मे रुचि दिखाई है। ये चित्र कहां तक वास्तविक हैं, यह कहना कठिन है, क्योकि आकृति की अपेक्षा भावाभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य अधिक रहा है और व्यंग्य की ओर भी ध्यान-साधना की प्रवृत्ति अधिक है। फिर भी, जितने भी चित्र सातवी शताब्दी के बाद से मिलते हैं सबमे एक प्रमुख बात यह है कि बोधिधर्म की दाढी लम्बी बढी हुई है और वे कानो मे बडे-बडे कुण्डल पहने हुए हैं। मैंने पहली बार जापानी चित्रकार सेश्शू (१४२०-१५०६) और जसोकु (मृत्यु सन् १४८३ ई०) के द्वारा अकित बोधिधर्म के चित्रो को जब देखा, जिनमे बोधिधर्म के कानो की लोरो मे बडे-बड़े कुण्डल पडे हैं, तो, एक भिन्न अर्थ मे, मुझे जायसी की ये पक्तिया याद आ गई : "यह मूरति यह मुदरा हम न देख अवधूत !" "हे अवधूत ! यह मुदरा और यह मूरति तो हमने प्रकृत बौद्ध धर्म की भिक्षु-परम्परा मे कही देखी नही !" सचमुच योगी बोधिधर्म, जो ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा में बुद्ध के अट्ठाईसवें उत्तराधिकारी माने जाते हैं, एक बौद्ध भिक्षु जैसे लगते ही नही ! न काषाय, न मुण्डित सिर, न दाढी-मूछ मुडी हुई ! न ऋजु दृष्टि, बल्कि टेढी, एक रहस्यमय योगी की तरह भगिमा लिये हुए, शून्य मे निबद्ध दृष्टि, अदम्य सकल्प से परिपूर्ण ! किसी से सीधी बातें नही, विदेश मे भी किसी की परवाह नही, यहा तक कि चीन के सम्राट् को भी बुरी तरह फटकार दिया ! शैन्-क्वाग् पर कृपा की, तो भी फटकार के साथ ही। नौ वर्ष तक चीन मे रहे, पर किसी ने उन्हे जाना नही। और अन्त मे एक जूता हाथ मे लेकर नगे पैर चल दिये ! उस समय का सारा चीन उस योगी की तलाश मे व्याकुल हो गया और सारे देश मे एक लहर दौड़ गई कि वह क्या था और कहां गया ? किसी ने उन्हें जापान मे एक आर्त भिखारी के रूप मे देखा, किसी ने कल्पना की कि वे लौटकर भारत आये। भारी रहस्यमय व्यक्तित्व ! विश्व के किसी भी रहस्यवादी का

क्या होगा ? चीन, जापान और कोरिया के विचारशील जगत् को हिला दिया और आज पश्चिम के और विश्व के तत्वविदो को हिला रहा है बुद्ध का यह अट्ठाईसवा विस्मयकारी उत्तराधिकारी ! बार-बार उसके बारे मे चीन और जापान के साधक युग-युगो से सतत जिज्ञासा करते रहे हैं, "पश्चिम (भारत) से बोधिधर्म के चीन आने का उद्देश्य क्या था ?" बोधिधर्म का सम्बन्ध बौद्ध धर्म मे पल्लवित, परन्तु उसकी प्रकृत धारा से अलग, योगियो की एक परम्परा से होना चाहिये और था, जिससे ही नाथ-योग धारा जैसी साधनाए कुछ परिवर्तन लेते हुए निकली हैं। बोधिधर्म बिलकुल अवधूत-जैसे लगते हैं और इसमे कोई आश्चर्य भी नही। हम पहले देख चुके हैं कि स्वयं ध्यान-परम्परा के अनुसार महाकाश्यप ध्यान-सम्प्रदाय के प्रथम धर्म-गुरु थे और बोधिधर्म अट्ठाईसवें। महाकाश्यप, जैसा भी हम पहले कह चुके है, अवधूत-व्रतो (धुतग) के अभ्यास मे अग्रणी बुद्ध-शिष्य थे। अत यह पूरी परम्परा अवधूतो—अवधूत प्रकार के बौद्ध भिक्षुओ—की हो तो इसमे सन्देह ही क्या है और नाथपन्थी अवधूतो के यही मूल स्रोत रहे हो, तो इसमे भी क्या आश्चर्य किया जा सकता है ? नाथ-पन्थ के आविर्भाव के चार-पाच शताब्दियो पूर्व बोधिधर्म के कानो मे मोटे-मोटे मुदरो (कुण्डलो) को देखकर और बुद्ध-शिष्य महाकाश्यप को नाथ-पन्थ के आविर्भाव के डेढ हजार-वर्ष पूर्व अवधूत-व्रतो का अभ्यासी और ध्यान-सम्प्रदाय का आदिगुरु देखकर और सबसे बड़ी इस बात को देखकर कि एक ओर जापानी ध्यानी सन्त क्वंजन् (१२७७-१३६०) ने ध्यान-सम्प्रदाय का उल्लेख 'योगी-सम्प्रदाय' ('यग्-ची') के नाम से किया है और दूसरी ओर 'गोरक्ष-सिद्धान्त-सग्रह मे' नाथ-सम्प्रदाय को 'योग-सम्प्रदाय' कहकर पुकारा गया है, किसी को भी इस बात मे आश्चर्य और सन्देह नही हो सकता कि ध्यान-साधको और कनफटे साधुओ की परम्परा के आदि स्रोतो में कुछ न कुछ एकात्मता अवश्य होनी चाहिये।

नाथपन्थी योगियो की अटपटी रीति प्रसिद्ध है[1] और उनका फटकारना तो उनका एक प्रमुख लक्षण है ही। इस सम्बन्ध मे भारतीय समाज मे एक कहावत भी प्रसिद्ध हो गई है, "जो फटकारै सो योगी।" ये सब बातें योगी बोधिधर्म और ध्यान-सम्प्रदाय के अन्य योगाभ्यासियो पर घटित होती हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि नाथ-पन्थ की परम्परा मे योगी के रूप मे शिव की कुण्डल पहने जो प्राचीनतम मूर्तिया मिली हैं, वे भी आठवी शताब्दी ईसवी की हैं, जिनसे बोधिधर्म दो शताब्दी पूर्व के हैं। बौद्ध सहजयानी सिद्ध कण्हपा

---

१ मीरा जी अपने इसी 'योगी' को लक्ष्य कर कहती हैं—' जोगी किसका मीत ! सदा उदास रहे मोरी सजनी निपट अटपटी रीत।"

और जालन्धरपा भी सम्भवत: कुण्डल पहनते थे, परन्तु इनसे भी बोधिधर्म तीन शताब्दी पूर्व के हैं। मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ ने कुण्डलो का व्यापक रूप से प्रचार किया और इनसे तो बोधिधर्म कम से कम चार शताब्दी पूर्व के हैं ही। अत: बोधिधर्म के कुण्डल महत्वपूर्ण हैं और इस तथ्य की ओर सकेत करते हैं कि नाथ-योगियो की कर्ण-मुद्रा के प्रेरक स्रोत सम्भवत: वही लटके या उलझे हुए हैं।

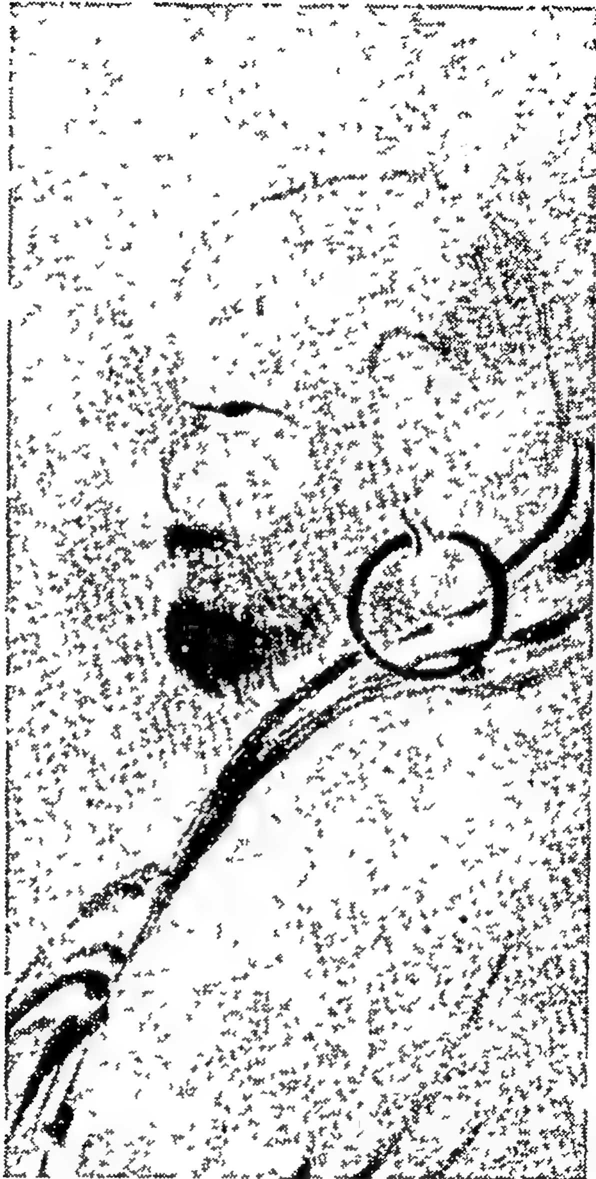
एक बात और। सन् १००४ ई० मे चीनी भाषा मे लिखित ध्यान-सम्प्रदाय का एक इतिहास-ग्रन्थ है, जिसका नाम है 'धर्म-दीप-प्रेषण-अभिलेख।' इसमे बोधिधर्म की जीवनी भी दी गई है, जो प्रामाणिक मानी जाती है। इसमे एक बडी नई बात हमे मिलती है। इसमे लिखा हुआ है कि बोधिधर्म ने तरुणावस्था मे ही 'गृहस्थ के श्वेत वस्त्रो' को छोड़ दिया और भिक्षुत्व के 'काले वस्त्र' को धारण किया।[1] अब बौद्ध धर्म की भिक्षु-परम्परा मे काले वस्त्र पहनने की विधि कहां है? सचमुच बोधिधर्म का सम्बन्ध बौद्ध भिक्षुओ की प्रकृत परम्परा से न होकर एक ऐसी परम्परा से रहा होगा जिसमे काले वस्त्र विहित होगे। बौद्ध धर्म के बाद के इतिहास मे इस प्रकार के काले वस्त्र पहनने वाले भिक्षु हुए, इसकी सूचना हम पालि ग्रन्थ 'थेरगाथा' तक मे पाते है। यहा फुस्स नामक भिक्षु ने आगे आने वाले भिक्षुओ के व्यवहार का वर्णन करते हुए कहा है कि उनमे से अनेक काषाय वस्त्रो को छोड़कर काले रग के चीवर पहनेंगे। इससे यह विदित होता है कि जिस समय 'थेरगाथा' लिखी गई थी या सकलित की गई थी, उस समय काले चीवर पहनने वाले भिक्षु थे और स्थविरवादी भिक्षु उन्हें ठीक नही समझते थे। यह बहुत सम्भव है कि ये काले वस्त्रधारी भिक्षु उसी परम्परा मे रहे हो जिसमे आगे चलकर बोधिधर्म हुए और जिसका अनिवार्य प्रभाव बाद मे नाथ-पन्थ जैसी योगवादी साधनाओ पर पडा। नील वस्त्रधारी भिक्षुओ को हम तान्त्रिक बौद्ध धर्म की परम्परा मे भी देखते हैं। अत. इन काले-नीले वस्त्रधारी भिक्षुओ का तान्त्रिक बौद्ध धर्म के साथ-साथ नाथ-पन्थ से भी अवश्य आदिम सम्बन्ध होना चाहिये, इसमे बिलकुल सन्देह दिखाई नही पड़ता।

'ध्यान' और 'धर्म-सम्प्रदाय'

एक सुझाव और रखना चाहता हूं, जो केवल एक सुझाव मात्र ही है। बौद्ध धर्म की गत शताब्दी मे की गई खोजों से पता लगा है कि पश्चिमी बगाल और

१. देखिये सुजुकी . एसेज इन जेन् बुद्धिज्म, फर्स्ट सीरीज, पृष्ठ १७१।

योगी बोधिधर्म



कानो मे कुण्डल (मुदरा) धारण किये हुए

चित्रकार मु-चि (चीनी)

उडीसा के कुछ भागो मे आज तक 'धर्म-सम्प्रदाय' नामक एक सम्प्रदाय विद्यमान है जो 'धर्म' या 'निरजन' की पूजा करता है और जिसे बौद्ध धर्म का भग्नावशेष माना जा सकता है। निरंजन की तो कोई बात नही, परन्तु 'धर्म' के नाम से एक सम्प्रदाय की बात सुनकर और विशेषत. यह सुनकर कि उसके अनुयायी 'धर्म' की एक देवता के रूप मे पूजा करते हैं, कुछ चौकन्ना होना पड़ता है। यहा एक विचार मेरे मन मे आता है। चीन और जापान मे बोधिधर्म अपने संक्षिप्त नाम 'धर्म' से जाने जाते है, चीनी भाषा मे 'तमो' और जापानी भाषा मे 'दरुम'। ध्यान-सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे तो उनको इस सक्षिप्त नाम 'धर्म' से पुकारना एक साधारण बात है। यह सार्थक भी हो सकता है, क्योकि वे धर्म से, सत्य से, शून्य से, निरंजन से, एकाकार थे और उनके उपदेशो की मूल भावना भी यही है। अब किसी को पता नही कि चीन से बोधिधर्म कहा गये? कुछ का यह विश्वास है कि वे जापान गये और कुछ का यह कि वे लौटकर भारत आये। यदि यह ठीक हो कि वे भारत वापस आये तो वे असम की पहाड़ियो मे होकर चीन से पूर्वी बिहार, बगाल और उडीसा मे आ सकते हैं या जापान से भी उनका यहां आना सम्भव है। बौद्ध धर्म, विशेषत' योगवादी बौद्ध धर्म इन प्रदेशो मे आज तक पाया जाता है, इससे इस सम्भावना को और भी बल मिलता है कि सम्भवत: बोधिधर्म भारत के इस भाग मे छठी शताब्दी ईसवी मे आये हो। और तब यह बहुत सम्भव है कि जिस 'धर्म' या 'धर्म-देवता' या 'धर्म-ठाकुर' या 'धर्मराज' को इन प्रदेशो के धर्म-मत के लोग पूजते हैं, वह कही बोधिधर्म ही न हो, जिनका ही प्रसिद्ध संक्षिप्त नाम 'धर्म' था और जिस तथ्य को वे लोग आज भूले हुए हैं। इस प्रकार की विस्मृति असम्भव नही है। इस प्रकार के उदाहरण हमे जावा, बाली, नेपाल और लद्दाख तक के बौद्धो मे मिलते हैं, जो अपनी धार्मिक क्रियाओ मे अनेक बातो को आज तक भूले हुए रूप मे करते हैं। पूर्वी भारत की वन्य जातियो के सम्बन्ध मे, जो धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायी है, यह बात और अधिक सम्भव हो सकती है। अत 'धर्म' की पूजा भूले हुए रूप मे कही 'बोधिधर्म' की ही तो पूजा नही है, इस बात की पूरी सम्भावना है। जहा तक सिद्धान्तो का सम्बन्ध है, 'धर्म' की एकात्मता बोधिधर्म से और भी अधिक स्पष्ट दिखाई जा सकती है। धर्म से, सत्य से, शून्य से, निरंजन से, वे एकाकार थे, यह बात ध्यान-सम्प्रदाय के केन्द्रीय विचार के अनुसार कही जा सकती है। इस सम्बन्ध मे यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नही है कि ध्यान-सम्प्रदाय के कई चीनी इतिहास-ग्रन्थो मे बोधिधर्म को स्वय 'परमार्थ' नाम से पुकारा

भी गया है। अत. धर्म-मत के आराध्य 'धर्म' कहा तक 'धर्म' या वोधिधर्म हैं, इस वात की आगे खोज की वडी आवश्यकता है।

परन्तु यदि इस सम्भावना को हम कल्पना मात्र मान कर छोड़ भी दें, तो एक वात और भी वड़ी आश्चर्यजनक हमारे सामने आती है। वह यह है कि स्वयं छठे धर्मनायक (हुइ-नेग्—६३८-७१३ ई०) द्वारा भाषित 'सूत्र' मे ध्यान-सम्प्रदाय को 'धर्म-सम्प्रदाय' कहकर पुकारा गया है।[1] यह 'धर्म-सम्प्रदाय' तो बिलकुल वही नाम है जो हमारे बगाल और उड़ीसा मे प्रचलित 'धर्म-सम्प्रदाय' का है। यह एक वड़ी भारी अद्भुत वात है और इस तथ्य के उद्घाटन से इस सम्भावना को वल मिलता है कि शायद इस भारतीय 'धर्म-सम्प्रदाय' का 'धर्म-सम्प्रदाय' के रूप मे ध्यान-सम्प्रदाय के साथ कुछ न कुछ ऐतिहासिक सम्वन्ध हो और दोनो की उत्पत्ति मे कुछ समान तत्व विद्यमान हो। यह बात यह लेखक पहली वार यहा प्रस्तुत कर रहा है और उसे आशा है कि इससे आध्यात्मिक इतिहास की एक आश्चर्यकारी घटना उद्घाटित होगी।

वीसवी शताब्दी के आरम्भ मे श्री नगेन्द्रनाथ वसु महोदय ने मयूरभज (उड़ीसा) प्रदेश के घने जंगलो मे भारतीय 'धर्म-सम्प्रदाय' की विद्यमानता का पता लगाया था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि मौडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स् फोलोअर्स इन उड़ीसा' मे उन्होने इसका कुछ विवरण दिया है,[2] परन्तु उससे, जहां तक हमारा सम्वन्ध है, हमारा पूरा समाधान नही होता। चूंकि यह एक भग्न और मिश्रित सम्प्रदाय के रूप मे ही विद्यमान है और पाण्डुलिपियो के रूप मे प्राप्त इसका अधिकाश साहित्य भी प्राय. लुप्त हो गया है, अत इस अस्पष्टता को दूर करने का वर्तमान परिस्थिति मे कोई उपाय भी दिखाई नही पडता। वाद मे डा० शशिभूषण दासगुप्त ने अपनी पुस्तक 'ओव्सक्योर रिलिजस कल्ट्स्' (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४६) मे इस पर कुछ नया प्रकाश डाला है,[3] परन्तु उससे भी इस अस्पष्ट धर्म-साधना सम्वन्धी वहुत-सी बातें अनिश्चित ही रह जाती हैं और हमारा पूरा सन्तोष नही हो पाता। वसु महोदय ने हमे बताया है कि इस धर्म-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो पर प्रकाश डालने वाले दो महत्वपूर्ण मध्ययुगीन ग्रन्थ है (१) दसवी-ग्यारहवी शताब्दी के वगला कवि रामाई पण्डित-कृत 'शून्य पुराण' और (२) उनके कुछ वाद के उड़िया कवि महादेवदास-कृत

---

१. दि सूत्र ऑव वे-लॅंग् (हुइ-नेंग्), पृ० १२६।

२. पृष्ठ १००-११२, १४३-१४५ (कलकत्ता, १९११)।

३. पृष्ठ २६७-३६६।

'धर्म-गीता'। इन ग्रन्थो के आधार पर और स्वय 'धर्म-सम्प्रदाय' के अनुयायियो के प्रत्यक्ष सम्पर्क के आधार पर श्री नगेन्द्र बाबू ने हमे बताया है कि इस 'धर्म-सम्प्रदाय' के अनुयायी 'शून्य ब्रह्म' के उपासक है और "ओम् शून्य ब्रह्मरणे नम" उनका मत्र है।[1] धर्म को वे शून्य के रूप मे देखते है और वह ब्रह्म का पर्यायवाची है। यही भावना उडीसा के प्राय. सभी मध्ययुगीन वैष्णव कवियो मे मिलती है। बलरामदास, जगन्नाथदास, चैतन्यदास, अच्युतानन्द दास और महादेवदास, प्राय सब शून्य, महाशून्य और ब्रह्म को समानार्थवाची शब्दो के रूप मे प्रयुक्त करते हैं। हम जानते हैं कि कबीर ने भी ऐसा किया है और महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर महाराज ने भी। 'धर्म-सम्प्रदाय' के अनुयायियो का 'धर्म' एक आध्यात्मिक तत्व है। 'धर्म-गीता' के अनुसार उनके सृष्टि-क्रम-विकास का यह रूप है : महाशून्य से पवन उत्पन्न हुआ, पवन का पुत्र युग, युग का पुत्र निरजन, निरजन का पुत्र निर्गुण, निर्गुण का पुत्र गुण, गुण का पुत्र स्थूल (ठुल), और स्थूल का पुत्र धर्म, जिसकी भौंहो के स्वेद से एक सुन्दर तरुणी उत्पन्न हुई और तदनन्तर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर (हर) उत्पन्न हुए और इस प्रकार यह ससार चला। रामाई पण्डित के 'शून्य-पुराण' मे महाशून्य के शरीर को ही धर्म कहा गया है और उससे निरंजन की उत्पत्ति बताई गई है। इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि शून्य के विचार का इस धर्म-साधना मे प्राधान्य है। 'धर्म-गीता' मे शून्य का कितना सुन्दर वर्णन है, "वहा सूर्य नही है, चन्द्रमा नही है, अष्ट दिग्पालो मे से कोई नही है, जन्म नही है, मृत्यु नही है, गर्मी नही है, सर्दी नही है।"[2] एक ओर यह सम्प्रदाय बौद्ध शून्यवाद से (जो ध्यान-सम्प्रदाय का भी प्राण है) गहरे रूप से सम्बन्धित है और दूसरी ओर इसके 'निर्गुण' और 'निरजन' निर्गुणपन्थी और नाथपन्थी साधना-धारा से भी अपना पूर्वकालीन सम्बन्ध और सामजस्य दिखा रहे है। धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायी 'धर्म' की पूजा पुरुष रूप मे भी करते हैं और स्त्री रूप मे भी। स्त्री रूप मे 'धर्म' आदि धर्म, प्रज्ञा देवी, प्रज्ञा पारमिता, धर्म देवी, आदि-माता, बुद्ध-माता, आर्य तारा आदि का प्रतीक है। बोधिधर्म या 'ध्यान-सम्प्रदाय' का कही क्षीण

---

१ वहीं, पृष्ठ ११२।

२. "शन्य शून्य महाशून्य
नाहि सूर्य नाहि चन्द्र अष्ट दिक् पाल।
नाहि जन्म मृत्यु नाहि तपत शीतल॥" दि माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उडीसा, पृ० १०१ में उद्धृत।

निर्देश या आभास भी ऊपर से इस सम्प्रदाय मे नही आता। और न वसु महोदय या शशिभूषण दासगुप्त ने ही इस सम्प्रदाय के विवरण मे ध्यान-सम्प्रदाय या वोधिधर्म का कही नाम भी लिया है। सम्भवत. इसकी ओर उनका विलकुल ध्यान ही नही था। परन्तु ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि इस 'धर्म-सम्प्रदाय' का अपने ही नाम वाले 'धर्म-सम्प्रदाय' अर्थात् 'ध्यान-सम्प्रदाय' से कही न कही घनिष्ठ सम्बन्ध होना ही चाहिये। धर्म-देवता या धर्म-ठाकुर, या धर्मराज जिसे धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायी पूजते हैं, अपने नाम और रूप मे एक विचित्र देवता है, जिसके स्वरूप का पूरा निर्णय अभी नही हो पाया है। नगेन्द्रनाथ वसु इसे त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, सघ) के अन्तर्गत धर्म का प्रतीक मानते हैं और इस वात की गवेषणा करना चाहते है कि शेष दो रत्न—बुद्ध और सघ—की पूजा का विधान क्यो नही है ?[1] डा० शशिभूषण दासगुप्त ने धर्म-सम्प्रदाय के साहित्य के आधार पर धर्म-ठाकुर (जिस नाम से धर्म-देवता की पूजा पश्चिमी वगाल की कई छोटी मानी जाने वाली जातियां करती हैं) के स्वरूप की विस्तृत समीक्षा की है, परन्तु सिवाय उसके मिश्रित रूप को प्रकट करने के कुछ स्पष्ट वात इस धर्म-ठाकुर के विषय मे वे नही कह पाये हैं। उन्होने कहा है कि धर्म-ठाकुर के वर्णन मे शून्य या शून्यता का वहुलता से उल्लेख किया गया है।[2] साथ ही 'निरजन' धर्म का एक विशेषण माना गया है।[3] धर्म-देवता विष्णु भी हैं,[4] राम भी,[5] सूर्य भी,[6] शिव भी।[7] धर्म-सम्प्रदाय के साहित्य मे इस वात का समर्थन है कि वुद्ध ही पुरी के जगन्नाथ के रूप मे अवतरित हुए हैं और उन्ही का वाद का रूप धर्म-देवता है।[8] धर्म-देवता धर्मराज यम भी हो सकते हैं, नेपाल के आदि-वुद्ध भी या स्वयम्भू-पुराण के स्वयम्भू भी।[9] इस प्रकार

१. दि माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उडीसा, पृष्ठ १००, १४४-४५।

२ ओव्सक्योर रिलिजस कल्ट्स्, पृष्ठ ३२९-३३१। डा० शशिभूषण दासगुप्त ने भी धर्म-रत्न के रूप में धर्म-ठाकुर का विवेचन किया है। देखिए उनका 'ओव्सक्योर रिलिजस कल्ट्स', पृष्ठ ३१७-३१८, ३२०।

३. वहीं, पृष्ठ ३३१-३३२।

४. वहीं, पृष्ठ ३३९-३४२।

५. वहीं, पृष्ठ ३४०-३४५।

६ वहीं, पृष्ठ ३३६-३३९।

७. वही, पृष्ठ ३०८, ३२१-३२५।

८ वही, पृष्ठ ३२०।

९. वही, पृष्ठ ३०८, ३२६-३२८।

औपनिषद ब्रह्म से लेकर सांख्य के पुरुष, तन्त्रो के शिव, वैष्णवो के विष्णु, राम और कृष्ण, यम, स्वयम्भू और आदि-बुद्ध सबके कुछ-न-कुछ तत्व धर्म-ठाकुर या धर्म-देवता मे बताये गये हैं और निष्कर्ष रूप मे कहा गया है कि शिव और बुद्ध के विचारो ने मिलकर धर्म-ठाकुर या धर्म-देवता के स्वरूप का निर्माण किया है।[1] जहा इतने विकल्पो के लिए अवकाश है वहा, जैसा हम ऊपर भी कह चुके हैं, हमारे लिए यह कहना भी कुछ अधिक नही है कि धर्म-देवता या धर्म-ठाकुर विस्मृत और अज्ञात रूप मे 'धर्म' या 'बोधिधर्म' के प्रतीक हैं, जो उपर्युक्त सब देवताओ से अधिक सार्थक रूप मे 'शून्य' है, परमार्थ-स्वरूप हैं। धर्म-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार धर्म-ठाकुर का वर्ण गौर है और उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु सफेद रग की है। डा० शशिभूषण दासगुप्त इसे शिव और सरस्वती से सम्बन्धित मानते हैं।[2] परन्तु यह सम्भव और सार्थक नही लगता। हम बैलो के प्रशिक्षण सम्बन्धी चित्रो मे देख चुके हैं कि सफेद रग का महत्व ध्यान-सम्प्रदाय मे क्या है और वह किसका प्रतीक है? यह व्याख्या मेरी समझ से धर्म-ठाकुर के स्वच्छ वर्ण और उनकी प्रत्येक वस्तु के स्वच्छ वर्ण के होने के साथ अधिक सुसगत हो सकती है। धर्म-ठाकुर की मूर्तिया बगाल मे मिलती हैं जो प्रायः कच्छप के आकार की होती है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने उन्हें बौद्ध स्तूप की प्रतीक माना था, जो बहुत दूर की कल्पना मालूम पडती है। कच्छप अवतार की बात भी यहां जमती नही। एक अन्य विचार मेरे मन मे आ रहा है। सयुत्त-निकाय की अट्ठकथा मे उल्लेख है कि अपने परिनिर्वाण के हेतु बुद्ध से विदाई लेने के लिए जब धर्म-सेनापति सारिपुत्र उनके पास गये तो उन्होने शास्ता के 'सुवर्ण कच्छप सदृश चरणो' की वन्दना की। अतः मुझे यह लगता है कि भारतीय धर्म-सम्प्रदाय मे पूजित कच्छपाकार धर्म-देवता, जिनका स्वरूप अभी निश्चित नही हुआ है, सम्भवत. कही बुद्ध-चरण ही तो नही हैं? यदि 'धर्मराज' को हम बुद्ध मानें (यम की बात कहना बेकार है) तो भी यह बात ध्यान-सम्प्रदाय के सर्वथा अनुगत है। वैसे तो 'धर्मराज' महायान मे बुद्ध के लिए प्रयुक्त एक प्रसिद्ध उपपद है ही, परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय मे तो वह पूरी प्रतिष्ठा और आध्यात्मिक अर्थवत्ता के साथ विद्यमान है। 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' मे कहा गया है, "कम ही लोग जानते हैं कि जलते हुए घर (पार्थिव सत्ता) के अन्दर ही धर्मराज को पाया जा सकता है।"[3] इस प्रकार भी

---

१ वही, पृष्ठ ३४८।

२ वहीं, पृष्ठ ३४५-३४८।

३. दि सूत्र ऑव वे-लेंग् (हुइ-नेंग्), पृष्ठ ७३।

ये दोनो गूढ साधनाए (धर्म-सम्प्रदाय और ध्यान-सम्प्रदाय) गहरे रूप मे एक दूसरे से निवद्ध हो जाती हैं और अत्यन्त सार्थक रूप से, जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, 'धर्म-सम्प्रदाय' का समान अभिधान धारण करती हैं। कुछ भी हो, इसमे विलकुल सन्देह नही है कि धर्म-देवता या धर्मराज मूलतः बुद्ध ही है। आचार्य दिनेशचन्द्र सेन ने रामाई पण्डित (दसवी-ग्यारहवी शताब्दी) के 'शून्य पुराण' से दो महत्वपूर्ण उद्धरण दिये हैं, जिनसे यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि धर्मराज की पूर्व कल्पना वुद्ध रूप मे ही थी। उद्धरण हैं "धर्मराज यज्ञ निन्दा करे" तथा 'सिंहले श्री धर्मराज वहुत सम्मान।"[1] कहने की आवश्यकता नही की इस तथ्य से धर्मराज वुद्ध ही सिद्ध होते हैं। पालि और सस्कृत बौद्ध साहित्य मे 'धर्मराज (धम्मराज) शब्द का प्रयोग वुद्ध के लिए इतनी अधिक वार हुआ है कि उसकी गणना नही की जा सकती।[2] एक वड़ी वात यह है कि धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायी वैशाखी पूर्णिमा (वुद्ध-पूर्णिमा) और आषाढी पूर्णिमा (वुद्ध द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन का दिन) को त्यौहारो के रूप मे मनाते हैं और शून्य-पुराण के वर्णनानुसार श्रीलका को धर्म-देवता का आदिम स्थान मानते हैं। अतः उनके मूल रूप से वौद्ध सम्प्रदाय होने मे कोई सन्देह नही किया जा सकता। एक अन्य महत्वपूर्ण वात यह भी है कि इस शताब्दी के आदि मे वसु महोदय को इस सम्प्रदाय सम्वन्धी पांडुलिपिया मयूरभंज प्रदेश मे उन लोगो के यहां मिली थी जो अपने को 'योगी' कहते हैं। वसु महोदय ने इस वात का उल्लेख अपनी पुस्तक मे किया है। हम देख चुके हैं कि ध्यान-सम्प्रदाय 'योगी-सम्प्रदाय' ('यग्-चीं') ही है। अतः यह विलकुल असम्भव नही है कि यह भारतीय धर्म-सम्प्रदाय मे पूजे जाने वाले 'धर्म-देवता' या 'धर्म-ठाकुर' इसी (धर्म-सम्प्रदाय) नाम वाले ध्यान-सम्प्रदाय के संस्थापक योगी वोधिधर्म या 'धर्म' ही तो नही हैं, या उनके द्वारा संस्थापित वुद्ध-चरण ही, जिनका आकार, जैसा हम पहले कह चुके है, पालि ग्रन्थो के आधार पर, स्वर्ण कच्छप का ही है।

पीछे हमने गुरु गोरखनाथ के वैल को ध्यानी सन्तो की चरागाह मे चरते देखा है। अनेक प्रतीक, रूपक और कथन-प्रकार ऐसे मिलेंगे जो सिद्धो और नाथो की वाणियो के साथ-साथ सन्त-साहित्य और ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य

१ देखिए दिनेशचन्द्र सेन 'हिस्ट्री ऑव वंगाली लेंग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ३२ (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५४, द्वितीय संस्करण)

२. देखिए आगे 'सन्धाय भासित' के विवेचन के प्रसंग में 'मिलिन्द-पञ्हो' से उद्धृत अंश (' ··· धम्मराजस्स सासने')

मे साथ-साथ पाये जाते हैं और उनमे से अधिकाश बौद्ध-धर्म की सम्पत्ति है, या सामान्यत: सम्पूर्ण भारतीय धर्म-साधना की भी। तेल, वत्ती और दीपक की उपमा जीवन के उपादानो के लिए मूलत. बुद्ध ने प्रयुक्त की थी। बौद्ध साहित्य मे वह सर्वत्र पाई जाती है। कवीर साहव जव यह कहते हैं "कवीर निरभै राम जपि जब लगि दीवै वाति। तेल घट्या वाती बुझी सोवैगा दिन-राति।" तो यह निश्चयत. एक बौद्ध प्रयोग ही है जो जीवन की लौ के रूप को प्रकट करने के लिए किया गया है। इसी प्रकार भव-सागर और वेड़ा की उपमा भारतीय धर्म-साधना का एक साधारण प्रयोग है जो अब रूढ हो गया है। उपनिषदो मे भी यह प्रयुक्त हुआ है और बुद्ध ने भी इसे प्रयोग किया था। अत मध्ययुगीन निर्गुण-साहित्य या ध्यान-साहित्य मे इसका पाया जाना नितान्त साधारण बात है। तूंबी की उपमा ध्यान-साहित्य और सन्त-साहित्य दोनो मे पाई जाती है, यद्यपि जिन वस्तुओ के लिए इसे प्रयुक्त किया गया है, उनमे भिन्नता है। ध्यान-सम्प्रदाय की भाषा मे ध्यान-अनुभव पानी पर तैरती हुई तूवी के समान है जो छुए जाने पर आनन्दपूर्वक नाचने लगती है। कबीर ने तूवी का प्रयोग अनेक बातो के लिए किया है, परन्तु एक जगह उन्होने उसकी उपमा 'सुरति' से दी है। "सुर का नालि सुरति का तूबा सतगुरु साज बनाया।" इसे ध्यान-सम्प्रदाय के विचार के समीप माना जा सकता है। दोनो मे ध्यान के आनन्द की अभि-व्यक्ति है। ध्यान-सम्प्रदाय मे तूवी को शून्यता का भी प्रतीक रूप दिया गया है। सन्त-साहित्य मे भी इस प्रकार का विचार ढूढा जा सकता है। धोबी के वस्त्र धोने और रंगरेज के रगने की उपमाए साधारण भारतीय उपमाए हैं। बुद्ध ने सम्भवत इन्हें सर्वप्रथम प्रयुक्त किया था। सम्पूर्ण मध्ययुगीन साहित्य मे ये पाई जाती हैं और ध्यान-साहित्य मे भी। छठी-सातवी शताब्दी ईसवी मे शेन्-सियु ने मन को स्वच्छ दर्पण वताते हुए कहा था, "हर क्षण हम इसे साफ करते हैं ताकि इस पर धूल न जम जाय।" योका डेशी (आठवी शताब्दी) ने भी न केवल इस दर्पण का निर्देश किया है, बल्कि इसकी दार्शनिक व्याख्या भी की है। बोधि-गीत मे वे कहते हैं, "द्रष्टा और दृश्य का द्वैत ही दर्पण पर जमा हुआ मैल है।" इस मैल को धोने का वे सतत अनुरोध करते हैं, बिलकुल वैसे ही जैसे कई शताब्दियो बाद कबीर—"जौ दरसन देखा चहियै तौ दरपन मांजत रहिये। जब दरपन लागै काई तब दरसन किया न जाई।" कहने की आवश्यकता नही कि इसी दर्पण को हमारे सिद्धो ने हाथ मे पकडा, नाथ-योगियो ने भी लिया और उन्ही के प्रसाद से सूफी साधको ने भी, जिन्होंने वार-बार उसकी काई को साफ करने का आदेश अपने कल्पित प्रेम-योगियो को दिया है

और माना है कि वैसा करने पर विश्व का कण-कण योगी को विदित हो जाता है। हम पहले चतुर्थ परिच्छेद मे देख चुके है कि हुइ-नेंग् (छठी-सातवी शताब्दी) ने शरीर को नगर, पाच इन्द्रियो को उसके पाच बाहरी दरवाजे, विचार को अन्दर का दरवाजा, मन को राज्य-प्रदेश और 'मन के सार' को राजा बताया है। स्वय भगवान् बुद्ध का सयुत्त-निकाल मे एक उपदेश भी है जिसमे शरीर को एक राजा का नगर बताया गया है, जिसके छह इन्द्रिय-आयतन छह दरवाजो के समान हैं और राजा मन है। इस बात को ध्यान मे रखकर जब हम सूफी कवियो के इन सम्बन्धी रूपको को देखते हैं ("तन चितउर मन राजा"; "गढ तस बाक जैस तोर काया", आदि) तो यह प्रतिभासित होते देर नही लगती कि वे किसी न किसी प्रकार बौद्ध स्रोत से ही उनके पास आये हैं। और इस स्रोत की भी खोज मुश्किल नही है। ये विचार उन्हें मौखिक परम्परा के रूप में हिन्दू जनता के उस निम्न वर्ग से मिले जो बौद्ध धर्म का अवशिष्ट थी और जिसमे बौद्ध धर्म की अनेक मान्यताएं और वचन-प्रयोग विस्मृत रूप मे प्रचलित थे और जिनके साथ मुस्लिम सूफी साधको का सम्पर्क भी नितान्त स्वाभाविक था। इसी प्रकार कई अन्य समान प्रयोग और रूपक भी ढूंढे जा सकते हैं। कबीर ने मधुर-भाव की मौज मे आकर कही-कही विरहिणी और विवाह आदि के रूपक प्रस्तुत किये है। ये बाते ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य मे बिलकुल नहीं मिलेंगी। मिलन और विरह के बजाय वे सदा अद्वैत और द्वैत कहते हैं। इस प्रकार भावाभिव्यक्ति मे कई समानताएं और कुछ असमानताए भी 'ध्यान'-साहित्य और निर्गुण-साहित्य मे पाई जाती हैं।

उलटवांसियों की परम्परा

सबसे बडी समानता जो इस सम्बन्ध मे पाई जाती है, उलटी भाषा या ऊपर से विपरीत लगने वाले कथनो का प्रयोग है। कबीर की उलटवासिया (या उलटवांसियां) प्रसिद्ध हैं और पहेली जैसे कथन भी, जिनसे वे जन-साधारण को उद्बुद्ध और विस्मित किया करते थे। परन्तु 'उलटवासी' या 'उलटवांसी' शब्द का क्या अर्थ है और इसकी व्युत्पत्ति के साथ वह किस प्रकार ठीक बैठता है, यह एक समस्या है जिसे, जहां तक मैं जानता हू, अब तक कोई विद्वान् स्पष्ट नही कर सका है। सन्त-साहित्य पर जितने ग्रन्थ निकले हैं उनमे से अधिकांश को देख लेने पर भी इस सम्बन्ध मे मेरा समाधान नही हुआ है। यहा पर मैं एक विनम्र प्रस्ताव विद्वानो के समक्ष रखना चाहता हूं। 'उलटवासी' मे यह तो स्पष्ट ही है कि इसका व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ 'बास का उलटा कर देना' है।

अब इस 'बास के उलटे कर देने' मे किस अर्थ की ओर सकेत है, इसकी ओर मैं ध्यान दिलाना चाहता हूं। दीघ-निकाय के तेविज्ज-सुत्त तथा मज्झिम-निकाय के चकी-सुत्त मे 'अन्धो के बास' ('अन्ध-वेणु') की उपमा है। एक बास को पकडे अन्धो की पक्ति चली जा रही है, "जैसे वाशिष्ठ ! अन्धो की कतार एक-दूसरे से जुडी हो, पहले वाला भी नही देखता, बीच वाला भी नही देखता, पीछे वाला भी नही देखता।" सब अन्धे एक बांस को पकडे, एक-दूसरे के पीछे चले जा रहे हैं। "अन्धहि अन्धा ठेलिया।" ब्राह्मणो के धर्म को अन्धो के बास की इस पक्ति से उपमा दी गई है। "एवमेव खो माणव ! अन्धवेणूपम मञ्ञे ब्राह्मणान भासित" ("इस प्रकार हे माणवक ! ब्राह्मणो का कहना अन्धो के बास के समान है।") स्पष्ट है कि परम्परा के अन्धानुसरण से तात्पर्य ही है यहा 'अन्ध-वेणु' या 'अन्धो के बास' की उपमा का। अब इस लेखक को यहा यह कहना है कि कबीर या अन्य सन्तो की जो उलटवांसिया हैं, वे इसी बास को उल्टा करना हैं। अन्धे जो बास को पकडे हुए एक-दूसरे के पीछे धकापेल चले जा रहे हैं, तो उनके बास को जरा उलट दो। क्या होगा ? अन्धे हक्के-बक्के रह जाएगे। सोचने को मजबूर होगे, उन्हें धक्का लगेगा, वे हडबडायेंगे, मार्ग खोजने को विवश होगे। कबीर की उलटबासियो का बिलकुल यही अर्थ है और बिलकुल यही उद्देश्य है। जिस बास को पकडे अन्धे पक्ति-बद्ध होकर चले जा रहे हैं, उसे उलट देना और उन्हें विचार के लिए प्रेरित करना। यह भी कितना समान और सार्थक है कि जिन अन्धाधुन्ध परम्परावादी ब्राह्मणो को लक्ष्य कर बुद्ध ने यह उपमा कही थी, उन्ही को या उनके उत्तराधिकारियो को चौकाने के लिए कबीर और अन्य सन्तो ने इसका प्रयोग किया है। वस्तुत उलटबासी का उद्भव और विकास हुआ ही उस साधना-धारा मे है जो क्रान्तिकारी है, जो परम्परावादी धारा को उल्टी बातें कह-कहकर चौंकाना चाहती है और उसे विचार के लिए धक्का देना चाहती है। 'उलटवासी' शब्द मे निहित यह रहस्य मुझे ऐतिहासिक और भाषात्मक दोनो दृष्टियो से सम्भव और उचित जान पडता है।

'अन्ध-वेणु' की उपमा की जो बात मैंने ऊपर कही है और उसके आधार पर जो 'उलटवासी' का अर्थ किया है, उसे स्वयं सन्त साहित्य से भी समर्थन प्राप्त है। "जाका गुरु भी अन्धला चेला खरा निरन्ध। अन्धहि अन्धा ठेलिया दून्यो कूप पड़न्त।" यहा इसी अन्ध-परम्परा की ओर सकेत है, परन्तु बास का उल्लेख नही है। उसे पीपा जी की वाणी मे देखिए। "अन्ध लकुटिया गहै जु अन्धै परत कूप कित थोरै।" यहां तो बिलकुल 'अन्ध-वेणु' के लिए 'अन्ध लकुटिया' और पूरी उपमा ही रक्खी हुई है। बस, इस 'लकुटिया' को उलट दीजिए और

'उलटवासी' का प्रकृत अर्थ आपको मिल जायगा, ऐसा मेरा विश्वास है, जो मुझे आशा है, विद्वानो को ग्राह्य होगा।

यद्यपि विद्वानो ने वैदिक साहित्य मे भी उलटवासियो या उलटे कथनों के उद्धरण ढूढ निकाले हैं (जिनमे से अधिकांश को 'उलटवासी' कहा भी नही जा सकता), परन्तु यह वैदिक साहित्य की अपनी विशेषता नही है, यह विलकुल स्पष्ट है। जो स्वय एक परम्परा-प्राप्त धर्म है, वहु-सख्यक समाज का धर्म है और उसी की परम्परा के रूप मे आगे चलना चाहता है, वह उल्टी वातें क्यो कहेगा ? उल्टी वातें सदा क्रान्तिकारी कहता है, वही धक्के देता है। अत भारत मे उल्टी भाषा का प्रयोग श्रमण-परम्परा मे ही हुआ, जो परम्परावाद की जगह प्रगति की समर्थक थी। बौद्ध धर्म इसी मे हुआ, उसके सिद्धो ने इस परम्परा को आगे वढाया और वाद मे नाथ और निर्गुण साधनाए इसी मे हुईं। इसलिए अभिव्यक्ति की यह उल्टी प्रणाली इन सवमे पाई जाती हैं और समान स्रोत की द्योतक है। किस प्रकार कवीर आदि सन्तो की उलटवासियो पर वौद्ध सिद्धो का प्रभाव है, इसका संक्षिप्त निर्देश प्रस्तुत लेखक ने 'वौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' के द्वितीय भाग मे किया है और अन्य कई विद्वान् भी इसका विस्तृत विवेचन कर चुके है। अतः हम यहां ध्यान-सम्प्रदाय तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि विरोधी भाषा का प्रयोग उसकी उपदेश-परम्परा का एक प्रमुख अंग है। किस प्रकार प्रज्ञापारमिता-साहित्य और लकावतार-सूत्र मे यह पाया जाता है, यह हम कुछ पहले (तृतीय परिच्छेद मे) देख चुके हैं और कुछ अभी देखेंगे। अभी हम चीनी ध्यानी परम्परा का कुछ साक्ष्य इस सम्वन्ध मे लें। छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् (६३८-७१३ ई०) ने, जो मध्यकालीन भारतीय सन्तो की परम्परा से करीव ६००-७०० वर्ष पूर्व हुए, अपने अन्त समय से कुछ पूर्व अपने सम्प्रदाय की परम्परागत उपदेश-विधि को समझाते हुए अपने शिष्यो से कहा था, "जव कोई आदमी तुमसे प्रश्न पूछे तो उसे उल्टे शव्दो मे उत्तर दो, ताकि दो विरोधी वातो का एक जोड़ा वन जाय···जव कभी तुम्हारे सामने कोई प्रश्नरक्खा जाय, तो यदि वह प्रश्न स्वीकारात्मक हो तो उसका उत्तर निषेधात्मक दो और यदि प्रश्न निषेधात्मक हो, तो उत्तर स्वीकारात्मक दो। यदि तुमसे साधारण लौकिक जन के वारे मे कुछ पूछा जाय तो पूछने वाले को सन्त पुरुष के वारे मे कुछ वतलाओ और यदि सन्त पुरुष के वारे मे तुमसे पूछा जाय तो दुनियावी आदमी के वारे मे वताओ।" इसे उन्होंने 'अपने सम्प्रदाय की परम्परा' वताया। इसका उद्देश्य

भी उन्होने स्पष्ट कर दिया। वह यह है : "दो विरोधी वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध या अन्योन्याश्रयता से मध्यम-मार्ग का सिद्धान्त समझा जा सकता है।" मध्यम-मार्ग की व्याख्या ध्यान-सम्प्रदाय मे सत् और असत् के अद्वैत के रूप मे की जाती है और उसी के लिए इस प्रकार विरोधी भाषा का प्रयोग किया जाता है। हुइ-नेंग् ने अपने उपर्युक्त प्रवचन मे छत्तीस 'विरोधी जोडो' का उल्लेख किया है, जैसे स्वर्ग और पृथ्वी, अस्तित्व और नास्तित्व, अच्छा और बुरा आदि। यह तथ्य कितना महत्वपूर्ण है कि इनमे से एक जोडे स्वर्ग और पृथ्वी को कबीर ने भी लिया है और बिलकुल ध्यान-सम्प्रदाय के समान अद्वय सत्य की सिद्धि के लिए या स्पष्टतम शब्दो मे मध्यम-मार्ग की सिद्धि के लिए ही अपनी साखियो के 'मघि कौ अग' मे प्रयुक्त किया है। कबीर साहब कहते हैं, "धरती और आसमान दो तूवडी है, जो बीच मे वधी नही हैं। (या धरती और आसमान के बीच मे दो तूवडी हैं जो वधी नही हैं)। इस रहस्य को समझने मे छह दर्शन सशय मे पडे हुए हैं और चौरासी सिद्ध भी।" "धरती अरु असमान बिचि दुइ तूवड़ी अवन्ध। षट दरसन ससे पर्‌या अरु चौरासी सिद्ध।" विरोधो के जोड़ो की बात के बारे मे हम ऊपर ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार देख चुके हैं कि किस प्रकार लौकिक पुरुष के वारे मे पूछे जाने पर ध्यान-योगी पूछने वाले को सन्त पुरुष के बारे मे बताना चाहते हैं और इसी प्रकार उनकी अन्य विरोधी बातें भी। कबीर बिलकुल इसी प्रणाली का अनुसरण कर कावा को काशी बना देते हैं, राम को रहीम और मोटे आटे को मैंदा और फिर स्वभावत अद्वैत के आनन्द मे लीन हो जाते हैं। "कावा फिर कासी भया, राम भया रहीम। मोट चून मैंदा भया, बैठि कबीरा जीम।" यह सार्थक है कि इन विरोधी जोड़ो का उपयोग कबीर ने 'मघि कौ अंग' मे ही किया है, मध्यम-मार्ग की स्थापना के लिए ही। बिलकुल समान उद्देश्य!

ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य मे जितनी उलटवासिया भरी पडी हैं, उनका दस हजारवा हिस्सा भी पूरे सन्त-साहित्य मे नही मिलेगा। और कितनी तेजस्वी और प्रभावशाली हैं वे उलटवासिया! हम देख ही चुके हैं (पहले परिच्छेद मे) कि कितनी उल्टी-उल्टी वातें करके वोधिधर्म ने चीनी सम्राट् को फटकार दिया और उल्टी बातें कर-कर के ही तत्कालीन चीन के विचारशील जगत् को हिला दिया, ताओवादियो और कनफ्यूशसवादियो को भी, जिनका दार्शनिक धरातल स्वय अति उच्च था। फिर सन्तो की उलटवासियो मे विरोधी कथन ही प्राय. अधिक हैं, द्वन्द्वो के परे जाने के लिए भी वहा विरोधी भाषा का प्रयोग है, जो दोनो बातें, जैसा हम देख चुके हैं, ध्यान-साहित्य मे भी भरपूर मिलती हैं।

परन्तु ध्यानी सन्तो की उलटबासियो का एक रूप यह भी है कि वे कही-कही प्रश्न की ही पुनरावृत्ति कर देते हैं, या कही-कही विस्मयसूचक सम्वोधनो का प्रयोग मात्र कर देते हैं। यही उनका उत्तर होता है। ये वाते सन्त-साहित्य मे नही मिलती। उलटबासियो से भी जहां काम नही चलता दिखता, वहा ध्यानी सन्त 'सीधी कार्यवाही' तक कर देते हैं, धक्का देते हैं, छडी से मारते हैं या गाली देते हैं। हमारे सन्तो के जीवन के अध्ययन से यह पता नही चलता कि वे किस मात्रा मे इन वातो को करते थे और न इस प्रकार व्यवहार पाने वाले शिष्यो के कृतज्ञता के उद्‌गार ही उनके साहित्य मे पाये जाते हैं। कुछ भी हो, उलट-वासियो की दोनो साहित्यो मे हजारो तक पहुचने वाली सख्या के होने के कारण दोनो का तुलनात्मक अध्ययन महत्वपूर्ण है और यह केवल अभिव्यक्ति का ही प्रश्न नही है। इससे सम्पूर्ण पूर्वेशिया, जिसमे चीन, जापान और कोरिया सम्मिलित हैं, और भारत के जो सोचने के ढंग हैं, उनके जो विभिन्न मनोविज्ञान हैं, उन पर भी प्रकाश पडता है। परन्तु यहां केवल वहुत सक्षिप्त सकेत ही इस विषय की ओर किया जा सकता है।

कवीर की "नैया विच नदिया डूवती जाइ" वाली उलटवासी प्रसिद्ध है। अव ध्यानी सन्त फुदाइशी (४९७-५६९ ई०) की यह गाथा देखिये—

मैं खाली हाथ चला जा रहा हूं, फिर भी
देखो, मेरे हाथ में एक फावड़ा है।
मैं पैदल चल रहा हूं, परन्तु
फिर भी एक वैल की पीठ पर मै सवार हू।
जव मै पुल से पार हो रहा हूं,
तो देखो, पानी वहता नहीं,
पर पुल वहा जा रहा है!

इस प्रकार की उलटवासिया चीन और जापान के ध्यान के साहित्य मे भरी पडी हैं। 'धूल का वादल समुद्र से उठ रहा है', 'जव दोनो हाथो से ताली वजाते हैं तो शव्द होता है, एक हाथ की ताली का शव्द सुनो", "यदि तुमने एक हाथ का शव्द सुना है, तो क्या उसे मुझे सुना सकते हो?" लगता है कि 'एक हाथ का शव्द' जिसे ध्यानी साधक सुनना चाहता है, सम्भवत वह एकान्त आत्म-चिन्तन का आनन्द ही है जिसके सम्वन्ध मे कवीर कहते है, "जव अपनै आपु विचारै, तव किता होइ आनन्द रे।" या उसे अद्वैत का प्रतीक

भी माना जा सकता है। इस प्रकार की उलटी भाषा केवल यह दिखाने के लिए प्रयुक्त की गई है कि साधारण मानवीय तर्क मनुष्य की गम्भीरतम आध्यात्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता और उसके लिए विरोधात्मक भाषा आवश्यक हो जाती है। मनुष्य को उसके पोषित मिथ्या विश्वासो से चौंकाने के लिए, विचार के लिए उसे असाधारण प्रेरणा देने के लिए, इस प्रकार के विरोधात्मक कथनो का प्रयोग ध्यानी सन्तो ने किया है। परम सत्य को वे अनिर्वचनीय मानते है। 'अस्ति' और 'नास्ति' की कोटियो मे उसे नही बाधा जा सकता। वह उनसे अतीत है। एक ध्यानी सन्त का कहना है, "जब मैं कहता हूं 'यह नही है' तो इसका अर्थ निषेध करना नही है, इसी प्रकार जब मैं कहता हू कि 'यह है' तो इसका अर्थ 'हा' कहना नही है। पूर्व की ओर मुडो और वही पश्चिम देश को देखो, दक्षिण की ओर मुह करो और वही तुम्हें उत्तरी ध्रुव दिखाया जा रहा है।" ध्यान-सम्प्रदाय के एक गुरु ने अपने दो शिष्यो को एक घडा दिखाकर कहा कि "इसे घडा कहकर मत पुकारो, परन्तु मुझे बताओ कि यह क्या है?" एक शिष्य ने कहा, "यह लकडी का टुकडा नही कहा जा सकता।" यह उत्तर गुरु को नही जचा। दूसरे शिष्य ने हल्के से धक्का देकर घडे को नीचे गिरा दिया और चुपचाप चल दिया! यही उत्तर ध्यान-सम्प्रदाय की भावना के अनुसार ठीक था। वस्तु की अनुभूति उसकी दार्शनिक व्याख्या से बडी वस्तु है, यही तत्व ध्यान-सम्प्रदाय मनुष्य को सिखाना चाहता है। एक अन्य गुरु ने अपने शिष्यो को एक लकड़ी दिखाई और कहा, "यदि तुम इसे लकडी कहो तो तुम 'अस्ति' कहते हो, यदि तुम इसे लकडी न कहो तो 'नास्ति' कहते हो। मत अस्ति कहो मत 'नास्ति' कहो। अब बताओ यह क्या है? बोलो! बोलो!" शिष्यो मे निस्तब्धता थी। वस्तुए निःस्वभाव और अव्यपदेश्य हैं। बौद्धिक विश्लेषण पर जोर न देकर हमे अपरोक्षानुभूति प्राप्त करनी चाहिये। एक शिष्य (सिग् पिग् ८४५-९१९ ई०) ने अपने गुरु (सुइ-वी) से पूछा,—"बौद्ध धर्म का आधारभूत सिद्धान्त क्या है?" गुरु ने कहा,—"ठहर, जब आसपास कोई नही होगा, तब मैं तुझे अकेले मे बताऊगा।" कुछ देर बाद शिष्य ने गुरु को फिर याद दिलाई, "भन्ते! अब यहा कोई नही है। मुझे बताइये।" अपने आसन से उठकर गुरु शिष्य को बासो के वन मे ले गया और कुछ न बोला। जब शिष्य ने उत्तर के लिए आग्रह किया, तो गुरु ने उसके कान मे कहा, "देख, ये बास कितने लम्बे हैं। और देख, वहा वे कितने छोटे हैं!" इस प्रकार पहेलियो मे उपदेश देने की ध्यान-सम्प्रदाय के गुरुओ की एक प्रथा-सी रही है। इसी सकेतात्मक शैली का एक और उदाहरण लीजिये।

एक शिष्य अपने गुरु से विदाई लेने गया। गुरु ने पूछा, "कहा जाना चाहते हो ?" शिष्य ने उत्तर दिया, "मैं बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए आपके पास आकर भिक्षु बना हूं, परन्तु आपने मुझे कभी अपने उपदेश से लाभान्वित नही किया। अब मैं आपको छोडकर कही और जगह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए जाना चाहता हूं।" गुरु ने उत्तर दिया, "यदि बौद्ध धर्म को सिखाने की बात है, तो मैं कुछ अल्प तुम्हें सिखा सकता हूं।" जब शिष्य ने उसे बताने के लिए कहा तो गुरु ने अपने चोगे मे से एक बाल निकाला और उसे फूक मार कर उड़ा दिया। शिष्य को तत्काल अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गई। एक जापानी धर्म-गुरु से जब उसके शिष्य ने पूछा कि "बुद्ध क्या है ?" तो इसका पहेली मे उत्तर देते हुए गुरु ने कहा था, "दुलहिन गधे पर बैठी हुई है और उसकी सास लगाम पकडे हुए है।" तू और मैं दोनो अज्ञानी हैं, यही संभवत. गुरु को कहना था। चीनी सम्राट् वू ने ध्यान-सम्प्रदाय के गुरु फु-ति-शिह् (४६७-५६६) से किसी बौद्ध सूत्र पर प्रवचन करने की प्रार्थना की। गुरु महाराज गम्भीरतापूर्वक आसन पर विराजमान हो गये, परन्तु एक शब्द भी उन्होने उच्चारण नही किया। सम्राट् ने कहा, "भन्ते ! मैंने आपसे प्रवचन करने की प्रार्थना की थी, आप बोलना आरम्भ क्यो नही करते ?" शिह्, जो सम्राट् का ही एक सेवक था और ध्यान-बौद्ध-धर्म को समझता था, बोला, "गुरु महाराज उपदेश समाप्त कर चुके हैं !" क्या प्रवचन था जो इस मौनी धर्म-गुरु ने दिया, इसकी व्याख्या करते हुए ध्यान-सम्प्रदाय के एक दूसरे आचार्य ने कहा है, "कितना वक्तृतापूर्ण था वह प्रवचन !" गूगे की बोली को गूंगा समझे या उसके घर वाले, यही यहां कहा जा सकता है। "खग जाने खग ही की भाषा।" हा, यदि हम चाहे तो इस प्रसंग को वाष्कलि और बाध्व के औपनिषद सवाद से मिला सकते हैं। बाध्व ने भी उपनिषद् का उपदेश अपने शिष्य बाष्कलि को मौन रहकर ही दिया था। कबीर भी जब परम सत्य को प्राप्त कर लेते हैं, तो कहते हैं, "अब किछु कहना नाहि।"

सधा भाषा

ध्यान-सम्प्रदाय मे कहा गया है कि सत्य-प्राप्त गुरु का उपदेश शिष्य के लिए केवल 'चन्द्रमा की ओर उंगली करने' जैसा हो सकता है। गुरु केवल कुछ इशारा भर कर सकता है, अपने अनुभव से उसे समझना शिष्य का काम है। गुरु गोरखनाथ ने कहा है, "सिव सकेत श्री गोरख कहै।" बिलकुल यही बात निर्गुण-परम्परा मे है। 'सैना-बैना' करके उसे निर्गुनिये गुरु समझाते हैं।

समझने का काम स्वयं साधक की क्रिया है। कबीर साहब हमे बतलाते हैं कि किस प्रकार मूल (शब्द) का उपदेश गुरु ने उन्हें दिया, जिसे बाद मे उन्होंने अपने अनुभव से विस्तृत किया। "मूल गह्यौ अनभै विस्तार।" ध्यान-सम्प्रदाय मे सत्य के साक्षात्कार की बिलकुल यही प्रक्रिया है। फलत दोनो के कथन-प्रकारो मे अनेक प्रकार की समानताएं पाई जाती हैं, जिनमे पहेलियो के रूप मे अधूरे इशारे करने की प्रवृत्ति मुख्य है। बोधिधर्म ने स्वय ऐसा इशारा चीनी साधको के लिए किया था, जिसका विकास उन्होने बाद मे अपने लिए किया। बौद्ध सिद्धो के चर्यापदो मे गूढ सत्य सम्बन्धी उपदेश के लिए 'सन्ध्या भाषा' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसे ठीक ही स्वर्गीय आचार्य विधुशेखर जी भट्टाचार्य ने 'सन्धा भाषा' के रूप मे संशोधित किया, जिसका अर्थ है अभिसन्धि पर आश्रित वाणी, अभिप्राय युक्त वाणी, किसी विशेष उद्देश्य से कही हुई वाणी। इस प्रकार की वाणी कोई छुटपुटे रूप मे बौद्ध सिद्धो के साहित्य मे ही नही मिलती, बल्कि पूरे बौद्ध धर्म की परम्परा मे काफी प्राचीन काल से उसकी एक अटूट परम्परा है। पालि तिपिटक मे इस प्रकार के वाक्य हम अनेक बार पढते हैं, "एत सन्ध्याय वुत्तं" ("इसके सम्बन्ध मे या इसको अभिप्राय कर कहा गया है")। मज्झिम-निकाय के मागन्दिय-सुत्त मे भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध मे एक लोक-प्रचलित बात कही गई है—"भगवान् बुद्ध भ्रूणहा (भूनहु) हैं।" बाद मे इसे एक गूढ अर्थ देते हुए और उस अर्थ मे इसे सच्चा बताते हुए कहा गया है "एत सन्धाय भासित गोतमो भूनहु समणो ति।" अर्थात् इसी प्रयोजन के लिए कहा गया है कि "गौतम भ्रूणहा श्रमण हैं।" इसी प्रकार तथागत अ-रसरूप, अ-क्रियावादी या उच्छेदवादी हैं, इन आरोपो के सम्बन्ध मे (सन्धाय) गूढ अभिप्राय युक्त उपदेश भगवान् ने विनय-पिटक (पाराजिक) मे वेरजा के निवासी एक ब्राह्मण को दिया था। वस्तुत. यही सन्ध्या-भाषा या सन्धा-भाषा का मूल रूप है। प्रसिद्ध पालि ग्रन्थ 'मिलिन्दपञ्हो' के चतुर्थ परिच्छेद (मेण्डक-पञ्हो) मे भी कहा गया है कि धर्मराज बुद्ध के शासन मे कुछ बातें तो ऐसी हैं जो पर्याय रूप से कही गई हैं, कुछ एक विशेष प्रयोजन को सामने रखकर और कुछ केवल स्वभावत साधारण बातो को समझाने के लिए। "परियायभासित अत्थि, अत्थि सन्धाय भासित। सभावभासित अत्थि, धम्मराजस्स सासने।" महायान मे तो इस 'सन्धाय भासित' के प्रयोगो की एक पूरी परम्परा ही है। 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' कम से कम तीसरी शताब्दी ईसवी की रचना है। उसमे अनेक जगह बुद्ध के 'सन्धा-भाषित' का उल्लेख आया है। "दुर्विज्ञेय काश्यप तथागतानामर्हता

सम्यक्सम्बुद्धाना सन्धाभाषितमिति"[1] ("हे काश्यप ! तथागत भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का सन्धाभाषित दुर्विज्ञेय है ।") इसी प्रकार 'परमसन्धाभाषित-विवरणो ह्यय धर्मपर्यायस्तथागतैरर्हद्भि· सम्यक्सम्बुद्धैर्धर्मनिगूढस्थान-माख्यातम्।[2] ("परम सन्धा भाषित के रूप मे विवृत यह धर्मोपदेश भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा धर्म का निगूढ स्थान कहा गया है) ।" हमने देखा है कि पाचवी शताब्दी ईसवी से कुछ पूर्व के रचित लंकावतार-सूत्र मे, जो ध्यान-सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ है, विरोधात्मक कथन भरे पडे हैं, जैसे "अवचनं वुद्ध-वचनमिति" ("अ-वचन हैं बुद्ध-वचन ।") आदि । इस ग्रन्थ के तृतीय परिवर्त मे ऐसे अनेक विरोधी वचन पाये जाते है। वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र का अनुवाद चीनी भाषा मे सन् ४०२-४१२ ई० मे हुआ था और उसमे भी विरोधी भाषा है । "प्रज्ञापारमिता प्रज्ञापारमिता नही है, इसीलिये वह प्रज्ञा· पारमिता कहलाती है ।" इस प्रकार के हजारो विरोधी कथन प्रज्ञापारमिता सूत्रो मे मिलेगे, जिसके आकार के सम्बन्ध मे इतना कहना पर्याप्त है कि चीनी भाषा मे वे ६०० जिल्दो मे अनुवादित हैं । इस प्रकार विरोधी भाषा की एक पूरी परम्परा बौद्ध साहित्य में है, जिसकी विरासत एक ओर ध्यान-योगियो को मिली है और दूसरी ओर सिद्धो की 'सन्ध्या' या ठीक कहे तो 'सन्धा' भाषा मे होती हुई नाथ-योगियो के माध्यम से हमारे सन्तो को मिली है । अभिप्राय-युक्त विरोधी वाणियो की अटूट परम्परा को ही बौद्ध साहित्य मे देखकर स्वर्गीय आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य को (जो पाठानुसन्धान के मर्मों के जानकार थे) यह साहस हुआ था कि सिद्धो की वाणियो मे स्पष्टतः 'सन्ध्या' (न कि 'सन्धा') पाठ होने पर भी, उन्होने उसे पालि, संस्कृत, तिब्बती, बौद्ध धर्म की परम्परा के आधार पर ही 'सन्धा' के रूप मे सशोधित कर दिया था । अत. इस प्रकार की परम्परा, जो नाथ-साहित्य और सन्त-साहित्य मे है, स्पष्टत अपने स्रोतो के लिए बौद्ध साहित्य की ऋणी है और इस सम्बन्ध मे ध्यान-साहित्य के साथ उसकी समानता इसी तथ्य का और साक्ष्य देती है ।

हम पहले (तीसरे परिच्छेद मे) ध्यानी सन्त जोशु (७७८-८९७ ई०) का उल्लेख कर चुके हैं जो आगुन्तको से प्राय कहा करता था, "इसे डाल दो ।" यह एक 'को-आन्' है, तात्विक समस्या है । इसका हल सन्त-साहित्य मे ढूढते-

---

१ पृष्ठ ९१ (डा० नलिनाक्ष दत्त द्वारा सम्पादित सस्करण, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९५३)

२ वही, पृष्ठ १५४-१५५ ।

ढूढते मुझे अनायास कबीर का एक शब्द मिला, जिसे उन्होने (जोशु के करीब ६००-७०० वर्ष बाद) रैदास के लिए सम्बोधित किया है। मैं उसे ही ध्यानी सन्तो या विशेषत: जोशु के प्रति सम्बोधित मान कर इस प्रकार पढता हूं। "भरम ही डारि दे, करम ही डारि दे, डारि दे जीव की दुबध्याई। आत्मराम करौ विश्रामा, हम तुम दोन्यू गुरुभाई।" मैं समझता हू 'इसे डाल दो' की ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार भी सर्वोत्तम व्याख्या यही हो सकती है। भ्रम, कर्मकाण्ड और 'जीव की दुबध्यायी' को डाल देने पर और 'मन के सार' मे विश्राम करने पर ध्यान-सम्प्रदाय मे कितना जोर है, इसे यहा बताने की आवश्यकता नही। मेरा विश्वास है कि यदि किसी 'ध्यानी' सन्त को जोशु की उक्ति की याद दिलाते हुए यह कहा जाय कि 'भरम ही डारि दे, करम ही डारि दे, डारि दे जीव की दुबध्याई' तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहेगा और तब उससे भारतीय सन्त-साधना के प्रतिनिधि बन कर कहा जा सकता है, "हम तुम दोन्यूं गुरुभाई!"

दोनो साधनाओ मे कुछ-एक सूक्ष्म भिन्नताएं भी द्रष्टव्य हैं। भारतीय मनीषा तात्त्विक उडानो मे दिलचस्पी लेने वाली है, जबकि चीनी प्रतिभा व्यावहारिक अधिक है। उच्च तात्त्विक धरातल पर, जहा कल्पना से ही जाया जाय, भारतीय विचारक अनायास चले जाते हैं, परन्तु चीनी चिन्तक प्राय: उतनी दूर ही जाना पसन्द करते हैं जहा तक व्यावहारिकता उनका साथ न छोडे। कबीर ने बडी तात्त्विक उडानें ली है, पहेलियो जैसे विरोधी कथनो के द्वारा। "अवधू ऐसा ज्ञान विचारी, तार्थं भई पुरिस थै नारी। ना हू परनी ना हू क्वारी, पूत जन्यू द्यौ हारी। पीहर जाऊ न रहू सासुरै, पुरुषहि अग न लाऊ।" "अवधू सो जोगी गुरु मोरा, जो यह पद का करे निवेरा। तरवर एक पेड़ विना ठाडा, बिन फूला फल लागा।" "बैल वियाहि गाइ भई बाझ।" "धौल मदरिया बैल रबाबी कौआ ताल वजावै। पहरि चोलना गादह नाचै भैसा निरति करावै।" ऐसी बातें आपको ध्यान-साहित्य मे बिलकुल नही मिलेंगी। वहा अभ्यास और विचार पर जोर है और इनको साथ लेकर ही तात्त्विक चिन्तन है, अधिक परिकल्पनाए नही हैं। अत आपको वहा 'द्वारहीन द्वार' मिलेगा, "विना द्वार का सरहद्दी दर्रा" मिलेगा, जिस सम्बन्धी गाथा को हम तृतीय परिच्छेद मे उद्धृत कर चुके है। साधना की दृष्टि से ही ध्यानी सन्त यह कहते मिलेंगे कि "एक खिडकी मे होकर गाय निकल जाती है। उसके सीग, सिर, चारो पैर आसानी से निकल जाते है, परन्तु केवल पूछ ही बाहर नही निकल पाती, क्यो ?" या कि "तुम सिर्फ चीते की गर्दन को पकड़ सकते हो, परन्तु उसकी पूछ का सभालना तुमसे नही आता।" केवल कभी ही कभी कबीर के

समान हमे 'ध्यान' साहित्य मे यह कथन मिलेगा कि "खरगोश और घोडे के सीग हैं, गाय और भेड़ के सीग नही हैं", या कि "गाय एक हाथी के बच्चे को जन्म देती है" या कि कबीर के "उलटी गंग समुद्रहि सोखै" और "बीज मध्य ज्यो बिरछा दरसै" के समान ध्यानी सन्त रिंजई की यह वाणी कि, "एक बाल महासागर को निगल जाता है और पोस्त के एक बीज मे सुमेरु पर्वत रक्खा हुआ है।" अब हम 'ध्यान' और निर्गुण-साधना के रहस्यवाद के कुछ तुलनात्मक विचार पर आते हैं।

रहस्यवाद

मूल बुद्ध-धर्म मे हमे रहस्यवाद जैसी कोई चीज नही मिलती। रहस्य के लिए बुद्ध के उपदेशो मे कोई स्थान नही है। प्राचीन काल मे ऐसी परम्परा थी कि आचार्य लोग कुछ रहस्यात्मक ज्ञान अपने पास बचा लेते थे जिसे वे या तो किसी को देते ही नही थे या फिर देते भी थे तो अपने किसी अत्यन्त प्रिय शिष्य या अपने ज्येष्ठ पुत्र को। बुद्ध ने अपने महापरिनिर्वाण से पूर्व अपने शिष्यो को बुलवाकर उनसे कह दिया था कि उनके पास 'आचार्य-मुष्टि' जैसी कोई चीज नही है और उन्होने बिना बाहर (प्रकट) और भीतर (गुप्त) का भेद किये अपने धर्म का उपदेश दिया है। "देसितो, आनन्द, मया धम्मो अनन्तरं अबाहिरं करित्वा। नत्थि, आनन्द, तथागतस्स धम्मेसु आचरियमुट्ठि।" छिपाने की भावना को बुद्ध मिथ्या सिद्धान्तो का पहला लक्षण मानते थे। उन्होने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र खुले चमकते हैं, ढंके हुए नही, इसी प्रकार बुद्ध-शासन खुला चमकने वाला है, छिपकर नही। रहस्यात्मकता का प्रवेश बुद्ध ने अपने उपदेशो मे कभी नहीं होने दिया।

दुनिया के सभी रहस्यवादियों मे एक ऐसी विशेषता, एक विशेष प्रकार की स्वप्नशीलता, पाई जाती है जिससे वे अन्य साधारण व्यक्तियो से भिन्न माने जाते हैं। 'गीता' मे यह कहा गया है कि 'सब प्राणियो के लिए जो रात है, उसमे सयमी जागता है और जिसमे प्राणी जागते हैं वह देखने वाले (तत्त्वज्ञानी) मुनि की रात है।" गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी का अर्थानुवाद-सा करते हुए कहा है, "मोह निसा सब सोवन हारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा। यहि जग जामिनि जागहि जोगी। परमारथी प्रपच वियोगी।" इन वाणियो के मूल अर्थ परमार्थत सत्य हैं, इस प्रपंचमय व्यवहार मे ज्ञानी निष्प्रपच रहते हैं। परन्तु इनका दुरुपयोग समाज, विशेषत. साधु-समाज, मे हुआ है। अपने को रहस्यवादी महात्मा दिखाने के लिए कुछ साधु या योगी ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे कि

मानो उन्हें ऐसा अनुभव प्राप्त हो जिससे वे रात होने पर भी उसे दिन अनुभव करते हैं। और दिन होने पर भी उसे रात अनुभव करते हैं। मध्ययुगीन भारत मे ऐसे अनेक मूर्च्छा या उन्माद जैसी अवस्था मे रहने वाले साधु थे और साधारण जनता उन्हें सिद्ध या रहस्यवादी योगी मानती थी। बुद्ध के काल मे भी ऐसे श्रमण-ब्राह्मण थे जो ऐसे ही अनुभव का दावा करते थे। बुद्ध भगवान् ने इसे उन साधुओ का संमोह विहार ही कहा है और अपने सम्बन्ध मे कहा है कि "मैं तो रात होने पर उसे रात ही अनुभव करता हू, और दिन होने पर उसे दिन ही अनुभव करता हू।"[1] यह मिथ्या रहस्यवाद पर एक तीव्र कुठाराघात है।

परन्तु बुद्ध के उपदेशो मे ही कुछ बाते ऐसी थी जिनसे रहस्यात्मक वृत्ति को उभार मिला। उन्होने अपने द्वारा उपदिष्ट धर्म को 'अतर्कावचर' अर्थात् 'तर्क से न प्राप्त करने योग्य' बतलाया। उन्होने अपने आपको सम्यक् सम्बुद्ध कहा, जीवन और जगत् के रहस्यो का ज्ञाता बतलाया, परन्तु जब उनसे पूछा गया कि मरने के बाद जीव रहता है या नही, यह लोक सान्त और अशाश्वत है या अनन्त और शाश्वत, जीव और शरीर एक ही हैं या भिन्न-भिन्न, तो उन्होने इन प्रश्नो का कोई उत्तर नही दिया। जब बहुत जोर दिया गया तो केवल इतना कहा कि "ये बातें तो तथागत के द्वारा बे-कही ही रहेंगी।" यदि अपने को अज्ञेयतावादी घोषित कर देते तो भी कुछ स्थिति सुलझ जाती, परन्तु बुद्ध ने यह भी नही किया। एक बार वे एक घने शीशम के वन मे शिष्यो के सहित विहार कर रहे थे। बुद्ध ने शीशम के पेड़ की कुछ पत्तियो को अपने हाथ मे लेकर शिष्यो से पूछा, "ये जो पत्तिया मेरे हाथ मे देखते हो, ये अधिक हैं या इस वन के सारे पेड़ो की पत्तिया।" शिष्यो ने जब यह उत्तर दिया कि उस वन की सारी पत्तिया ही अधिक है, बुद्ध के हाथ मे तो थोड़ी-सी पत्तिया ही हैं, तो उन्होने उनसे कहा कि इसी प्रकार तथागत जो जानते हैं, वह इस वन की सारी पत्तियो के समान है और जितना उन्होने प्रज्ञप्त किया है, बतलाया है, वह केवल हाथ मे रक्खी पत्तियो के समान है। इससे अधिक रहस्य को उकसावा देने वाली और क्या बात होगी?

मध्यम-मार्ग और चार आर्य-सत्यो के नैतिक मार्ग के उपदेश के अलावा बुद्ध ने गम्भीर तत्व सम्बन्धी उपदेश भी दिये। परमार्थ स्थिति की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध मे वे कहते हैं, "भिक्षुओ! ऐसा आयतन है जहाँ न पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है, न आकाश-आयतन है…न यह लोक है न परलोक

---

१. भयभेरव-सुत्त (मज्झिम १।१।४)

है, न चन्द्रमा है, न सूर्य है। उसे न तो मैं अगति कहता हूं, न गति। न वहां ठहरना होता है, न च्युत होना होता है, न उत्पन्न होना होता है। वह आधार-रहित है, ससरण-रहित है, आलम्बन-रहित है।"[1] कात्यायनगोत्र नामक अपने एक शिष्य को 'अस्ति' और 'नास्ति' से परे सत्य का उपदेश करते हुए भगवान् तथागत कहते हैं, "हे कात्यायन! यह ससार द्वैत पर आधारित है—'यह है' और 'यह नही है' के द्वैत पर। परन्तु कात्यायन! जो सम्यक् ज्ञानी इस ससार की उत्पत्ति को यथार्थत देखता है, उसके लिए 'यह नही है' ऐसा नही होता। इसी प्रकार कात्यायन! जो इस ससार की वस्तुओ के निरोध को सम्यक् प्रज्ञा से देखता है, उसके लिए 'यह है' ऐसा नही होता।...कात्यायन! 'सब है' यह एक अति है। 'सब नही है' यह दूसरी अति है। कात्यायन! इन दोनो अतियो मे न पड़कर तथागत मध्यम-मार्ग से धर्म का उपदेश करते हैं।"[2]

एक अन्य उपदेश मे भगवान् ने कहा, "भिक्षुओ! अ-जात है, अ-भूत है...। यदि भिक्षुओ! अ-जात, अ-भूत न होता, तो जात, भूत से नि.सरण नहीं हो सकता था।" यह अ-जात, अ-भूत ही तो सम्पूर्ण रहस्यवाद की जड़ है, ऐसा कहा जा सकता है।

तथागत के उपर्युक्त प्रकार के मन्तव्यो को महायान ने पकडा और उन्हें विकसित किया। इसके लिए महायानिको ने नये सूत्रो और शास्त्रो की उद्भावना की और उन्हे बुद्धोपदिष्ट बताया। उन्होने माना कि बुद्ध के पास एक गुह्य उपदेश था जिसे उन्होने अपने कुछ चुने हुए शिष्यो को ही दिया और महायान की परम्परा मे यही गुह्य ज्ञान विद्यमान है। प्रज्ञापारमिता-साहित्य मे बुद्धोपदिष्ट, अद्वय तत्व और मायावाद के विस्तृत विवरण हैं। 'सर्वमिदमद्वयम्', 'नामरूपमेव माया, मायैव नामरूपम्', 'मायाया पद न विद्यते', जैसे सिद्धान्तो की यहां सूक्ष्म और विस्तृत व्याख्या की गई है। एक प्रज्ञापारमिता-सूत्र का अनुवाद सन् १७९ ई० मे चीनी भाषा मे किया गया था। अतः प्रज्ञापारमिता-सूत्र कम से कम

---

१ "अत्थि भिक्खवे तदायतनं यत्थ नेव पठवी, न आपो, न तेजो, न वायो, न आकासानञ्चायतन नाय लोको न परो लोको, न उभो चन्दिमसूरिया... तदहं भिक्खवे नेव आगति वदामि न गति न ठिति न चुति, न उप्पत्ति, अप्पतिट्ठं, अप्पवत्तं, अनारम्मणमेवेत।" (इतिवुत्तक)

२. "द्वयनिस्सितो ख्वायं कच्चान लोको 'अत्थित चेव नत्थित च। लोकसमुदयं खो कच्चान यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सतो या लोके नत्थिता सा न होति। लोकनिरोधं खो कच्चान यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सतो या लोके नत्थिता सा न होति। सब्बमत्थीति खो कच्चान अयमेको अन्तो। सब्बं नत्थीति अयं दुतियो अन्तो। एते ते कच्चान उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति।"

६००-७०० वर्ष शकर से पूर्व के हैं। प्रज्ञापारमिताओ के दर्शन का ही बाद मे विस्तृत विवेचन नागार्जुन (दूसरी शताब्दी ईसवी), आर्यदेव (तीसरी शताब्दी ईसवी), वसुबन्धु (चतुर्थ शताब्दी ईसवी) और चन्द्रकीर्ति (छठी शताब्दी ईसवी) द्वारा किया गया, जो सब शंकर से २०० से लेकर ६०० वर्ष तक पहले के हैं। गन्धर्व-नगर, मृगमरीचिका और स्वप्न आदि की सब उपमाएं जो शंकर या अद्वैत वेदान्त की अपनी सम्पत्ति मानी जाती है, नागार्जुन ने दूसरी शताब्दी ईसवी मे दे दी थी। "गन्धर्वनगराकारा मरीचि-स्वप्न-सम्भवा." (माध्यमिक-कारिका १७।३३)। इसी प्रकार लकावतार-सूत्र मे, जिनका सन् ४४३ ई० मे चीनी भाषा मे अनुवाद हो गया था, मायावाद और अद्वय सत्य सम्बन्धी बुद्धोपदिष्ट सिद्धान्तो का विवेचन है, जिनके उद्धरण हम तृतीय परिच्छेद मे दे चुके हैं। यह कहने की आवश्यकता प्रतीत नही होती कि अमरसिंह ने 'अमरकोश' मे बुद्ध को अद्वयवादी कहा है। "षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः।" अतः अद्वैतवाद आरम्भ काल से ही बुद्ध-धर्म की एक विशेषता रहा है, ऐसा कहा जा सकता है।

कुछ भी हो, महायान ने बौद्ध धर्म के उन तत्वो को प्रधानता दी जिनमे रहस्य के बीज विद्यमान थे। उसने बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व तक का निषेध कर दिया और उसे केवल बुद्ध का मायाकृत रूप बतलाया। अनेक रहस्यवादी सम्प्रदाय भी भारत और विदेश मे महायान मे प्रवर्तित हुए, जैसे सुखावती-सम्प्रदाय, मन्त्र-सम्प्रदाय आदि। इन सबका हिन्दी साहित्य मे उद्घाटित मध्य-युगीन निर्गुण साधना-धारा से कुछ न कुछ ऐतिहासिक और तात्विक सम्बन्ध अवश्य है। परन्तु इनका विवरण यहा न देकर हम केवल ध्यान-सम्प्रदाय तक ही अपने को सीमित रक्खेंगे।

ध्यान-सम्प्रदाय की उत्पत्ति जिस रहस्यात्मक ढग से बुद्ध के द्वारा अपने गूढ अनुभव को महाकाश्यप को संप्रेषण के रूप मे हुई, उसे हम देख चुके है। इसी प्रकार महाकाश्यप और उनके बाद अन्य ध्यान-गुरुओ द्वारा जिन अभिप्राययुक्त वाणियो के द्वारा अपने अनुभवो को दूसरो को प्रेषित किया गया, उन्हें भी हमने देखा है। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण रहस्यवादी सम्प्रदाय हैं। उसने रहस्य या गूढ सत्य के विषय मे जो कुछ कहा है, उससे जब हम प्रभावित होने लगते है तो वह हमे सावधान करते हुए, हुइ-नेंग् (छठे धर्मनायक) के शब्दो मे, हमसे कहने लगता है, "जो कुछ तुम्हे मैंने दिखाया है, उसमे रहस्य कुछ भी नही है। यदि तुम अपने ही अन्दर विचार करो और अपने मूल चेहरे को पहचान सको जो तुम्हारे जन्म से पहले तुम्हारा था, तो

गुह्यता तुम्हारे अन्दर ही है।" यह ध्यान-सम्प्रदाय के रहस्यवाद की कुंजी है और इसकी सिंहनाद-जैसी अनुभूति-वाणी ही बता रही है कि इसके पीछे ऐसा आत्म-गोचर ज्ञान छिपा है जो किसी भी प्रकार अभिव्यक्ति नही पा रहा और उपदेष्टा साधक से शिष्य के प्रति कहलवा रहा है, "यदि तू अपने अन्दर विचार करे तो गुह्यता तेरे अन्दर ही है।" विश्व मे अनेक रहस्यवादी सन्त और महात्मा हुए हैं और उन सबको हमारे प्रणाम अर्पित है। परन्तु इस उपसंहार तक, इस अन्तिम वाणी तक, कोई गया हो, ऐसा हमे नही लगता। "जो मैं तुम्हे बता सकता हूं, वह गुह्य नही है।" गूढवाद यहां स्वय अपना निराकरण कर विसर्जित हो गया है। यह उसका चरम अवसान है। वस्तुतः धर्मनायक ने यहां हमे एक झटका दिया है। एक ऐसा झटका, जो सम्पूर्ण बाहर से, जिसमे स्वयं रहस्य-चारणियां भी सम्मिलित हैं जिनमे अभिनिवेश अन्तिम समय तक साधक का बना रहता है, हमारा चित्त हटा कर, एकदम हमे स्वयं अपने अन्दर विद्यमान रहस्य, रहस्यो के रहस्य, को देखने की प्रेरणा देता है। यही सच्चा रहस्यवाद है जो हमारे किसी काम आ सकता है, हमारी साधना का प्रस्थान-बिन्दु बनता है और इसी की अभिव्यक्ति ध्यान-सम्प्रदाय मे हुई है। कवियो के रहस्यवाद इसकी सौवी कला या महिमा को भी प्राप्त नही कर सकते।

वज्रयानी बौद्ध सिद्धो के रहस्यवाद मे कुछ ऐसी विकृतियां हैं और तान्त्रिक अभिव्यक्तियां हैं कि उनकी तुलना पूरी तरह ध्यानाचार्यों के विमल अनुभवो से नही की जा सकती, यद्यपि दोनो बौद्ध सम्प्रदाय हैं। भारतीय धर्म-साधना मे ध्यान-सम्प्रदाय के रहस्यवादी अभिप्रायो से यदि किसी साधक के अनुभवो की तुलना की जा सकती है, तो वह सर्वप्रथम कबीर साहब हैं और उनके बाद गुरु गोरखनाथ। काल-क्रम की दृष्टि से गोरखनाथ कबीर से पहले आते हैं, इसका ध्यान रखते हुए हम यहा तात्त्विक दृष्टि से ही कुछ कहेंगे।

गूढ सत्ता के सम्बन्ध मे गुरु गोरखनाथ और कबीर को जो अनुभव प्राप्त हुए, उनके निष्कर्ष प्राय ध्यान-सम्प्रदाय के समान ही हैं और उन्हें प्रायः समान ही एक शब्द मे व्यक्त किया जा सकता है—शून्य, सुन्न या सुन्नि। नाथ-पन्थ और कबीर-पन्थ दोनो की साधनाए अन्त मे शून्य की ओर जाने वाली है। कबीर ने एक प्रसग मे कहा है "सहज सुन्नि एक बिरवा उपजा।" अर्थात् "सहज शून्य मे एक पौधा उपजा है।" पूरी सन्त-साधना के सम्बन्ध मे ही हम कह सकते हैं कि वह 'सहज शून्य की भूमि पर उपजा एक पौधा है।' साधना-मार्गों मे अन्तर है, परन्तु लक्ष्य है एक ही—निर्वाण-पद की प्राप्ति। कबीर के पैर वैष्णव-मार्ग मे चल रहे हैं, राम नाम की निरन्तर रट लग रही है, परन्तु

आंखें लगी हैं बौद्ध निर्वाण की ओर। इस प्रकार साधन वैष्णव और साध्य बौद्ध, ऐसी इस विलक्षण साधक की स्थिति है, और इसीलिए भक्ति-भावना के साथ-साथ अतुल विचार की शक्ति उसकी बानियो मे प्रकट हुई है। और वह भक्ति की भूमिका से तुरन्त ज्ञान की स्थिति पर आने मे समर्थ है। गुरु गोरख मे भक्ति-भावना नही है और उनका हठमार्ग भी ध्यान-सम्प्रदाय के समान नही है, परन्तु लक्ष्य उनका भी शून्य है, निर्वाण है। इस प्रकार की विचित्र स्थिति इन साधको की है। शून्य का जो रूप ध्यान-सम्प्रदाय मे गृहीत हुआ है, वह विचार की पूरी गरिमा लिए हुए है, परन्तु सब कुछ होने पर भी एक बात अन्त मे यही आती है कि वह एक दार्शनिक सिद्धान्त मात्र है, तात्त्विक क्षेत्र का विचार मात्र है, बौद्धिक समाधान का एक अन्तिम साधन है, परन्तु उसके अन्दर ऐसा कुछ नही जिससे मनुष्य के हृदय का सयोग हो सके, उसे ठहराव के लिए निश्चित जगह मिल सके। यह काम गुरु गोरखनाथ ने पहले कुछ क्षीण रूप मे किया, बाद मे वैष्णव साधक कबीर ने उसे पूर्णता दी। वैष्णव साधना ही इस काम को कर सकती थी और उसके प्रतिनिधि बनकर कबीर ने यह काम किया है।

हमारा अभिप्राय यह है कि गुरु गोरखनाथ और कबीर ने 'शून्य' को एक व्यक्तित्व प्रदान किया, एक साकार रूप दिया और इस प्रकार भक्ति के आलम्बन के साथ उसे मिला दिया। इसे ज्ञानवादी ध्यान सम्प्रदाय नही कर सकता था और न बौद्ध धर्म का कोई अन्य सम्प्रदाय ही। विशेषत कबीर ने यह काम पूर्णता के साथ किया, जिसे ध्यान-सम्प्रदाय और अन्य बौद्ध धर्म-सम्प्रदायो के 'शून्य' के ऊपर एक विकास माना जा सकता है। कबीर बौद्धो मे वैष्णव हैं और वैष्णवो मे बौद्ध। शून्य को राम के साथ मिलाकर एक ओर उसे आत्मभाव या व्यक्तित्व देने का उन्होने प्रयत्न किया और दूसरी ओर राम को शून्य की ओर बढाकर उन्होने उसे अधिक सच्चा और विचारशील साधको के लिए अधिक ग्रहण करने योग्य बना दिया।

शून्य और ब्रह्म

वस्तुत शून्यवाद और ब्रह्मवाद इतने गहन दार्शनिक सिद्धान्त हैं कि इनको लेकर निर्गुणपन्थी और बौद्ध साधनाओ के सम्बन्ध मे यहा बहुत अल्प ही कहा जा सकता है। अद्वैत भारतीय दर्शन का चरम निष्कर्ष है, जिसकी अभिव्यक्ति बौद्ध साधना मे शून्याद्वैत के रूप मे और वेदान्त मे ब्रह्माद्वैत के रूप मे हुई है। शंकर ने बौद्धो के शून्य को अभाव रूप समझ कर दो-तीन पक्तियो मे ही उसका

निराकरण 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' मे कर दिया था और उसे 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' बताकर उसके विस्तृत विवेचन के प्रति भी आदर उन्होने नही दिखाया था। यदि कबीर की 'शून्य' के सम्बन्ध मे वही धारणा होती जो शंकर की थी, तो उनकी वाणियो मे शून्य का इतने आदर के साथ विस्तृत उल्लेख नही हो सकता था और न वे शून्य मे स्नान कर तपन मिटाने की बात ही कह सकते थे। बौद्धो के शून्य को कबीर ने अधिक सहानुभूति के साथ समझा है। समझा ही नही, उन्होने उसे आध्यात्मिक अनुभव की उच्चतम स्थिति के रूप मे भी रक्खा है। कबीर मूलत: वैष्णव भक्त थे, यह हम अच्छी तरह जानते हैं, परन्तु उनकी वाणियो को उनके उच्चतम अनुभव की खोज की दृष्टि से हम पढ़ें तो यह पता लगे बिना नही रहता कि कबीर साधना की दृष्टि से ही वैष्णव भक्त हैं और इसी रूप मे अन्य साधनाए भी, सूफी मत के प्रेमवाद आदि, उन्हें स्वीकृत हैं, परन्तु लक्ष्य के सम्बन्ध मे तो उनकी दृष्टि निर्वाण पद की ओर ही लगी हुई है। "यह पद तो निरवाना है", ऐसा कहकर अनेक बार उन्होने इसकी ओर इगित किया है। "सुन्न मे धुजा ठहराई" से स्पष्ट है कि उनके उपदेश की ध्वजा शून्यवाद मे ठहरी हुई है। "अवधू गगन मण्डल घर कीजै" से भी स्पष्ट है कि वे योगी के लिए शून्य को ही सर्वोच्च निवास मानते हैं। अपनी भी 'बैठक' वही बनाने की बात भी कबीर कहते हैं। कबीर की साधना का उच्चत्तम बिन्दु वही है जहाँ कबीर अपने मन को शून्य मे विलीन कर देते हैं। "सुनि समान मन।" यदि कबीर पूरे अर्थों मे वैष्णव भक्त हैं तो 'तद्विष्णो: परम पदम्' की प्राप्ति-कामना उनके पदो मे क्यो नही मिलती? क्यो उनका मन 'गगन-मण्डल' की ओर बार-बार दौड़ता है? क्यो वे लोक और वेद से बाहर होकर शून्य मे समा जाने की ही बात कहते है? "ऐसे हम लोक वेद से बिछुरे सुनिहिं माहि समावहिंगे।" क्यो वे स्वय उस स्थिति पर पहुंचने का दावा करते हैं जहां राम और अल्लाह तक की गम नही है "अलह राम की गम नही तहं घर किया कबीर।" यदि जगत् के 'कर्ता' के सुमिरन मे ही वे जीवन की अन्तिम सफलता देखते हैं, तो वे उसे एक ही फूंक मे उड़ाकर क्यो इस भूमिका पर आ जाते है कि 'केवल मुख सुख कारने कहिये सिरजनहार।' 'सिरजनहार' को ही इस प्रकार भक्त कबीर क्यो विसर्जित कर डालते हैं? यदि निर्गुण रूप को ही कबीर मानने वाले हैं, तो वे अपने राम को "वह तो इन दोउन तें न्यारा जाने जानन हारा" क्यो कहते हैं? 'निर्गुण निरंकार के पार' उसे क्यो बताते हैं? सगुण और निर्गुण से परे कोई न्यारा रूप वैदिक परम्परा मे कहां है? वास्तव मे बात कुछ दूसरी ही है। बौद्धों का शून्य निरालम्ब और अप्रतिष्ठ है। वहा न जाने का मार्ग है

और न आने का। न वह गति है, न अगति है। कबीर का राम इतना अगम क्यो है कि वह न सगुण की परिधि मे आता है और न निर्गुण की ? इसका कारण यही है कि उसे उन्होने गगन-मण्डल के, शून्य-शिखर के, एक कोने मे बैठा देखा है। उसे 'अलख' और 'निरंजन' का पर्याय बना दिया है। "अलख निरजन राम।" और "सबद निरंजन राम नाम साचा।" इसीलिए कबीर का राम इतना सच्चा और बुद्धिवादी साधको के लिए इतना ग्राह्य और आकर्षक भी बन गया है। कबीर से पहले यह काम गोरखनाथ ने अपूर्ण रूप से किया था। शून्यवादी आचार्य नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' की एक पंक्ति ('न सत् नासत् न सदसत् न चाप्यनुभयात्मकम्') के भाव को हूबहू रखते हुए पहले तो वे कहते हैं "बसती न शून्यं शून्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा," और फिर इस 'अगम, अगोचर' मे स्वयं ही एक बालक को बैठाकर दूसरो से पूछते हैं, "गगन सिखर मह बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा ?" नाम उसका कौन रख सकता था, सिवा उस जुलाहे के जिसने बहुत सोच-समझकर और भारतीय साधना के सम्पूर्ण तत्व को निचोड़कर शून्य-शिखर मे बोलते हुए गोरखनाथ के इस बालक का नाम 'राम' रख ही तो दिया ! कबीर का यह राम ब्रह्म-लोक या विष्णु-लोक का वासी नही, वह शून्य-मण्डल का निवासी है, जिसमे ही उनकी लौ लग रही है। "सुनि मण्डल मे पुरिस एक ताहि रहै ल्यौ लाइ।" शून्य मण्डल मे बैठा हुआ है, इसीलिए यह 'एक पुरुष' निर्गुण-निराकार से भी परे है और उसी का नाम उन्होने 'राम' रखा है। "निर्गुण निरकार के पार परब्रह्म है तासु कोई नाम रंकार जानी।" इस प्रकार कबीर ने वह काम किया है, जिसे न शकर कर सके और न अन्य कोई विचारक या साधक इतने प्रभावशाली रूप से कर सका है। शून्य मे राम की स्थापना कर उन्होने राम को तो सच्चा बना ही दिया, साथ ही राम-भक्तो के लिए बौद्ध साधना के चरम निष्पत्ति स्वरूप शून्यानुभूति के मार्ग को भी अनायास रूप से खोल दिया। निश्चयतः ध्यान-सम्प्रदाय की साधना के ऊपर यह एक विकास है, जिसे कबीर जैसा वैष्णव साधक ही कर सकता था। शून्यता को बुद्धता के साथ मिलाने के प्रयत्न ध्यान-सम्प्रदाय मे भी हुए, बुद्ध शून्यराज हुए, परन्तु कबीर के आराध्य की-सी शक्ति उनमे नही आ सकी, यह असन्दिग्ध है। शून्य या 'अलेख' या निरंजन का कितना ही स्वरूप-विवेचन नागार्जुन, हुइ-नेंग् या अन्य बौद्ध-साधको ने किया हो, उसे 'दोस्त' बनाने की बात किसी ने नही कही है। इसे कबीर—केवल कबीर—कह सके हैं। "सो दोसत किया अलेख।" हमे यहा यह अवश्य कह देना चाहिए कि कबीर से पूर्व गुरु गोरखनाथ ने निरंजन-निराकार को पिता कह दिया था ('पिता बोलिये

निरंजन निराकार') और शून्य को भी उन्होने माई-बाप कहा था ('सुनि ज माई सुनि ज बाप'), परन्तु उसके साथ ही वे एक निर्मम योगी थे और उस भावुकता के दर्शन उनमे नही होते जो परम सत्य को आराध्य भगवान् के रूप मे प्रतिष्ठित कर उसमे मनुष्य के नाना सम्बन्धो की अनुभूति कराती है, जैसे दास्य, वात्सल्य, सख्य आदि। शून्य को मनुष्य की भावात्मक सत्ता के साथ पूर्णत: मिलाने का यह काम वैष्णव साधना मे ही सम्भव था और उसके प्रतिनिधि बनकर कबीर ने ही यह काम किया है।

कबीर का मार्ग वैष्णव, लक्ष्य बौद्ध

इस प्रकार कबीर का मार्ग वैष्णव, परन्तु लक्ष्य बौद्ध है। बुद्ध भगवान् ने निर्वाण को परम शान्ति स्वरूप बतलाया था। जितने भी उनके शिष्य-शिष्याओ के उद्गार हैं, उनमे निर्वाण के 'शीतलता' स्वरूप पर बार-बार जोर दिया गया है।[1] यह भव आदीप्त है, जल रहा है और निर्वाण इस जलन का शान्त हो जाना है। कबीर की साधना का लक्ष्य यह निर्वाण ही था और इसके 'शीतलता' स्वरूप पर उन्होने समान रूप से ही जोर दिया है। "यह सीतल, वह तपति है।" "यह (निर्वाण) शीतल है, वह (संसार) तपता है।" इसी, प्रकार "तपनि गई सीतल भया जब किया सुनि असनान।" "ज्वाला मैं फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ।" ब्रह्म-ज्ञान मे भी वे इस शीतलता को ही प्राप्त करते हैं। "कबीर सीतलता भई पाया ब्रह्म-गियान।" इस प्रकार अ-बौद्ध स्रोतों मे भी कबीर अज्ञात रूप से बौद्ध लक्ष्यो को खोजते-से जान पड़ते हैं।

विस्मयकारी साधक हैं कबीर! उनके ही द्वारा काते हुए बौद्ध धागो को पकडकर जब हम उनकी ओर बढते हैं तो हम उन्हें वैष्णव बैठक मे बैठे देखते हैं और जब उनके वैष्णव ताने-बाने को लेकर हम आगे बढते हैं तो उन्हें शून्य मे बैठक लगाये देखते हैं। बहुत मुश्किल है। "एक जुलाहे सो मैं हारा" जायसी भी कह गये हैं। तब फिर अन्य की बात ही क्या है? शून्य की चरम स्थिति पर पहुचने वाले कबीर, हद को छोड़कर बेहद मे जाने वाले और शून्य मे स्नान करने वाले सिद्ध कबीर, साधना मे लगे प्राणी के लिए एकदम शून्य की ओर आकर्षण हितकारी नही मानते। राम भी साथ चले तो शून्य का स्नेह ठीक है, अन्यथा साधक अपने मानसिक सन्तुलन को खो सकता है, अपने आपको ही खो

---

१. देखिए विशेषत 'थेरी-गाथा' में अनेक भिक्षुणियों के 'सीतिभूतम्हि निब्बुता' ("निर्वाण को प्राप्त कर मैं परम शान्त हो गई हू") जैसे उद्गार।

बैठ सकता है। "सुन्न सनेह राम बिनु चलै अपनपो खोइ।" इसलिए दार्शनिक दृष्टि से शून्य को चरम स्थिति मानते हुए भी कबीर साधना-पक्ष मे राम-भक्ति के साथ ही साथ उसे चलाने के पक्षपाती जान पड़ते हैं, राम को छोडने मे उन्हे खतरा दिखाई पडता है, इसलिए अनुभव-ज्ञानी होने के नाते हमे सावधान कर देते हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण है। केवल शून्य मे ठहराव नही है। खालीपन-सा वह प्रारम्भिक साधक को लगता है या लग सकता है। वह बिना बुनियाद का देवालय है। "नीव बिहूणा देहुरा।" ध्यान-सम्प्रदाय के गुरुओ को भी इसकी अनुभूति रही है और इससे उन्होने अपने शिष्यो को आगाह भी किया है, यह हम पहले देख चुके हैं। हुइ-नेंग् तो इस विषय मे बहुत ही सतर्क थे। परन्तु कबीर का आगाह करना अधिक महत्वशाली है, क्योकि शून्य के पर्याय 'राम' को वे साधक के बचाव के लिए दे देते हैं और फिर कोई भय नही देखते। इसलिए साधन की दृष्टि से यह कहना बिलकुल ठीक है कि कबीर नाम-जप को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और इस साधना मे कोई भय नही देखते। शून्य का साधक, अजपा का जपी, अनहद नाद को सुनने वाला योगी, ये सब मर सकते हैं, परन्तु नाम-सनेही नही मरता, ऐसा कबीर का विश्वास है। "सून्य मरै अजपा मरै अनहद हू मरि जाय। नाम-सनेही ना मरै कह कबीर समुझाइ।" शून्य-साधना मे सबसे बडा भय यही है कि उसमे बुद्धि कही ठहरती नही, सम्पूर्ण नाम-रूप जगत् विशीर्ण होता चला जाता है, साधक की कही निष्ठा नही हो पाती, मन खालीपन मे चला जाता है, उसे अपने आपका ही पता नही रहता। यह स्थिति बडी भयावह है। कबीर साहब इसीलिए भक्ति की साधना को श्रेष्ठता देते हैं, क्योकि वहा मति ठहर जाती है। उनका विश्वास है कि ससार मे और चाहे जो कुछ विनष्ट हो जाय, परन्तु ऐसा भक्त नष्ट नही होता जिसकी मति अपने मार्ग मे, नाम-साधन मे, ठहर गई है :

चन्दा ऊ जै है सूरज ऊ जैहे जैहे पवनो पानी।
कह कबीर हम भक्त न जैहें जिनकी मति ठहरानी।।

परन्तु राम या कृष्ण को (आदिकालीन बौद्ध-वैष्णव उडिया और बगला कवियो ने कृष्ण को भी शून्य रूप माना है) अन्ततः शून्यरूप मानने वाला भक्त इस बात मे श्रेष्ठतर होता है कि वह आसानी से ज्ञान-मार्ग मे प्रविष्ट हो जाता है, उसकी प्रार्थना आसानी से समाधि या ध्यान बन जाती है, या उसकी भूमिका मे चली जाती है। इसके साथ ही एक बडी बात यह होती है कि भक्ति

के साथ अनिवार्य रूप से जो राग-रूप आसक्ति लगी हुई है (भक्ति तत्वतः रागात्मक साधना है, आसक्ति पर जीवित है, इसीलिए भावुक प्रकृति के लोगो के लिए अधिक उपयोगी है) वह अनायास ही छूट जाती है। परन्तु निष्ठा मे कमी हो जाती हो, ऐसी बात भी नही कही जा सकती। "स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कचनहि कसैंहो" जैसी अनुभूति सगुण भक्त के समान वह साधक भी कर सकता है जो राम या कृष्ण को शून्य रूप मानता हो। विशेषतः उडिया वैष्णव कवि और महात्मा कबीरदास इसमे प्रमाण है।

कबीर मे रतिमूलक रहस्यवाद भी है, माधुर्य भाव पर आश्रित रहस्य-भावना भी है, और इस पर उन लोगो ने विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है जिन्होने कबीर की साधना को ईसाई और सूफी साधनाओ से मिलाया है, यहा तक कि उन्होने प्रेम और विरह को ही रहस्यवाद का सब कुछ मान लिया है और उसकी क्रमिक अवस्थाओ तक का विवेचन कर दिया है। परन्तु इन लोगो को यह नही मालूम कि जिसमे वे उत्तरोत्तर अवस्थाओ को निरूपित कर सकते हैं और उन्हें वैसा दिखा सकते हैं, उसमे रहस्य या रहस्यवाद क्या है ? वह और कुछ भले ही हो, रहस्यवाद नही है। सच्चा रहस्यवाद तो 'युगपद्' ज्ञान-साधना ही है जो एक क्षण मे मन के रहस्य का साक्षात्कार कराती है, जन्म-जन्म के क्लेशो को एक क्षण मे धो डालती है और सहसा एक अज्ञानी जीव को बुद्ध की बराबरी का बना देती है। वासना के शब्दो मे आत्मा-परमात्मा के कल्पित सम्बन्धो की मिथ्या अभिव्यक्ति भी क्या कोई रहस्यवाद है ? अन्तःसाधनात्मक रहस्यवाद को रूखा बताकर उसकी तुलना मे इस मधुरभावोपनिबद्ध तथोक्त रहस्यवाद को रसात्मक बताने वालो की मानसिक भूमिका पर तो और भी तरस आता है। ऐसे लोग कबीर को काव्य-क्षेत्र मे निम्न स्थान पर रखना चाहते है। परन्तु इन्हें यह नही मालूम कि यदि वे काव्य-क्षेत्र से कबीर को बिलकुल निकाल भी दे तो भी कबीर का कुछ बिगडने वाला नही है। उस दशा मे कबीर सत्य के जिज्ञासुओ के लिए और चमकेंगे। अस्तु, ध्यान-सम्प्रदाय को ध्यान मे रखते हुए हमे यहा यह देखना है कि कबीर की इस मधुर-साधना का अभिप्राय क्या है ? यहां सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि मधुर भावना की भक्ति कबीर की साधना का प्रकृत अग नही है और ध्यान-साधना मे तो वह बिलकुल ही अनुपस्थित है। प्रकृत रहस्यवाद के लिए न तो तथोक्त आस्तिकता की आवश्यकता है और न मधुर भावना की ही। अन्दर और बाहर की गहन जिज्ञासा होनी चाहिये और उस पर भावात्मक प्रतिक्रिया हो सकती है। कबीर पहले ज्ञानी महात्मा थे, बाद मे भावुक भक्त। भावुकता के प्रति उनमे उतना

उपेक्षा भाव तो नही है जितना गोरखनाथ और ध्यान-सम्प्रदाय के सन्तो मे, परन्तु विचार और विवेक की ही उनमे प्रेम और भावुकता की अपेक्षा अधिकता है। आध्यात्मिक विरह के सम्बन्ध मे कबीर ने बहुत कुछ कहा है, 'विरह कौ अग' और 'रस कौ अग' इन शीर्षको से उनकी साखियो के दो अग विरह और प्रेम की साधना पर ही है। परन्तु फिर भी प्रेम कबीर की साधना का आदि और अन्त नही है। वह बीच मे आई हुई एक चीज है। यह सम्भव है कि जीवन की एक पूर्वावस्था मे कबीर ने प्रेम की साधना की हो और उसकी सच्चाई का साक्ष्य उन्होने दिया हो। कबीर का जीवन साधनाओ की प्रयोग-भूमि जैसा था और अनेक साधनाओ को उन्होने अपने जीवन मे अनुभूत किया और उनकी सच्चाई का साक्ष्य दिया। प्रेम भी ऐसी ही एक साधना है, परन्तु अन्तत कबीर ज्ञानी थे और ज्ञानी होकर कोई रोता नही, किसी के भी विरह मे, ईश्वर के भी विरह मे नही। मिलन और विरह ज्ञान के क्षेत्र मे मिथ्या द्वन्द्वात्मक विचार हैं। ऐसा लगता है कि ज्ञानियो के प्रति अपने विरह-वर्णन के लिए कबीर साहब कुछ विनोद रूप मे क्षमाप्रार्थी से भी है। उन्हें पता है कि विवेक और विरति के उपासक इस विरह के वर्णन को उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे। ज्ञान के क्षेत्र मे ऐसे ज्ञानी पुरुषो को ही लक्ष्य करके वे विरह की वकालत-सी करते हैं :

विरहा बुरहा जिन कहौ, विरहा है सुलतान।

कबीर साहब ने विरह की वकालत तो कर दी, उसे साधना का सुलतान भी बना दिया और यह भी कह दिया कि उसे बुरा मत कहो, परन्तु इस वात से ही यह प्रकट हो जाता है कि वे इस साधना का समर्थन ही कर रहे हैं, विरह को 'सुलतान' भी कुछ विनोद-भाव के साथ वता रहे हैं और उन लोगों के प्रति उनमे आदर और उच्चता की भावना है जो उसे बुरा वताते हैं। अपील के ढग से ही यह वात विदित हो जाती है। 'विरह कौ अग' लिखने के वाद भी अलग से उन्होने 'ज्ञान और विरह कौ अग' लिखा, इससे यह विदित होता है कि विरह को ज्ञान के साथ मिलाकर किसी प्रकार खपाने के लिए कवीर तैयार हैं।

यहा एक वात और याद आती है। 'ध्यानी' साधक वडे विनोदी होते हैं। यदि किसी भी धर्म-साधना मे हास्य-भावना को इतना अधिक महत्व मिला है, तो केवल ध्यान-सम्प्रदाय मे ही। कबीर मे भी हास्य-भावना प्रचुर मात्रा मे थी। मध्यकालीन भक्त साधको मे वे इस वात मे सबसे अकेले हैं। कवीर की

हास्य-भावना की ओर अभी विद्वानो का ध्यान नही गया है। यह विषय बहुत महत्वपूर्ण है। जैसे-जैसे मैं इस ज्ञानी साधक के माधुर्य-भाव और दाम्पत्य-रति सम्बन्धी वचनो को पढता हू, मुझे उनमे एक अत्यन्त विमल और आध्यात्मिक पुरुष के विनोद के दर्शन होते हैं। माधुर्य या दाम्पत्य-रति की भक्ति रूपगोस्वामी के लिए गम्भीर थी, मीरा के लिए भी गम्भीर थी और सूफी साधको के लिए तो वह थी ही। परन्तु कबीर की स्थिति भिन्न जान पड़ती है। उदाहरण के लिए देखिये कबीर साहब कहते हैं—"मैंने रो-रोकर अपनी आखें लाल कर ली हैं। यह लालिमा मेरे प्रियतम के प्रेम की प्रतीक है, परन्तु संसार के लोग समझते हैं कि कबीर की आंखें दुखने आ गई हैं"—

आंखड़ियां प्रेम कसाइया, लोग जाने दूखणियां।
साईं आपने कारणै, रोइ रोइ रातड़ियां॥

इसे मैं एक पहुचे हुए ज्ञानी पुरुष का विनोद कहता हूं। जो हद को छोड़कर बेहद मे जा चुका, शून्य मे समाधि लगा चुका, वेदान्त की तुरीयावस्था से आगे जाने का जिसने दावा किया, वह किसके लिए अपनी आखें लाल करेगा? निश्चयत. एक परिपक्व ज्ञानी पुरुष मौज मे आकर उद्‌गार कर रहा है, अपनी मूल साधना या अभ्यास के विषय मे नही, बल्कि उसकी एक लहर या तरंग के सम्बन्ध मे ही। कबीर ने दाम्पत्य-रति को लेकर मन की मौज मे जो कुछ कहा उसकी एक भारी विशेषता यह है कि विनोद की भावना के साथ उसका प्रभाव गहरी विरति का है, यद्यपि शब्दावली 'रति' की है। एक पहुंचा हुआ ज्ञानी पुरुष ही ऐसा कर सकता था, जिसके जीवन मे अध्यात्म और वैराग्य पूरी तरह रम रहा हो। "आई गवनवा की बारी। अभी उमरिया मोरी बारी।" इस 'गौने' की विदा मे वही भाव हृदय पर आच्छादित हो जाता है, जिसे कबीर देना चाहते है और व्यावहारिक 'गौना' तिरोहित रहता है। इसी प्रकार "नहरवा हम कौं नही भावै", "नैहर से जियरा फाटै रे," "बालम आओ हमारे गेह रे", "कौन रगरेजवा रगै मोर चुदरी", "नैहर मे दाग लगाइ आई चुनरी", "ए अखियां अलसानी पिय हो सेज चलो," "अब मोहि ले चल ननद के बीर अपने देस।" सब जगह आपको एक ज्ञानी पुरुष के निर्दोष हास्य और विनोद के साक्ष्य मिलेंगे, जिसे आध्यात्मिक प्रयोजन मे युक्त कर दिया गया है। प्रेम-तत्व के इसी रूप का बोध मुझे तो कबीर के रति-परक रहस्यवाद मे होता है। हां, जहां वह 'प्रेम-धियान' की बात करते हैं, वहा कबीर गम्भीर हैं। वस्तुतः प्रेम के इस

'धियान' पक्ष पर ही हमे कबीर के सम्बन्ध मे जोर देना चाहिये, जो अब तक नही दिया गया है। यदि हम ऐसा करें तो हम ध्यान-सम्प्रदाय के समीप ही है। अन्यथा सत्यानुभव को स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के रूप मे व्यक्त करना हास्यास्पद ही है। यह मन का रोग है, सम्मोहावस्था है, मिथ्या रहस्यवाद है। सच्चा रहस्यवाद वही है जो कहता है "यदि तू अपने अन्दर विचार करे तो गुह्यता तेरे अन्दर ही है। बाहर रहस्य खोजने की कोई आवश्यकता नही है।" ध्यानियो के लिए मन का सार ही भगवान् है। "यदि हम ऐसे भाग्यवान् हो सकें कि इस जीवन मे हमे 'युगपद्' शाखा के अनुगामी होने का अवसर मिले, तो अचानक ही हम अपने मन के सार के भगवान् को देखेंगे।" प्रेम-योग की दीक्षा जीवन की पावनता के लिए अनिवार्यतः आवश्यक नही है और न काम की भाषा मे इसे व्यक्त ही किया जा सकता है। हम उस हानि का अनुमान नही लगा सकते जो साहित्य और काव्य के क्षेत्र में काम और अध्यात्म को पारस्परिक गडबडी मे डाल देने से हुई है। माधुर्य भाव की (निर्गुण या सगुण) भक्ति और दाम्पत्य-रति के प्रतीक जीवन की कठोर सादगी और निर्मम विचार के साथ मेल नही खाते, यह तो हमे याद रखना ही चाहिये।

कबीर की भक्ति-साधना मे ध्यान-योग उसके साथ अभिन्न रूप से मिला हुआ है। यह बात उतनी हद तक हमे सगुण साधको मे नही मिलेगी। कबीर अहर्निश हरि-स्मरण के पक्षपाती हैं और उसी से वे 'दुर्लभ योग' की प्राप्ति सम्भव मानते हैं। "अहनिस हरि ध्यावै नही, क्यू पावै द्रुलभ जोग।" भक्ति यहा दुर्लभ योग की सहायक है। इस प्रकार भक्ति का सयोग यहा ध्यान से है और यह बहुत सार्थक बात है। कबीर के व्यक्तित्व का निर्माण इसी से हुआ है। एक ओर वे राम-रस पीते हैं, दूसरी ओर विचार करते हैं। "पिवत राम-रस, करै विचारा।" पूर्वार्द्ध वैष्णव है, उत्तरार्द्ध बौद्ध। पूरे कबीर दोनो हैं। कबीर का 'राम-रस' या 'हरि-रस' अन्तत सत्य-रस ही है। इसीलिये राम-नाम और सत-नाम कबीर-साधना मे अत्यन्त सार्थक रूप से एक हो गये हैं।

विवेचनो का अन्त नही है। नाथ-पन्थ और कबीर-पन्थ के ऊपर बहुत कुछ नया और पुराना कहा जा सकता है और उसे ध्यान-सम्प्रदाय के साथ मिलाया भी जा सकता है। परन्तु यह पुस्तक अधिकतर ध्यान-सम्प्रदाय के परिचय के रूप मे ही लिखी गई है और अधिक विवेचन करना इसके लक्ष्य के विपरीत होगा। साधक-मन अधिक विस्तार चाहता भी नही। मूल बात यही है कि हमे वस्तुओ के चाहने और न चाहने को छोड़ देना चाहिये और अपने मन को जानना चाहिये। जिसने अपने मन को नही जाना, उसके लिए न ध्यान-

सम्प्रदाय को जानने का कोई अर्थ है, न योग-मत को, न निर्गुण-पन्थ को। मन ही बुद्ध है, मन ही राम, मन ही निर्गुण, मन ही सगुण। अ-जात, शून्य, निर-जन, सब मन के ही नाम हैं। अपने इस मन का, वृहत् मन का, बुद्ध-स्वभाव का, हमे साक्षात्कार करना चाहिये। सारे रहस्यवाद यही रक्खे हैं। सारे बुद्ध और सन्त यही समाधि लगा रहे हैं। बडी देर हुई! देखो, यह ध्यान-योगी (योका डेशी) हमे किस भूले कर्तव्य की याद दिला रहा है:

"बहुत समय से तुमने अपने दर्पण के मैल को साफ नहीं किया है,
अब समय है कि तुम इसे ठीक प्रकार से साफ होते देखो।"

परिशिष्ट

ध्यान-सम्प्रदाय पर पठनीय साहित्य

ध्यान-सम्प्रदाय का मूल साहित्य चीनी और जापानी भाषाओ मे है। केवल लकावतार-सूत्र, जो ध्यान-सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ है, सस्कृत मे उपलब्ध है। उसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। यह खेद की बात है कि इस ग्रन्थ का अग्रेजी अनुवाद तो हो चुका है, परन्तु हिन्दी अनुवाद अभी कोई प्रकाशित नही हुआ। इधर यूरोपीय विद्वानो और विचारको का परिचय और सम्पर्क ध्यान-सम्प्रदाय के साथ बढा है। फलत. अग्रेजी और अन्य यूरोपीय भाषाओ मे ध्यान-सम्प्रदाय पर ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। स्वय चीनी और जापानी विद्वानो ने भी अग्रेजी (और अन्य यूरोपीय भाषाओ) मे ध्यान-सम्प्रदाय पर परिचयात्मक ग्रन्थ और निबन्ध लिखे हैं, जो प्रामाणिकता और मौलिकता की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। यहा मैं कुछ मूल ग्रन्थो के अतिरिक्त विशेषत अग्रेजी मे लिखे ध्यान-सम्प्रदाय सम्बन्धी कुछ ग्रन्थो का उल्लेख कर रहा हूं, जिनसे मुझे आशा है, ध्यान-सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे पाठको को कुछ अधिक जानकारी मिल सकेगी।

मूल ग्रन्थ और उनके अनुवाद

लकावतार (-सूत्र) : बुनयु नजियो द्वारा देवनागरी लिपि मे सम्पादित। ओतानी यूनिवर्सिटी प्रेस, क्योतो (जापान), १९२३। द्वितीय सस्करण यही से सन् १९५६ मे प्रकाशित हुआ है।

दि लकावतार-सूत्र . लकावतार-सूत्र का अग्रेजी मे अनुवाद, डी०टी० सुजुकी द्वारा। रटलेज एण्ड केगन पॉल, लन्दन पुनर्मुद्रित, १९५६।

वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र : एफ० मेक्समूलर द्वारा सम्पादित, बुद्धिस्ट टैक्स्ट्स् फ्रोम जापान, एनेक्डोटा ओक्जनिय-

न्सिया, आर्यन सीरीज़, प्रथम भाग; मेक्समूलर द्वारा ही सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ४६, भाग द्वितीय, पृष्ठ १०६-१४४ मे अंग्रेजी मे अनुवादित। वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र का अंग्रेजी अनुवाद ए० एफ० प्राइस ने भी किया है, जिसे 'दि ज्वैल ऑव ट्रांसेण्डेण्टल विज्डम' (दि डायमण्ड सूत्र) शीर्षक से बुद्धिस्ट सोसायटी, लन्दन ने सन् १९४७ मे प्रकाशित किया है। विलियम गेमेल ने भी 'दि डायमण्ड सूत्र' (चिन्-कंग्-चिग्) शीर्षक से इस सूत्र का अनुवाद किया था, जिसे केगन पॉल, ट्रेंच ट्रुबनर, एण्ड कम्पनी, लन्दन ने सन् १९१२ मे प्रकाशित किया। इसी प्रकार एस० बील ने भी इस ग्रन्थ का अंग्रेजी मे अनुवाद रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल मे किया था। अभी हाल मे ई० कोज़ ने इसे सम्पादित और अंग्रेजी मे अनुवादित किया है। रोम, १९५७। अंग्रेजी मे इतने सस्करण और अनुवाद, हिन्दी मे अभी कोई नही ! परन्तु यह प्रसन्नता की बात है कि सन् १९६१ मे मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, से बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, १७, के रूप मे डा० प० ल० वैद्य के सम्पादकत्व मे जो महायान सूत्र संग्रह, प्रथम खण्ड, निकला है, उसके पृष्ठ ७५-८९ मे वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र सम्पादित है। प्रज्ञापारमिता हृदय सूत्र भी यहां सम्पादित है। पृष्ठ ९७-९९। अनुवाद की आवश्यकता तो अभी वनी ही हुई है।

छठे धर्मनायक वे-लेंग् (हुइ-नेंग्) द्वारा भाषित सूत्र (मंच-सूत्र) : अंग्रेजी अनुवाद 'दि सूत्र स्पोकन वाई दि सिक्स्थ पेट्रियार्क, वे-लेंग् (हुइ-नेंग्)' शीर्षक

		से। अनुवादक—वोग् मो-लम्; प्रकाशक—यू-चिग् प्रेस, शघाई, १९३०। इसी अनुवाद का नया संस्करण क्रिसमस हम्फ्रेज़ ने, अल्प भाषात्मक सशोधनो के साथ, प्रस्तुत किया है, जिसे 'दि सूत्र ऑव वे-लेग् (या हुइ-नेंग्)' शीर्षक से बुद्धिस्ट सोसायटी, लन्दन, के लिए लुज़ाक एण्ड कम्पनी, लन्दन, ने सन् १९४४ मे प्रकाशित किया है। इसी का सशोधित संस्करण सन् १९५३ मे लुज़ाक एण्ड कम्पनी ने ही निकाला है।
दि ज़ेन् टीचिग ऑव हुआङ्-पो ऑन् दि ट्रांसमिशन ऑव माइण्ड	.	हुआङ्-पो के प्रवचनो, सवादो और जीवन-प्रसगो का अग्रेजी अनुवाद। अनुवादक जोह्न ब्लोफल्ड (चु-चन्), प्रकाशक राइडर एण्ड कम्पनी, लंदन, १९५८। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग का अनुवाद पहले (सन् १९४७ मे) 'दि हुआङ्-पो डॉक्ट्रिन ऑव यूनिवर्सल माइण्ड' शीर्षक से निकला था, जो भी इसी अनुवादक का किया हुआ था। प्रस्तुत अनुवाद हुआङ्-पो के सम्पूर्ण प्रवचनो, सवादो और जीवन-प्रसगो का है।
दि पाथ टू सडन अटेनमेण्ट	·	हुइ-हाइ के प्रवचनो का सग्रह। अग्रेजी अनुवादक जोह्न ब्लोफैल्ड (चु-चन्), बुद्धिस्ट सोसायटी, लन्दन, के लिए सिजविक एण्ड जैक्सन, १९४८।
दि ज़ेन् टीचिग्स ऑव हुइ-हाइ ऑन सडन अटेनमेण्ट	:	विषय पूर्ववत्। अनुवादक भी जोह्न ब्लोफैल्ड। प्रकाशक राइडर एण्ड कम्पनी, लन्दन।
दि सूत्र ऑव ४२ सैक्शन्स, एण्ड टू अदर स्क्रिप्चर्स ऑव दि महायान स्कूल	:	अग्रेजी अनुवादक जोह्न ब्लोफैल्ड (चु-चन्)। बुद्धिस्ट सोसायटी, लन्दन, १९४७।

१०१ ज़ेन् स्टोरीज़ : न्योजेन सेंज़ाकि तथा पॉल रैप्स द्वारा अनुवादित, डेविड मेके कम्पनी, फिलेडलफिया, १९४०।

अध्ययन-ग्रन्थ

केतन नुकारिया : दि रिलिजन ऑव दि समूराई, लुज़ाक एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९१३।

डी० टी० सुज़ुकी : स्टडीज़ इन दि लंकावतार-सूत्र, रटलेज एण्ड केगन पॉल, लन्दन, पुनर्मुद्रित, १९५६।
एसेज़ इन जेन् बुद्धिज्म, फर्स्ट सीरीज़, राइडर, लन्दन, १९५८।
एसेज इन ज़ेन् बुद्धिज्म, सैकिण्ड सीरीज़, राइडर, लन्दन, १९५८।
एसेज़ इन ज़ेन् बुद्धिज्म, थर्ड सीरीज़, राइडर, लन्दन, १९५३।
एन इण्ट्रोडक्शन टु ज़ेन् बुद्धिज्म, राइडर, लन्दन, १९४८।
मेनुअल ऑव ज़ेन् बुद्धिज़्म, राइडर, लन्दन, १९५०।
स्टडीज़ इन जेन्, राइडर, लन्दन, १९५०।
दि ट्रेनिंग ऑव दि जेन् बुद्धिस्ट मौंक, दि ईस्टर्न बुद्धिस्ट सोसायटी, क्योतो (जापान), १९३४।
जेन् एण्ड जापानीज़ बुद्धिज्म, जापान ट्रैविल ब्यूरो, तोक्यो, जापान, प्रथम सस्करण, १९५८।
लिविंग वाई ज़ेन्, सेन्सीदो पब्लिशिंग कम्पनी, तोक्यो, १९४९।
दि जेन डॉक्ट्रिन ऑव नो-माइण्ड, राइडर, लन्दन, १९४९।

रेहो मसुनगा · दि सोतो अप्रोच टु ज़ेन्, लेमैन बुद्धिस्ट सोसायटी प्रेस, तोक्यो।

एलन डब्ल्यू वाट्स · दि स्पिरिट ऑव जेन् (विज्डम ऑव दि ईस्ट सीरीज़), जोह्न मरे, लन्दन, पुनर्मुद्रित, १९४८।

दि वे ऑव जेन्, थेम्स एण्ड हडसन, लन्दन, द्वितीय आवृत्ति, १६५८।

क्रिसमस हम्फ्रेज : जेन बुद्धिज्म; हेनीमन, लन्दन, १६४६। इसी का 'अनविन बुक्स' मे भी संस्करण निकला है, लन्दन, १६६१।
जेन् कम्स वैस्ट; जार्ज एलिन एण्ड अनविन, लन्दन, १६६०।

न्योजेन सेंजाकि और आर० एस० मेकेण्डलेस : बुद्धिज्म एण्ड जेन्; फिलोसोफीकल लाइब्रेरी, न्यूयार्क, १६५३।

युग्-ह्सी (अंग्रेजी अनुवाद चाउ-ह्स्याग्-कुआंग् द्वारा) . बुद्धिज्म एण्ड दि छान् स्कूल ऑव चाइना; इण्डो-चाइनीज़ लिटरेचर पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, १६५६।

चाउ-ह्स्याग्-कुआग् : ध्यान बुद्धिज्म इन चाइना; इण्डो-चाइनीज़ लिटरेचर पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, १६६०।

वे-वू-वे फिंगर्स पोइंटिंग टू दि मून, रटलेज एण्ड केगन पॉल, लन्दन, १६५८।

मूल जर्मन लेखक कार्लफ्रीड ग्रफ वोन डरखीम, अंग्रेजी अनुवादक ईडा ओ' शील : दि जापानीज़ कल्ट ऑव ट्रैंक्विलिटी; राइडर एण्ड कम्पनी, लन्दन।

ओकाकुरा ककुज़ो . दि बुक ऑव टी; फोलिस, एडिनबरा, १६१६।

आर० एच० ब्लाइथ : ज़ेन् इन इगलिश लिटरेचर एण्ड ऑरियण्टल क्लासिक्स, होकुसीदो प्रेस, तोक्यो, १६४२।

जुजिरो तकाकुसु · दि एसेन्शियल्स ऑव बुद्धिस्ट फिलासफी; एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १६५६ (प्रथम भारतीय सस्करण) पृष्ठ १६०-१७३।

आनन्द कुमारस्वामी : बुद्ध एण्ड दि गोस्पल ऑव बुद्धिज्म; एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १६५६। पृष्ठ २५४-२५६।

ई० स्टेनिलवर-ओबरलिन : दि बुद्धिस्ट सैक्ट्स् ऑव जापान; जार्ज एलिन एण्ड अनविन, लन्दन, १९३८। पृष्ठ १२६-१८४

सर चार्ल्स इलियट : जापानीज़ बुद्धिज़्म; एडवर्ड आर्नल्ड, एण्ड कं० लन्दन, १९३५। पृष्ठ १६०-१७२-२८२-२८८; ३९६-४१५।

आर० सी० आर्मस्ट्रोंग : एन इण्ट्रोडक्शन टु जापानीज़ बुद्धिस्ट सैक्ट्स्, कनाडा, १९५०। पृष्ठ २६२-२९५।

ह्वाइट गोडर्ड (सम्पादक) : ए बुद्धिस्ट बाइबिल, परिवर्द्धित संस्करण; ई० पी० डटन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, १९५२। पृष्ठ ८५-३५६।

अनुक्रमणिका

य

